भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन

गोपीनाथ तिवारी

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली-६ पटना-६

आमुख

भरत मुनि का कथन है कि पंचम वेद अर्थात् नाट्यवेद की रचना स्वयं सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने चारों वेदों से चार तत्व लेकर की। ये चार तत्व हैं—पाठ्य, गीत, अभिनय और रस जो ऋग्, साम, यजुः और अथर्व से ग्रहण किये गये। पाठ्य का अर्थ है—जो पढ़ा जाय अर्थात् बोला जाय। नाटक में 'संवाद' बोले जाते हैं। अतः पाठ्य का अर्थ 'संवाद' किया गया है। नाटक उसे ही माना गया है जो संवादों के माध्यम से लिखा जाय अथवा अभिनय रूप में प्रकट किया जाय। अतः नाटक के चार तत्व हुए—संवाद, गीत, अभिनय और रस। संवाद करने वाले पात्र होते हैं जो किसी घटना अथवा कथा को दर्शकों के सामने रखते हैं। दशरूपककार ने 'संवाद' के इन्हीं दोनों तत्वों को ग्रहण कर 'रस' के साथ बिठाकर वस्तु, नेता (पात्र) एवं रस को नाटकों के मूल में प्रतिष्ठित किया। भरतमुनि का सम्बन्ध नाटकीय प्रयोग से था जिसे नाट्य संज्ञा दी गई। अतः उन्होंने 'संवादों' के साथ गीत, अभिनय और रस की भी प्रतिष्ठा की। दशरूपककार ने वस्तु और नेता को संवादों के रूप में स्वीकृति देकर नाटक रचना की ओर ध्यान रखा जिसके साथ रस की अनिवार्यता को भी समाविष्ट किया। दशरूपककार ने गीत और अभिनय की उपेक्षा की। इन दोनों का सम्बन्ध नाटकीय प्रदर्शन से है। रस का सम्बन्ध नाटककार, अभिनेता और प्रेक्षक तीनों से जोड़ा गया। आचार्यों ने इस सम्बन्ध में अपने-अपने विचार व्यक्त किये। नाटककार रस को सामने रखकर नाटक का निर्माण करता है। वह एक रस को प्रधानता देकर दूसरे रसों को उसका अंग बना देता है। अब प्रश्न उठा—रस की अवस्थिति किस में मानी जाय? मूल व्यक्तियों में, अभिनयकर्त्ताओं में अथवा प्रेक्षकों में। आचार्य भट्टलोल्लट ने मूल पात्र में रस को स्वीकार किया तो आचार्य शंकुक ने अभिनेता में, आचार्य भट्टनायक ने दर्शक में रस को माना जिस पर आचार्य अभिनवगुप्त ने मुहर लगायी और सदा-सर्वदा के लिये इस विवाद को समाप्त कर दिया। फलतः रस का सम्बन्ध प्रेक्षक से स्थापित हो गया किन्तु इसमें प्रधान सहयोग नट का मानना ही पड़ता है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में वस्तु, नेता, रस, गीत और अभिनय को नाटकीय तत्वों के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। पश्चिम में वस्तु, नेता (पात्र) एवं अभिनय को ही स्थान

मिला, गीत एवं रस को नही। इनके स्थान पर सवाद, भाषा शैली एवं उद्देश्य को सम्मिलित किया गया। इनमें प्रधानता रही वस्तु एवं पात्र की। भारत मे केवल सुखान्त नाटकों को प्रश्रय मिला तो पश्चिम में त्रासदियों को श्रेष्ठ माना गया। वहाँ काल, समय और कार्य-अन्वितियों को भी बहुत समय तक गौरवपूर्ण पद प्राप्त रहा जो अभी नाट्यशास्त्र के क्षेत्र में अवश्य चर्चित रहती है।

हिन्दी नाटक जगत मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को कई दृष्टियों से महत्व प्राप्त है। (१) वे हिन्दी नाटक के जनक माने गये हैं। इनसे पूर्व के नाटक ब्रजभाषा *के काव्यनाटक ही है। (२) भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने प्रथम मौलिक "नाटक"* नामक नाट्यशास्त्रीय आलोचना लिखी जिसमें उनका भारतीय एव पश्चिमी नाट्यशास्त्र का अध्ययन निहित है। (३) इन दोनों प्रकार के नाट्यशास्त्रों के उदाहरणस्वरूप उन्होंने *सस्कृत तथा अग्रेजी नाटकों* मे अनुवाद प्रस्तुत किये और दोनो नाट्यशास्त्रों को दृष्टि मे रखकर मौलिक नाटक भी रचे। 'मुद्राराक्षस,' *'पाखड विडम्बन' नाटक संस्कृत से अनूदित है तो 'दुर्लभ बन्धु'* अग्रेजी से। 'चन्द्रावली' मे नाटिका के लक्षण प्राप्त हैं 'विषस्यविषमौषधम्' मे भाण के और 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे नाटक के। 'नीलदेवी' उनकी पश्चिमी शैली की सफल त्रासदी है। (४) काव्य और अभिनय दोनों का सुन्दर सामंजस्य करने मे सक्षम भारतेन्दुजी हिन्दी के शीर्षस्थ नाटककार हैं जो स्वय कुशल अभिनेता थे और जिनके प्राय. सभी मौलिक नाटक अभिनेय हैं। दूसरा प्रमाण है कि इन नाटको मे अभिनय-गुण भरे पड़े हैं एव इनका अभिनय स्थान-स्थान पर हुआ भी। 'चन्द्रावली नाटिका' रास शैली की अभिनेय नाटिका है जिसके अभिनय-उद्योग में वे लगे थे। कुमारावस्था से मृत्युपर्यन्त जो अभिनय मे सक्रिय सहयोग देता रहा हो, क्यों न उसके नाटक अभिनेय बनेंगे। हाँ, यह बात दूसरी है कि वे तत्कालीन मच को दृष्टि मे रखकर निर्मित हुए थे जो स्वाभाविक है। प्रत्येक नाटककार अपने युग के रगमंच को ही देख सकता है, भावी रगस्थली को नही। उस समय दीर्घ कथनो को श्रोता चाव से सुनते थे। अभिनय की इस विद्यमानता के बावजूद एक आलोचक अपनी कल्पनात्मक रगस्थली पर भारतेन्दु जी के रगस्थ और अभिनयसिद्ध नाटको को ऊँचे फन्दे मे लटका कर जो कुछ कहते है उसके कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत है—

"रंगमचीय दृष्टि से 'धनजय विजय' नाटक भारतेन्दुजी का असफल प्रयास कहा जा सकता है।" 'धनजय विजय' भारतेन्दुजी का अनूदित नाटक है यह ध्यान मे नही रखा गया है। दूसरी ओर अनूदित नाटक 'पाखंड विडम्बन' मे आपको रगमचीय गरिमा मिल गई है। आपको 'विषस्य विषमौषधम्' मे अभिनय की न्यूनता खोजने पर मिली है तो 'वैदिकी हिंसा' मे अभिनेय की भरपूर

गरिमा प्राप्त हुई है।[1] किन्तु भूल मालूम हुई और तुरन्त आपने फतवा दिया कि इसमें अभिनय कला नहीं, केवल मनोरंजन है। साथ ही भारतेन्दुजी की अभिनय कला में अश्लीलत्व दोष भी छिपा दिखाई दिया है।[2]

जैसा कि हमने ऊपर दिखाया है, भारतेन्दुजी को भारतीय तथा पश्चिमी नाट्य-शास्त्रों एवं नाट्य कला का भरपूर ज्ञान था जिसका उपयोग उन्होंने अपने नाटकों में किया। हाँ, उन्होंने *नाट्यशास्त्र का अनुगमन विवेक के साथ किया* है तथा उन नियमों की उपेक्षा भी की है जो उस समय तक आते-आते घिस-पिटकर संशोधित हो गये थे अथवा युग परिवर्तन के अनुरोध पर विलुप्त से हो गये थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा—

"नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी। नाट्यकला कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती।...अब नाटक में कहीं आशी: प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन, कहीं संफेट, कहीं पंचसंधि वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरतजी जो सब नियम लिख गये हैं उनमें जो हिन्दी नाटक रचना के नितान्त उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं वे ही यहाँ प्रकाशित होते हैं।"

भारतेन्दुजी ने यहाँ आशी:, प्रकरी संधि आदि का विरोध किया है किन्तु उन्होंने नाटकों में आशी: का प्रयोग किया है। उनके नाटकों में प्रकरी है और संधियाँ भी। इसके कारण हैं—(१) उन्होंने उदाहरण के लिए कुछ नियम रखे हैं किन्तु इनका प्रयोग सुविधा तथा आवश्यकता पर छोड़ दिया है। उनका मत है कि इन नियमों को देखकर ही नाटक रचना न की जाय। जिसका अर्थ है, ये प्रयुक्त हो सकते हैं किन्तु इनमें बंधना नहीं चाहिए। आगे उन्होंने भाण, प्रहसन, नाटक के लक्षण देकर उदाहरणों में अपने नाटकों को स्थान दिया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि उन्होंने शास्त्रीय नियमानुसार नाटकों की रचना की है, हाँ यदि कोई नियम आवश्यक नहीं जँचा है तो उसकी उपेक्षा की है। भली प्रकार बंधे नाटकों में संधियाँ आ गई हैं क्योंकि शास्त्रीय नियमों का ध्यान तो

१. भारतेन्दु का नाट्यसाहित्य, पृ० १६८
२. वही, पृ० १६६

था ही। इसी प्रकार कुछ संध्यंग भी रखने आ गये हैं। (२) दूसरा कारण है कि यह निबन्ध जब लिखा गया था तब तक नाटकों का निर्माण हो चुका था। उन्होंने पहिले शास्त्रीय लक्षणों को ध्यान में रखकर नाटकों की रचना की। पुन धीरे-धीरे विचार बना कि सभी नियमों के पालन की आवश्यकता नहीं है और १८८२ में उन्होंने यह 'नाटक' नामक निबन्ध लिखा। अतः उनके नाटकों में शास्त्रीय नियमों का पालन मिलता है। तब भी दो एक आलोचकों ने भारतेन्दुजी में नाट्यशास्त्र सम्बन्धी मोटे दोष ढूंढे हैं जो भारतेन्दुजी के नाटकों में नहीं हैं, आलोचकों की काली स्याही में आ छिपे हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

एक आलोचक महोदय ने 'विषस्य विषमौषधम' को प्रहसन माना है जबकि भारतेन्दुजी ने स्वयं उसे भाण संज्ञा प्रदान की है। आपका मत है कि भारतेन्दु जी ने नाटकों में 'रस' को वैसा स्थान नहीं दिया जैसा संस्कृत नाटकों में प्राप्त होता है। आपने 'धनंजय विजय' के नायक को धीरोद्धत भी बताया है और धीर प्रशान्त भी। एक दूसरे आलोचक महोदय का मत है कि 'चन्द्रावली नाटिका' एकांकी है तो दूसरे का कथन है कि इसमें न तो भारतीय नाट्यशास्त्र का अनुगमन किया गया है और न पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का। एक ओर एक आलोचक द्वारा 'मुद्राराक्षस' में कार्य और काल की अन्वितियाँ देखी गई हैं तो दूसरी ओर मुद्राराक्षस में चित्रित युद्ध और हत्या के दृश्यों को सदोष स्वीकारा गया है क्योंकि ऐसे चित्र भारतीय नाट्यशास्त्र के विपरीत हैं। अवश्य ही भारतीय नाट्यशास्त्र युद्ध एवं हत्या के दृश्यों के चित्रण को वर्जित ठहराता है किन्तु 'मुद्राराक्षस' में ये चित्र अंकित नहीं हैं, पात्रों द्वारा वर्णित हैं और पात्रों द्वारा वर्णन की शैली संस्कृत नाटकों में बराबर प्राप्त होती है।

भारतेन्दुजी के अध्ययन तथा इन विद्वानों की प्रेरणा स्वरूप यह ग्रन्थ निर्मित हुआ। फलतः इन सबके प्रति मैं आभारी हूँ।

—गोपीनाथ तिवारी

अनुक्रम

१

पूर्व-भारतेन्दु-युगीन नाटक
(१६१० से १८६७ ई०)

भारतेन्दुजी के नाटकों में कविता को प्रधानता प्राप्त है। हम कह सकते है कि भारतेन्दुजी प्रधानतः कवि थे, अतः ऐसा हुआ है। किन्तु इसका एक कारण और भी है जो महत्वपूर्ण है। वह है भारतेन्दु-पूर्व के प्रायः सभी नाटक कविता से बोझिल थे। हम इन्हें काव्य-नाटक ही कहेंगे। कुछ आलोचकों का मत है कि ये नाटक नहीं, काव्य हैं। कुछ ने कहा—हम इन्हें नाटकीय काव्य कह सकते हैं। ये केवल काव्य नहीं हैं, वरन् काव्य-नाटक हैं। इनमें काव्य को अत्यधिक स्थान प्राप्त है। कुछ में गद्य है ही नहीं। तब भी ये नाटक हैं। हाँ, कालिदास-भवभूति की साहित्य-नाटक की शैली इनमें नहीं अपनाई गई है वरन् ग्रहण की गई है जन-नाट्य शैली जिसका दर्शन संस्कृत के हनुमन्नाटक में होता है और जो साहित्यिक नाटकों के साथ-साथ प्रचलित रही है। रासलीला, रामलीला, यात्रा, स्वांग, नौटंकी, ललित, गोंधल, कूतु आदि रूपों में यही नाट्य-शैली स्थान पाती रही है।[1] इस नाट्य-शैली में कवि स्वयं रंगमंच पर उपस्थित रहता है और कथा को अग्रसर करता है या पात्र का परिचय देता है जैसाकि यूनानी नाटकों में कोरस का काम था अथवा पुराने मराठी नाटकों में सूत्रधार रंगमंच पर उपस्थित रहकर कार्य करता था। ये नाटक नाटकीय काव्य भी नहीं कहला सकते हैं क्योंकि नाटकीय काव्य में काव्य को प्रधानता है। रामचरितमानस नाटकीय काव्य कहा जा सकता है। काव्य-नाटक से अभिप्राय होता है, नाटक जो काव्य-सम्पन्न हैं। भारतेन्दु-पूर्व के दो-चार को छोड़ कर शेष सभी नाटक ब्रजभाषा के हैं। इसी परम्परा में शृंखलित है, भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों के नाटक जो कविता एवं संगीत से अनुस्यूत हैं। भारतेन्दु-पूर्व नाटकों की दो परम्पराएँ हैं—मौलिक तथा अनूदित।

१. भारतेन्दु-कालीन नाटक-साहित्य, प्रथम खंड, अ० १

मौलिक परम्परा

मौलिक नाटकों में अग्रणी है प्राणचन्द्र चौहान-कृत रामायण महानाटक (र० का० १६१० ई०)। यहीं से ब्रजभाषा काव्य-नाटकों का सूत्रपात होता है। रामायण महानाटक की रचना रामचरितमानस की दोहा-चौपाई शैली में हुई है। इस नाटक में आरम्भ से अन्त तक पद्य प्रयोग ही लक्षित होता है और गद्य भूलकर भी दर्शन नहीं देता है। इस नाटक का प्रणयन संभवतः रामलीला खेलने के लिए हुआ था यद्यपि कवि का यह भी उद्देश्य था कि इस नाटक को सुना और पढ़ा भी जाय जैसाकि उसके कथन से सिद्ध है—

रामचरित जो कहै बखाना,
बाढ़ै धर्म पाप होय हाना।
अरु जो सुनै श्रवन चित लाई,
सो जमपुर के निकट न जाई।

इस युग का दूसरा महत्त्वपूर्ण मौलिक नाटक है कृष्णजीवन लछिराम कृत करुणाभरण (र० का० १६५७ ई०)। इस नाटक से सिद्ध है कि प्रबधात्मक शैली के ये काव्य नाटक अभिनेय थे और अभिनीत हुए थे। नाटककार कहता है कि इस नाटक का निर्माण मित्रों के आग्रह पर नाटक खेलने के लिए किया गया था। यह नृत्य-प्रधान नाटक दर्शकों को बड़ा सुखप्रद प्रमाणित हुआ। नाटककार कहता है—

लछिराम नाटक कियो दीनो गुनिन पढाय।
भेष रेष नर्तन निपुन लाये नर निम धाय॥
सुहृद मडली जोरि तहाँ कीनो बडो समाज।
जो उनि नाच्यो सो कह्यो कविता मे सुष साज॥

शृंगार एवं करुण रस सिंचित इस नाटक के अकों का नाम, संस्कृत प्रणाली पर राधा अवस्था अक (प्रथम अक), सत्याभामा अवस्था अक (तृतीय अक), नित्य विहार अक (छठा अंक) आदि, रखा गया है। यह नाटक सरस है जिसमे सुन्दर हास्यात्मक और ऊहात्मक उक्तियाँ प्राप्त हैं। नाटककार ने राधा, और रुक्मिणी मे सौतिया द्वेष न दिखाकर सख्यभाव दिखाया है। इस नाटक के पहाडी शैली के १७ चित्र प्राप्त हुए हैं जो नाटक की लोकप्रियता का प्रमाण है।

उदय-कृत रामकरणाकर नाटक (र० का० १८४० से पूर्व) लछिराम के करुणाभरण नाटक की नाईं करुण रस से पूर्ण है। लक्ष्मण के शक्तिबाण लगने

पर राम का करुण विलाप अत्यन्त हृदयद्रावक है। उदय कवि ने इसे नन्ददास के भँवरगीत की शैली अपनाई है। उदय कवि-कृत हनुमान नाटक भी इसी शैली में लिखा गया है जिसमें सीता-खोज-प्रसंग ग्रहण किया गया है। दोनों नाटकों में रामचरितमानस का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है।

गुरु गोविन्दसिंह-कृत चंडी-चरित्र वीर रस-सम्पन्न नाटक है जो ओजमय चारण शैली में लिखा गया है। नाटक में दुर्गासप्तशती में वर्णित चंडी-चरित्र को अपनाया गया है। कथा बहुत गुंफित नहीं है। कवि का ध्यान चंडी के राक्षसनाशक अलौकिक चरित्र पर टिका रहता है। कवि-कुशल मिश्र ने पृथ्वी पर गंगावतरण की कथा अपनाकर 'गंगा नाटक' (१७७६ ई०) निर्मित किया। ब्रजभाषा के इन पौराणिक नाटकों में रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंहजी-कृत आनंद रघुनंदन नाटक का स्थान विशिष्ट है। आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। यद्यपि अन्य ब्रजभाषा नाटकों की भाईं यह भी कविता-आक्रान्त नाटक है, तदपि इसमें कुछ गद्य भी है और रंग-संकेत भी प्राप्त होते हैं, यद्यपि वे संस्कृत में दिये गए हैं। इस नाटक में कुछ विचित्रताएँ भी प्राप्त होती हैं—(१) नाटक में राम के राज्याभिषेक के अवसर पर अप्सराएँ अंग्रेजी और अरबी में गीत गाती हैं, (२) इसी अवसर पर अप्सराएँ नायिका-भेद भी वर्णित करती हैं, (३) पात्रों के नाम भी विचित्र हैं। हनुमान का नाम श्वेतामल्ल है तो लक्ष्मण का है डील धराधर, राम को 'हितकारी' नाम प्रदान किया गया है तो भरत को 'डहडहकारी'। कैकेयी यहाँ काश्मीरी है तो ताड़का है 'घातिनी'। नाटक का अंगी रस वीर ही माना जाएगा। सात अंकों में राम-जन्म से लेकर रावण-वधोपरान्त राज्यारोहण तक की कथा अत्यन्त वेग से दौड़ती है। फलतः कथा की शृंखला पुष्ट और गुंफित नहीं हो पाई है।

संस्कृत में प्रबोध चन्द्रोदय नाटक को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। यह नाटक यद्यपि प्रथम कोटि के नाटकों में नहीं गिना गया है किन्तु यह प्रसिद्ध हुआ है, विशेषतया पूर्व-भारतेन्दु तथा भारतेन्दु काल में इसने कवियों एवं नाटककारों को बहुत प्रभावित किया है। महाकवि केशव की विज्ञान गीता पर इसका प्रभाव स्पष्ट है। कुछ महानुभावों ने संवाद-प्रधान शैली में देखकर इसे नाटक मान लिया है किन्तु इस काव्य-पुस्तक का नाम तथा इसमें योगवासिष्ट, पद्म-पुराण, स्कन्द पुराण, अग्नि पुराण, भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत आदि से पुष्टि में गृहीत श्लोक यह साक्ष्य दे देते हैं कि यह काव्य-ग्रंथ है, नाटक नहीं है। देव कवि का देवमाया-प्रपंच भी प्रबोध चन्द्रोदय की शैली पर लिखा काव्य-ग्रंथ है, नाटक नहीं। प्रबोध चन्द्रोदय की शैली को अपनाकर कुछ मौलिक तथा अनेक अनूदित नाटकों का निर्माण हुआ। आनंद रघुनंदन नाटक के रचयिता महाराज विश्वनाथसिंहजी के पुत्र युवराज रघुराजसिंहजी ने

इसी शैली पर परमप्रबोधविधु नाटक लिखा जिसका तिलक १८४७ ई० में महाराज विश्वनाथसिंहजी ने लिखा तथा जिसका अभिनय रामप्रसाद द्वारा सम्पन्न हुआ।

रघराम नागर-कृत सभासार (१७०० ई०) को भी नाटक मान लिया गया है किन्तु जिसमें नाटक की मूल नींव—एक शृंखलित कथा भी न हो उसे कैसे नाटक नाम का अधिकारी कहा जा सकता है। ब्रजभाषा काव्य-नाटकों की परम्परा में भारतेन्दुजी के पिता गिरिधरदास-कृत नहुष नाटक (१८५७ ई०) सबसे अधिक उल्लेख्य नाटक है। भारतेन्दुजी ने इसे हिन्दी का प्रथम नाटक मानते हुए कहा है "विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नियम रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य चरण श्री कविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम गोपालचन्द्रजी) का है।"[1] शैली की दृष्टि से यह ब्रजभाषा के अन्य काव्य-नाटकों से बहुत भिन्न नहीं है क्योंकि इसमें कवि ही कथा को अग्रसर करता है एवं पात्रों का परिचय देता है किन्तु ब्रजभाषा के अन्य नाटकों से नाटककार की दृष्टि भिन्न है। प्रथम बार इस नाटक में निम्न जातीय राजा जो उदात्त एवं आदर्श नहीं है नाट्य रूप में स्थान पाता है। नाटक का नायक कौन है यह प्रश्न उठता है। बृहस्पति आरम्भ से अन्त तक कथा को अग्रसर करता है और सारा नाटक बृहस्पति के कार्यों से ही बुना हुआ है। किन्तु वह नायक नहीं है। नाटककार ने इन्द्र को अन्त में राज्य तथा पत्नी रूपी फल का भोक्ता बना दिया है किन्तु नायकत्व उद्धत नायक नहुष को प्रदान किया है। वह इन्द्रासन तथा इन्द्राणी को प्राप्त करता है और बृहस्पति की योजना से अनभिज्ञ होकर दोनों को खो देता है। साथ ही सर्प की गति पाता है। देखा जाय तो नाटक दुखांत है किन्तु अन्त में नाटककार नहुष को स्वर्ग जाते हुए दिखाकर इस दुखांतता की समाप्ति कर देता है। नहुष नाम रखकर नाटककार घोषणा कर देता है कि मैं नहुष को नायकत्व प्रदान कर रहा हूँ। भारतीय नाट्य-परम्परा से हटकर नाम रखने में तथा दुखांत अवस्था लाने में पश्चिमी दृष्टिकोण का हाथ साफ दिखाई पड़ता है जो भारतेन्दु जी में अधिक स्पष्टता से लक्षित है। नाटककार प्रस्तावना में ही कह देता है कि मैं नहुष को नायक बनाने जा रहा हूँ। वह कहता है—

जा विधि राजा नहुष ने कियो स्वर्ग को राज।
सो नाटक चाहत करन हुकुम दियो महाराज॥

इस नाटक में खड़ी बोली का प्रयोग बहुत कम है। गद्य भी यत्र-तत्र दर्शन देता है किन्तु अधिक मात्रा में नहीं। हरिराम-कृत जानकी चरित नाटक और लक्ष्मणशरण मधुकर-कृत रामलीला विहार नाटक में गद्य और खड़ी बोली का प्रयोग अधिक है।

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, प्रथम खण्ड (सं० ब्रजरत्नदास), पृ० ७४२

इन नाटकों को भारतेन्दुजी से जोड़ने वाली महत्त्वपूर्ण कड़ी है 'अमानत' का इन्दर सभा नाटक (१८५३ ई०) जो काव्य-नाटक ही है जिसने उत्तरी भारत के भावी रंगमंच तथा हिन्दी नाटकों को अत्यधिक प्रभावित किया, यहाँ तक कि भारतेन्दुजी भी इसकी बुराई करते हुए इसके प्रभाव से अछूते न रहे और चन्द्रावली की योगिन (कृष्ण का छद्मवेश) इन्दर सभा शैली में अपने रूप की प्रशंसा करती है। प्रधानतया इस नाटक की भाषा उर्दू है किन्तु हिन्दी शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त है। सरल उर्दू और हिन्दी में लिपि मात्र का भेद होता है। जब कोई शायर फारसी वर्ण-माला में अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोगाधिक्य को अपनाता है तो उसे हम उर्दू कहते हैं। देवनागरी वर्णमाला में सरल शब्दों में वही शायर, फारसी-संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों के साथ कविता लिखता है तो वह हिन्दी ही है। कबीर और रहीम इसके उदाहरण हैं। अमानत ने इन्दर सभा में उर्दू (फारसी-अरबी) शब्दों का अधिक प्रयोग किया है और वर्णमाला-रूप में फारसी (जो वास्तव में अरबी वर्णमाला है) का प्रयोग किया है, अतः हम उसे उर्दू कह देते हैं। उसमें हिन्दी शब्दों का प्रयोग कम नहीं है, लगभग १५-२० प्रतिशत है। अतः इस नाटक को हिन्दी नाटक-साहित्य में स्थान मिला है। इन्दर सभा गीति नाटक है जिसके अनुकरण पर अनेक गीति नाटकों का निर्माण हुआ। मदारीलाल कृत इन्द्रसभा तथा नाटक छैल बटाऊ मोहना रानी (१८५४ ई०) का निर्माण हुआ।

अनूदित नाटक

पूर्व-भारतेन्दु युग में अनूदित नाटकों की भी बहुलता है। इनमें से दो-एक को छोड़कर शेष ब्रजभाषा में लिखे काव्य-नाटक ही हैं और नाम के अनुवाद हैं, नहीं तो कवियों ने मनचाहा परिवर्तन किया है। यह परिवर्तन पात्रों की दृष्टि से कम, कथा की दृष्टि से कुछ अधिक, एवं शैली तथा विषय की दृष्टि से अत्यधिक है। इनमें सबसे प्राचीन है बनारसीदास जैन का समय-सार नाटक (१६३६ ई०)। इसे कुछ ने मौलिक माना[1], तो कुछ ने अनुवाद स्वीकारा[2]। प्रसिद्ध जैन मुनि कुन्द कुन्दाचार्य के आध्यात्मिक ग्रंथ समयपाहुड की मुनि अमृतचन्द ने 'आत्मख्याति' नामक टीका लिखी। 'समयपाहुड' या समय-सार पद्यात्मक ग्रंथ था जिसमें छन्दों की संख्या ४७४ थी। मुनि अमृतचन्द ने

---

१. पूर्व-भारतेन्दु नाटक साहित्य, पृ० ३४

२. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—दशरथ ओझा, पृ० १५७
हिन्दी नाट्य-साहित्य : बाबू रत्नदास, पृ० ६०

इसकी व्याख्या को नाटक का रूप दिया और छन्द संख्या को ५६७ कर दिया।[1] बनारसीदास का कथन है कि "मैं अपने ग्रंथ—समयसार नाटक—की रचना कुन्द कुन्दाचार्य एवं अमृतचन्द के आधार पर निर्मित राजमल्ल की टीका सामने रखकर कर रहा हूँ, जो मुझे अरथमल ढोर से प्राप्त हुई थी।"[2] 'समयसार' में बनारसीदास ने अमृतचन्द की छन्द-संख्या को ५६७ से ७२७ तक पहुँचा दिया। अमृतचन्द के ग्रंथ 'समयसार नाटक' में नाटकीय रूप प्रयुक्त था, कवि बनारसीदास ने उस नाटकीय रूप को हटाकर अपने समयसार को पद्यात्मक रूप दिया जो कुन्द कुन्दाचार्य के पद्यात्मक कविता-ग्रंथ 'समयपाहुड' के समान है। 'समयसार' नाटक नहीं है क्योंकि इसमें नाटक की आधारशिला एक शृंखलाबद्ध कथा का ही सर्वथा अभाव है। तब बनारसीदास ने इसका नाम 'समयसार नाटक' क्यों रखा है? केवल अमृतचन्द के समयसार 'नाटक' के नामकरण के अनुकरण पर कविता-ग्रंथ को 'समयसार नाटक' नाम दिया गया है जबकि अमृतचन्द-कृत 'समयसार नाटक' की नाटकीय शैली—अंक-विभाजन, पात्र-प्रवेश, पात्र-निष्क्रमण, संवाद-प्रवाह तथा कथा—प्रयुक्त नहीं है। चूंकि कवि ने इसे नाटक नाम दे दिया था, अतः हिन्दी नाट्य-साहित्य में भी भ्रमवश इसे नाटक कह कर स्थान दिया गया। वास्तविक बात तो यह है कि न तो यह काव्य-नाटक है और न नाटकीय काव्य। 'समयसार नाटक' नाम को देखकर ही रघुनाथ नागर ने अपने नीतिपरक काव्य-ग्रंथ का नाम 'सभासार नाटक' रख दिया जो समयसार के समान नाटक नहीं है, यह हम पीछे दिखा चुके हैं।

भारतेन्दु-पूर्व युग में हनुमन्नाटक के कई अनुवाद हुए। ये नाम के अनुवाद हैं, अन्यथा इनमें कवियों ने स्वतन्त्र मार्ग ग्रहण किया है। हाँ, संस्कृत नाटक को सामने रखा है। स्थान-स्थान पर उक्तियों का अनुवाद है, कथा और पात्र भी संस्कृत नाटक के हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है, हृदयराम भल्ला-कृत हनुमन्नाटक (१६२३ ई०) को जिसमें कवि का 'राम' नाम छन्दों में प्रयुक्त है। प० रामचन्द्र शुक्ल[3] तथा डा० सोमनाथ[4] ने 'राम'-कृत एक और हनुमन्नाटक माना है। किसी पाडुलिपि पर हृदयराम का नाम

---

१. (क) कुन्दकुन्द मुनि मूल उधरता। अमृतचन्द टीका के करता॥
(ख) कुन्द कुन्दाचारज प्रथम गाथ बद्ध करि समेसार नाटक विचारि नाम दयो है
—समयसार नाटक

२. तब तहाँ मिले अरथमल ढोर। करै अध्यातम बातें जोर॥
तिनि बनारसी सौं हित कियो। समयसार नाटक लिखि दियो॥
राजमल ने टीका करी। सो पोथी तिनि आगे धरी। —समयसार ५६१-५६४

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २०६-२०७

४. पूर्व भारतेन्दु नाटक-साहित्य, पृ० ११

न होकर केवल 'राम' शब्द का ही छन्दों में प्रयोग देखकर यह मत बनाया गया होगा, ऐसी संभावना अधिक है। हृदयराम के हनुमन्नाटक में 'काशीराम' के भी छन्द प्राप्त होते हैं। यह कोई अन्य कवि प्रतीत होता है जिसने इस नाटक में कुछ छन्द अपने भरे हैं। परशुराम प्रसंग के अधिकांश छन्द काशीराम-कृत हैं। हृदयराम-कृत हनुमन्नाटक में संस्कृत नाटक के समान १४ ही अंक हैं किन्तु छन्द संख्या बहुत बड़ी-बड़ी (१४६३) है। संस्कृत हनुमन्नाटक में कहीं-कहीं कवि स्वयं मंच पर आकर कथा को अग्रसर करता है अथवा पात्र का परिचय देता है किन्तु हृदयराम-कृत हनुमन्नाटक तो अन्य ब्रजभाषा नाटकों की नाईं आरम्भ से अन्त तक कवि द्वारा प्रवाहित है। अनेक स्थलों पर संस्कृत हनुमन्नाटक की उक्तियों के अनुवाद भी रखे गये हैं। बलभद्र मिश्र-कृत[1] तथा मंजु कवि-कृत[2] दो हनुमन्नाटक और बताये जाते हैं,[3] किन्तु इनकी प्राप्ति नहीं हुई है। अतः यह कहना कठिन है कि ये किस प्रकार के अनूदित नाटक थे किन्तु जैसाकि अन्य ब्रजभाषा नाटकों को देखने से ज्ञात होता है ये भी हृदयराम-कृत हनुमन्नाटक की शैली के ही रहे होंगे। चौथा नाटक जगजीवन-कृत है जो अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर में है और जिसमें ६ अंक है। यह भी जननाट्य शैली का नाटक है।

इस काल में महाकवि कालिदास-कृत अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के तीन अनुवाद प्राप्त होते हैं। इनमें से एक है नेवाज कवि-कृत 'शकुन्तला नाटक' (१६८० ई०)। नेवाज-कृत शकुन्तला नाटक एवं महाकवि कालिदास-कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में बड़ा अन्तर है, फलतः नेवाज-कृत शकुन्तला नाटक को हम मूल नाटक का अनुवाद मात्र ही नहीं कह सकते हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में सात अंक हैं और नेवाज-कृत शकुन्तला नाटक में केवल चार। कथा-क्रम में भी बड़ा अन्तर है। संस्कृत नाटक में दुष्यन्त को शकुन्तला की सखियाँ शकुन्तला-जन्म का प्रसंग बड़े ही संक्षेप में सुनाती हैं, केवल छः-सात पंक्तियों में ही महाकवि ने काम चला लिया है। नेवाज ने इसी प्रसंग को नाटक के प्रारम्भ में बड़े विस्तार से उठाया है और स्वयं वर्णन किया है। अन्य अंकों में भी काट-छाँट की गयी है। फलतः नेवाज ने कथानक को अल्प रूप दिया है। छठें अंक की कथा को कवि ने अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है कि मूल नाटक का काव्य एवं नाटकीय सौन्दर्य अत्यन्त क्षीण हो गया है। मूल नाटक में इन्द्र के सारथी मातलि का प्रवेश बड़ा ही नाटकीय है। वह विदूषक का गला दबोचता है, विदूषक आर्तनाद कर चिल्लाता है, तो नायक उसे बचाने के

---

१. अंक १ के ८० से १०६ तक

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास (ले० पं० रामचन्द्र शुक्ल), छठा संस्करण, पृ० २०६

३. आधुनिक हिन्दी साहित्य (ले० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), प्र० सं०, पृ० १०८

लिए जाता है। इस प्रकार मातलि से भेंट होती है। अनुवाद में कवि कहता है :

चोवदार नृप सों कह्यो, महाराज मघवान।
भेज्यो मातलि सारथी, त्यायो ललित बेवान॥
सुनतहिं राजा तुरत बोलायो, मातलि राजा के ढिग आयो।
मातलि कियो प्रनामु तब पूछन लग्यो नरेस।
कहो कुसल सो रहत है, सबकें सुपद नरेस॥

नेवाज ने अंकों की सख्या को घटाकर चार कर दिया है। चार अंकों को तरंग की भी सज्ञा प्राप्त होती है।[1]

धोकल मिश्र-कृत शकुन्तला नाटक (१७६६) नेवाज से अधिक सुन्दर अनुवाद है। नाटककार ने मूल के सात अंक रखे हैं तथा पद्य के साथ गद्य को भी स्थान दिया है जो खडी बोली मे है। शाब्दिक अनुवाद की प्रधानता है। कवि, नाटक मे वर्णन करता है तथा कथा को अग्रसर करता है। नाटककार ने स्वतन्त्रता भी बरती है और मूल से भिन्नता स्थापित की है जिसकी मात्रा अधिक नही है, शकुन्तला वन वर्णन (अंक १), शकुन्तला वर्णन (अंक ४), दुष्यन्त-शकुन्तला का संयोग वर्णन (३-१४२) आदि ऐसे ही उदाहरण हैं जहाँ कवि मूल से हटकर अपना मार्ग अलग बनाता है।

तीसरा अनुवाद है राजा लक्ष्मणसिंह-कृत शकुन्तला नाटक (१८६३ ई०)। यह गद्यात्मक अनुवाद था जो २४ वर्ष बाद गद्य-पद्य रूप लेकर प्रकाशित हुआ।

प्रबोध चन्द्रोदय नाटक का संस्कृत साहित्य मे तो मान था ही, भारतेन्दुकाल एव उसके पूर्वयुग मे भी इस नाटक को बहुत मान मिला। हम पीछे लिख आये हैं कि देवमाया प्रपच एव परमप्रबोध विघु नाटक, प्रबोध चन्द्रोदय के अनुकरण पर ही लिखे गये थे। भारतेन्दुजी का पाखडविडम्बन भी प्रबोध चन्द्रोदय का आशिक अनुवाद है। भारतेन्दु युग मे भवदेव दूबे ने भी प्रबोध चन्द्रोदय का अनुवाद किया जिसकी भाषा अत्यन्त भ्रष्ट है। भारतेन्दु-पूर्व युग मे प्रबोध चन्द्रोदय के १० अनुवाद एवं छायानुवाद हुए जिनके रचयिता हैं—महाराज यशवन्तसिंह, अनाथदास, सुरति मिश्र, व्रजवासीदास, कविवर आनन्द, गुलाब सिंह, नानकदास, घोकल मिश्र, हरिवल्लभ और जन अनन्य। अनाथदासजी अपने अनूदित नाटक के विषय मे कहते हैं—

बोधचन्द्र के उदय को, नाटक सरस सुग्रन्थ।
तेहि छाया भाषा करी, प्रकट मुक्ति को पन्थ।
सब ग्रन्थन को अर्थ ले, कहौ ग्रन्थ अभिराम।
सतगुर पद सिर नाय कैं, बरणौ तिनके नाम।

---

१. काशीराज पुस्तकालय मे प्राप्त शकुन्तला उपाख्यान।

कछुक रीति वासिष्ठ की, कछु गीता की उक्ति।
कछु-कछु अष्टावक्र पुनि, कहीं वेद की उक्ति।
कहीं भागवत को मतो, कहीं सन्त अनुमान।
सुलभ किये सब जगत को, जानो सन्त सुजान।
कहुँ भारत कहुँ सांख्य मत, कहुँ अपनो अनुमान।
सुलभ किये सब नरन को, जानो जान अजान।

o o o

नवरस हैं या ग्रन्थ मों, प्रथम कहौं तिन नाम।
पर यह सन्तन आदरें, शान्त रासि निष्काम।
प्रथम शृंगार, हास्य पुनि, करुणा रौद्र बखान।
वीर वीभत्स भयानका, शान्त अद्भुत परमान।
सब रस हैं यह ग्रन्थ मों, अल्प-अल्प विस्तार।
शान्त सरस इसमों भर्यो, आदि अन्त निरधार।
अज्ञहिं प्रति उपदेश नहिं, तज्ञहिं नहिं भ्रमलेश।
जिज्ञासी प्रति गुरु कह्यो, सर्वसार उपदेश।

इस पुस्तक मे २५ अध्याय हैं जबकि मूल नाटक में ६ अंक ही हैं। इससे स्पष्ट है कि अनाथदास-कृत हिन्दी नाटक, मूल का अनुवाद मात्र नहीं है। इसी प्रकार महाराज जसवन्तसिंह ने मूल नाटक के विशेष स्थलों एव उक्तियों को पकड़कर उनका 'सार' रख दिया है।

सोमनाथ माथुर, उपनाम 'शशिनाथ' ने १७५२ ई० मे महाकवि भवभूति-कृत प्रसिद्ध प्रेमनाटक 'मालती-माधव' का पद्यबद्ध अनुवाद किया जिसका नाम 'माधव-विनोद' है। यद्यपि अनुवाद मे अंकों की संख्या मूल के समान कम ही है, अंकों का कथा-विन्यास, पात्र-प्रवेश एवं निष्क्रमण-क्रम, तथा उक्ति-विधान भी मूल के अनुरूप ही है, तब भी कवि स्वयं भी मच पर आकर वर्णन करता है। कवि ने मूल छन्दो के भावो की पद्यों में पर्याप्त रक्षा की है। फलतः अनुवाद, यद्यपि सम्पूर्णतया पद्यात्मक ही है, सरस है।

भारतेन्दु काल से पूर्व के ये नाटक, कथा-नाटक हैं? अवश्य ही ये नाटक हैं परन्तु हैं काव्य-नाटक जो जन-शैली के हैं। फलत इनमे कवि स्वय भी प्राचीन मराठी नाटकों के विदूषक एवं यूनानी कोरस की नाई खड़ा होकर पात्रों का परिचय देता है, पृष्ठभूमि को बताता है और कथा को अग्रसर भी करता है। इन नाटकों के अभिनीत होने के प्रमाण मिलते हैं और साथ ही जननाट्य-शैली के प्रत्यक्ष सकेत प्राप्त होते है।[1]

---

१. भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० ४१-६५

२

भारतेन्दुकालीन नाटक (१८६७-१९००)

भारतेन्दु-काल मे हमे निम्न प्रकार के नाटक प्राप्त होते हैं —

१. पौराणिक नाटक
२. प्रेम नाटक
३. सामाजिक एव धार्मिक नाटक
४ राजनीतिक नाटक
५ ऐतिहासिक नाटक
६. अनूदित नाटक
७. जन नाटक
८ प्रहसन

१. पौराणिक नाटक

पूर्व भारतेन्दु काल के नाटको मे अधिकाश नाटक पौराणिक हैं—रामायण महानाटक, हनुमन्नाटक, शकुन्तला नाटक (नेवाज, धोकल मिश्र, और राजा लक्ष्मणसिंह-कृत शकुन्तला नाटक), करुणाभरण, जानकी रामचरित नाटक, रामलीला नाटक, आनन्द रघुनन्दन, नहुष, प्रद्युम्न विजय और गंगा नाटक पौराणिक ही है। भारतेन्दुजी ने भी इस धारा मे योगदान किया एव सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली एव सती प्रताप (अपूर्ण) नाटको की रचना की। अन्य नाटककारों ने भी पौराणिक नाटक रचना मे बडा उत्साह दिखाया। इस युग के पौराणिक नाटक निम्न धाराओ मे विभाजित दिखाई देते है :—

(क) *महाभारत धारा नाटक*
(ख) रामायण धारा नाटक
(ग) अन्य पौराणिक नाटक

महाभारत धारा मे कृष्ण-जीवन-सम्बन्धी नाटको की संख्या अधिक है।

इनके नाम हैं—

शिवनन्दनसहाय-कृत कृष्ण-सुदामा (१८७०), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत रुक्मिणी हरण (१८७६), अम्बिकादत्त व्यास-कृत ललिता नाटिका (१८८७), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत कंसवध (१८७६), बन्दीदीन दीक्षित व मातादीन-कृत सुदामा चरित्र (१८७६), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत नन्दोत्सव (१८८०), हरिदत्त दूबे-कृत महारास (१८८४), खगबहादुर मल्ल-कृत महारास (१८८५), गजराजसिंह-कृत द्रौपदी वस्त्रहरण (१८८५), चन्द्रशर्मा-कृत उषाहरण (१८८७), खगबहादुर मल्ल-कृत कल्पवृक्ष (१८८७), विद्याधर त्रिपाठी-कृत उद्धव वसीठिका नाटक (१८८७), गोवर्धन-कृत उद्धव नाटक (१८८६), कार्तिकप्रसाद खत्री-कृत उषाहरण (१८६१), द्विज कृष्णदत्त-कृत युगल विहार नाटक (१८६२), हरिऔध-कृत प्रद्युम्न विजय (१८६३) एवं रुक्मिणी परिणय (१८६४), रघुवरदयाल पाण्डेय-कृत कृष्णानुराग नाटक (१८६७), सूर्यनारायणसिंह-कृत श्यामानुराग नाटिका (१८६६), बलदेव-प्रसाद मिश्र-कृत नन्दविदा (१६००)।

महाभारत के कौरव-पांडव पात्रों को लेकर भी पौराणिक नाटक लिखे गये थे जिनके नाम हैं—विष्णु गोविन्द शिर्वादकर-कृत कर्णपर्व (१८७६), गजराजसिंह-कृत द्रौपदी वस्त्रहरण (१८८५), प्रभुलाल-कृत द्रौपदी वस्त्रहरण (१८८६), शालिग्राम वैश्य-कृत अभिमन्यु (१८६६), वामनाचार्य गिरि-कृत द्रौपदी वस्त्रहरण और शालिग्राम-कृत अर्जुन मदमर्दन। रामायण धारा के नाटकों में मुख्य है—शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत जानकी मंगल, देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत सीता हरण (१८७६), रामगोपाल विद्यान्त-कृत रामाभिषेक (१८७७), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत रामलीला (१८७६), दामोदर शास्त्री सप्रे-कृत 'रामलीला' ७ कांड (१८८२-१८८७), भवदेव-कृत सुलोचना सती (१८८३), काशीनाथ खत्री-कृत 'लवजी का स्वप्न' (१८८४), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत रामचरितावली (१८८७), बलदेवजी अग्रहरी-कृत सुलोचना सती नाटक (१८८७), बलदेवजी-कृत रामलीला विजय (१८८७), द्विजदास-कृत राम-चरित्र नाटक (१८६१), शिवशंकरलाल-कृत रामयश दर्पण (१८६२-६३), जयगोविन्द मालवीय-कृत रामचरित नाटक (१८६४), ज्वालाप्रसाद मिश्र-कृत सीता वनवास (१८६५), बन्दीदीन दीक्षित-कृत सीताहरण (१८६५) और सीता स्वयंवर (१८६६), और अज्ञातनामा बालक द्वारा लिखित पगपखा-रन लीला (१६०१)।

अन्य पौराणिक नाटकों में गोपीचन्द्र और प्रह्लाद ने नाटककारों का विशेष ध्यान आकर्षित किया। इस धारा के पौराणिक नाटक हैं—अन्नाजी इनाम-दार-कृत गोपीचन्द (१८६६), मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या-कृत प्रह्लाद (१८७४), श्री निवासदास-कृत तप्तासंवरण (१८७४), भारतेन्दुजी-कृत

सत्य हरिश्चन्द्र (१८७५), श्यामसुन्दरलाल दीक्षित-कृत महाराज भर्तृहरि नाटक (१८७८), सखाराम बालकृष्ण सरनायक-कृत गोपीचन्द (१८८३), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-कृत सती प्रताप (१८८३), सखाराम-कृत ध्रुव तपस्या (१८८५), जीवानन्दशर्मा-कृत मंगल (१८८७), श्री निवासदास-कृत प्रह्लाद चरित्र नाटक (१८८८), शालिग्राम वैश्य-कृत मोरध्वज (१८८८), दामोदर शास्त्री सप्रे-कृत बालखेल या ध्रुवचरित्र (१८८९), चुन्नीलाल-कृत सत्य हरिश्चन्द्र (१८८९), सखाराम मारवाड़ी-कृत ध्रुव तपस्या नाटक (१८९५), बालकृष्ण भट्ट-कृत दमयन्ती स्वयंवर (१८९५), सुदर्शनाचार्य-कृत अनर्घनल चरित्र (१८९६), श्रीमती लालीजी-कृत गोपीचन्द (१८९६), अम्बाप्रसाद-कृत वीर कलंक (१८९६), कैलाशनाथ बाजपेयी-कृत विश्वामित्र (१८९७), कन्हैयालाल-कृत शील सावित्री (१८९८) एवं अंजना सुन्दरी (१८९९), जगन्नाथशरण-कृत प्रह्लाद चरितामृत (१९००), लाला देवराज-कृत सावित्री नाटक (१९००), महाराजदीन दीक्षित-कृत प्रह्लाद चरित्र नाटक (१९००), शालिग्राम वैश्य-कृत पूरवा, बाललक्ष्मीप्रसाद-कृत उर्वशी एवं नल-दमयन्ती एवं देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत लखमी-सरस्वती मिलन।

पौराणिक नाटकों में आदर्श स्थापन का प्रयास सभी ने किया है। यह युग ऐसा ही था जिसमें लोग आदर्शों को सामने रख रहे थे और नाटक उस उद्देश्य का एक साधन था। पौराणिक नाटकों में ऐसे बहुत ही कम नाटक हैं जो भारतेन्दुजी कृत सत्य हरिश्चन्द्र या चन्द्रावली की कोटि में गिने जा सकें, अधिकांशतः साधारण कोटि के ही हैं। अनर्घनल चरित्र संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार लिखा नाटक है जिसमें संधियों का विशेष ध्यान रखा गया है। इसमें कविता, संस्कृत के माध्यम से व्यक्त हुई है जिसका नीचे पाद-टिप्पणियों में अनुवाद दे दिया गया है। कुछ नाटक रामलीला[1], रासलीला[2], पारसी थियेटर[3] एवं स्वांग[4] को ध्यान में रख कर बने। इस काल के कुछ अच्छे नाटकों में देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत सीताहरण और रुक्मिणी हरण, शालिग्राम वैश्य-कृत अभिमन्यु एवं बालकृष्ण भट्ट-कृत दमयन्ती स्वयंवर हैं। हम यह नहीं कहेंगे कि ये नाटक बहुत उत्तम हैं किन्तु जहाँ साधारण कोटि के नाटकों की दुकान लग रही है, उसमें से कुछ अच्छे नाटक श्लाघनीय हैं ही।

---

१. देवकीनन्दन त्रिपाठी, दामोदर शास्त्री सप्रे एवं बलदेवजी-कृत रामलीला तथा शिवशंकरलाल-कृत रामदशा दर्पण।
२. गोवर्धन गोसाईं-कृत उद्धव लीला नाटक।
३. बलदेवजी अग्रवाल-कृत सुलोचना सती।
४. महाराजदीन दीक्षित-कृत प्रह्लाद चरित्र।

२. प्रेम-नाटक

वैसे तो पौराणिक नाटकों मे भी प्रेम का रंग मिलेगा किन्तु प्रेम-नाटको के अन्तर्गत हमने मानवी जीवन की प्रेम-धारा को ग्रहण किया है। प्रेम-नाटकों के दो वर्ग प्राप्त होते हैं— (१) दु खान्त, एवं (२) सुखान्त। भारतेन्दु काल की यह भी एक देन है कि हिन्दी जगत् मे प्रथम बार दु:खान्त नाटक लिखे गये। गिरिधरदास-कृत नहुष नाटक नहुष-नायक की दृष्टि से दु खान्त है। नहुष के साथ हमारी कोई सहानुभूति नहीं उपजती। उसमे कोई गुण ऐसा चित्रित नही किया गया है जो हमारे हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। हिन्दी का प्रथम दु:खान्त नाटक श्रीनिवासदास-कृत रणधीर प्रेममोहिनी (१८७७) है जो अनेक बार खेला गया और जिसने प्रसाद-काल तक बहुत प्रसिद्धि पाई। उस काल का यह एक यशस्वी दु:खान्त नाटक है जिसे देखकर और पढकर दु:खान्त नाटक निर्मित हुए जिनमे से एक है शालिग्राम वैश्य-कृत लावण्यवती सुदर्शन नाटक (१८९०) किन्तु लावण्यवती सुदर्शन नाटक अपने पूर्ववर्ती नाटक को नही पकड़ सका। अन्य दु खान्त प्रेम-नाटक है—जवाहरलाल वैद्य-कृत कमल मोहिनी भैरवसिंह (१८९६), बालमुकुन्द पाण्डेय-कृत गगोत्री नाटक (१८९७)। दु खान्त नाटकों में रणधीर प्रेममोहिनी के बाद गगोत्री को ही स्थान मिलेगा।

सुखान्त प्रेम-नाटकों मे भारतेन्दुजी-कृत विद्यासुन्दर (१८६८) सबसे पहला है। चन्द्रावली भी प्रेम-नाटिका है। हम इसकी गणना पीछे पौराणिक नाटको में कर चुके हैं। अन्य सुखान्त प्रेम-नाटक है—अमानसिंह गोटिया एव जागेश्वरदयाल-कृत मदन मंजरी नाटक (१८८४), रंगबहादुर मल्ल-कृत रति-कुसुमायुध नाटक (१८८५), विन्ध्येश्वरीप्रसाद त्रिपाठी-कृत मिथिलेश कुमारी (१८८८), शालिग्राम-कृत माधवानल कामकन्दला (१८८८), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत मयंक मजरी (१८९१) और प्रणयिनी परिणय (१८९१), खिलावनलाल-कृत प्रेम सुन्दर (१८९२), एवं बजरंगप्रसाद-कृत मालती वसन्त (१८९६)। इस युग के अन्य प्रेम-नाटक है—मोतीलाल जौहरी-कृत मनमोहिनी (१८८०), नानकचन्द-कृत चन्द्रकला (१८८३), महादेवप्रसाद-कृत चन्द्रप्रभा मनस्वी (१८८४), कृष्णदेवशरणसिंह-कृत माधुरी रूपक (१८८८), गोकुलचन्द्र औदीच्य-कृत पुष्पावती (१८९४), कालिकाप्रसाद अग्निहोत्री-कृत प्रफुल्ल (१८९५), और ज्ञानानन्द-कृत प्रेम-कुसुम (१८९६) इन प्रेम-नाटकों मे विद्यासुन्दर के बाद प्रेमसुन्दर नाटक को स्थान देना पड़ेगा। रतिकुसुमायुध और मिथिलेशकुमारी भी अच्छे नाटक माने जा सकते हैं। इन प्रेम नाटको के पीछे लेखकों का उद्देश्य एक ही है कि विवाह का आधार पिता के आशीर्वाद के अतिरिक्त युवक-युवती का प्रेम होना चाहिये। प्राय प्रथम साक्षात्कार ही में प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है।

सत्य हरिश्चन्द्र (१८७५), श्यामसुन्दरलाल दीक्षित-कृत महाराज भर्तृहरि नाटक (१८७८), सखाराम बालकृष्ण सरनायक-कृत गोपीचन्द (१८८३), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-कृत सती प्रताप (१८८३), मसाराम-कृत ध्रुव तपस्या (१८८५), जीवानन्दशर्मा-कृत मगल (१८८७), श्री निवासदास-कृत प्रह्लाद चरित्र नाटक (१८८८), शालिग्राम वैश्य-कृत मोरध्वज (१८८८), दामोदर शास्त्री सप्रे-कृत बालखेल या ध्रुवचरित्र (१८८६), चुन्नीलाल-कृत सत्य हरिश्चन्द्र (१८८६), मसाराम मारवाडी-कृत ध्रुव तपस्या नाटक (१८६५), बालकृष्ण भट्ट-कृत दमयन्ती स्वयवर (१८६५), सुदर्शनाचार्य-कृत अनर्घनल चरित्र (१८६६), श्रीमती लालीजी-कृत गोपीचन्द (१८६६), अम्बाप्रसाद-कृत वीर कलक (१८६६), कैलाशनाथ वाजपेयी-कृत विश्वामित्र (१८६७), कन्हैयालाल-कृत शील सावित्री (१८६८) एवं अजना सुन्दरी (१८६६), जगन्नाथशरण-कृत प्रह्लाद चरितामृत (१६००), लाला देवराज-कृत सावित्री नाटक (१६००), महाराजदीन दीक्षित-कृत प्रह्लाद चरित्र नाटक (१६००), शालिग्राम वैश्य-कृत पूरवा, बाललक्ष्मीप्रसाद-कृत उर्वशी एव नल-दमयन्ती एव देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत लखमी-सरस्वती मिलन।

पौराणिक नाटको मे आदर्श स्थापन का प्रयास सभी ने किया है। यह युग ऐसा ही था जिसमें लोग आदर्शों को सामने रख रहे थे और नाटक उस उद्देश्य का एक साधन था। पौराणिक नाटको मे ऐसे बहुत ही कम नाटक हैं जो भारतेन्दुजी कृत सत्य हरिश्चन्द्र या चन्द्रावली की कोटि मे गिने जा सकें, अधिकाशत साधारण कोटि के ही हैं। अनर्घनल चरित्र सस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार लिखा नाटक है जिसमे सधियो का विशेष ध्यान रखा गया है। इसमें कविता, सस्कृत के माध्यम से व्यक्त हुई है जिसका नीचे पाद-टिप्पणियो मे अनुवाद दे दिया गया है। कुछ नाटक रामलीला[1], रासलीला[2], पारसी थियेटर[3] एव स्वाँग[4] को ध्यान मे रख कर बने। इस काल के कुछ अच्छे नाटको मे देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत सीताहरण और रुक्मिणी हरण, शालिग्राम वैश्य-कृत अभिमन्यु एव बालकृष्ण भट्ट-कृत दमयन्ती स्वयवर है। हम यह नही कहेंगे कि ये नाटक बहुत उत्तम हैं किन्तु जहाँ साधारण कोटि के नाटको की दुकान लग रही है, उसमें से कुछ अच्छे नाटक श्लाघनीय है ही।

---

१. देवकीनन्दन त्रिपाठी, दामोदर शास्त्री सप्रे एवं बलदेवजी-कृत रामलीला तथा शिवशकरलाल-कृत रामयश दर्पण।
२. गोवर्धन गोसाईं-कृत उद्धव लीला नाटक।
३. बलदेवजी अग्रहरि कृत-सुलोचना सती।
४. महाराजदीन दीक्षित-कृत प्रह्लाद चरित्र।

२. प्रेम-नाटक

वैसे तो पौराणिक नाटकों में भी प्रेम का रंग मिलेगा किन्तु प्रेम-नाटकों के अन्तर्गत हमने मानवी जीवन की प्रेम-धारा को ग्रहण किया है। प्रेम-नाटकों के दो वर्ग प्राप्त होते हैं— (१) दुःखान्त, एवं (२) सुखान्त। भारतेन्दु काल की यह भी एक देन है कि हिन्दी जगत् में प्रथम बार दुःखान्त नाटक लिखे गये। गिरिधरदास-कृत नहुष नाटक नहुष-नायक की दृष्टि से दुःखान्त है। नहुष के साथ हमारी कोई सहानुभूति नहीं उपजती। उसमें कोई गुण ऐसा चित्रित नहीं किया गया है जो हमारे हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। हिन्दी का प्रथम दुःखान्त नाटक श्रीनिवासदास-कृत रणधीर प्रेममोहिनी (१८७७) है जो अनेक बार खेला गया और जिसने प्रसाद-काल तक बहुत प्रसिद्धि पाई। उस काल का यह एक यशस्वी दुःखान्त नाटक है जिसे देखकर और पढ़कर दुःखान्त नाटक निर्मित हुए जिनमें से एक है शालिग्राम वैश्य-कृत लावण्यवती सुदर्शन नाटक (१८६०) किन्तु लावण्यवती सुदर्शन नाटक अपने पूर्ववर्ती नाटक को नहीं पकड़ सका। अन्य दुःखान्त प्रेम-नाटक है—जवाहरलाल वैद्य-कृत कमल मोहिनी भैरवसिंह (१८६६), बालमुकुन्द पाण्डेय-कृत मगोमी नाटक (१८६७)। दुःखान्त नाटकों में रणधीर प्रेममोहिनी के बाद मगोमी को ही स्थान मिलेगा।

सुखान्त प्रेम-नाटकों में भारतेन्दुजी-कृत विद्यासुन्दर (१८६८) सबसे पहला है। चन्द्रावली भी प्रेम-नाटिका है। हम इसकी गणना पीछे पौराणिक नाटकों में कर चुके हैं। अन्य सुखान्त प्रेम-नाटक है —अमानसिंह गोटिया एवं जागेश्वरदयाल-कृत मदन मंजरी नाटक (१८८४), रंगबहादुर मल्ल-कृत रति-कुसुमायुध नाटक (१८८५), विन्ध्येश्वरीप्रसाद त्रिपाठी-कृत मिथिलेश कुमारी (१८८८), शालिग्राम-कृत माधवानल कामकन्दला (१८८८), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत मयंक मंजरी (१८६१) और प्रणयिनी परिणय (१८६१), सिलावनलाल-कृत प्रेम सुन्दर (१८६२), एवं बजरंगप्रसाद-कृत मालती बसन्त (१८६६)। इस युग के अन्य प्रेम-नाटक है—मोतीलाल जौहरी-कृत मनमोहिनी (१८८०), नानकचन्द-कृत चन्द्रकला (१८८३), महादेवप्रसाद-कृत चन्द्रप्रभा मनस्वी (१८८४), कृष्णदेवशरणसिंह-कृत माधुरी रूपक (१८८८), गोकुलचन्द्र औदीच्य-कृत पुष्पावती (१८६४), कालिकाप्रसाद अग्निहोत्री-कृत प्रफुल्ल (१८६५), और आनानन्द-कृत प्रेम-कुसुम (१८६६) इन प्रेम-नाटकों में विद्यासुन्दर के बाद प्रेमसुन्दर नाटक को स्थान देना पड़ेगा। रतिकुसुमा-युध और मिथिलेशकुमारी भी अच्छे नाटक माने जा सकते हैं। इन प्रेम नाटकों के पीछे लेखकों का उद्देश्य एक ही है कि विवाह का आधार पिता के आशीर्वाद के अतिरिक्त युवक-युवती का प्रेम होना चाहिये। प्रायः प्रथम साक्षात्कार ही में प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है।

३. सामाजिक और धार्मिक नाटक

भारतेन्दु-युग पुनरुत्थान काल है। इसी काल मे अनेक धार्मिक आन्दोलनो ने जनता के मन-मस्तिष्क को झकझोरा। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी, सत्यशोधक समाज, राधास्वामी सम्प्रदाय, श्रेय साधक अधिकारी वर्ग आदि अनेक सामाजिक एव धार्मिक ललकारों ने जन को सचेत कर कहा कि तू अपने जीवन को सुधार, ईश्वर की ओर मुड और अपने दूसरे लोक को बना। फलत. इस काल में सामाजिक एवं धार्मिक नाटको का प्रणयन स्वाभाविक ही था। भारतेन्दु-काल से पूर्व इस प्रकार के नाटक नही लिखे जाते थे। अत हिन्दी जगत् मे ऐसे नाटको का प्रणयन एक नया मोड था। इस काल के नाटककारो ने अपने काल की सभी प्रधान सामाजिक समस्याओ की ओर ध्यान दिया और उनका चित्रण अपने नाटको मे किया। अत ये नाटक इन नाटककारो की सजीवता एवं समाज-सजगता के उत्तम उदाहरण है। इस काल के नाटको मे हमे ये सामाजिक समस्याएँ चित्रित मिलती हैं—

हिन्दुओ मे विवाह के अवसर पर धन को स्वाहा किया जाता है। अनेक नाटककारो ने इस अपव्यय का चित्रण अपने नाटको मे किया। तोताराम के विवाह विडंबन (१८८६) और गौरीदत्त के सर्राफी नाटक (१८६०) मे यह सामाजिक कुरोग विस्तार से चित्रित है। हिन्दुओ मे उस समय बाल-विवाह ज़ोरो के साथ प्रचलित था। बाल-विवाह के कुपरिणाम दिखाने वाले नाटक हैं—श्रीशरण-कृत बाल्य-विवाह नाटक (१८७४), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत बाल्य-विवाह नाटक (१८८१), देवकीप्रसाद शर्मा-कृत बाल्य-विवाह नाटक (१८८४), देवदत्त मिश्र-कृत बाल्य-विवाह दूपक (१८८५) और छुट्टनलाल-कृत बाल्य-विवाह नाटक (१८६८)। जन्मपत्री के मिल जाने पर भी दुख पडता है और मृत्यु आती है, नाटककारो ने यह बतलाया और हिन्दुओ को सावधान किया कि ब्राह्मणो के जाल मे पडकर जन्मपत्री मिलाने की कुप्रथा छोड़कर स्वय कन्या या वर की परीक्षा करो। उत्तम जन्मपत्री रहने पर भी वर या कन्या की मृत्यु होती है।[1] क्यो ? क्योकि बालकपन का विवाह अकाल-मृत्यु लाता है। बाल विधवा की दुर्दशा का चित्र इस काल के नाटककारों ने हृदय रक्त के अश्रुओ से खीचा है।[2] वृद्ध के साथ युवती को बाँध दिया जाय, तब भी

१. राधाकृष्णदास-कृत दुःखिनी बाला रूपक (१८८०)।
२. काशीनाथ खत्री-कृत विधवा संताप नाटक (१८८१) एवं श्रीकृष्ण टकरु-कृत विद्याविलासी सुखवंधनी (१८८४)।

परिणाम भयावह होता है, नाटककारों ने इस पर भी ध्यान दिया।[1] यही परिणाम तब मिलता है जब शिक्षित कन्या या वर का विवाह अशिक्षित से हो जाता है।[2] नाटककारों ने लम्पट एवं वेश्यागामी पुरुषों की भी नाटकों में खूब खबर ली।[3] यदि नायक स्वयं लम्पट न हो तो कभी-कभी उसके मित्र उसे फँसाते हैं और उसकी दुर्गति करा देते हैं।[4] यह बात नहीं है कि पुरुष ही लम्पट होते हैं, स्त्रियाँ भी हो सकती हैं। नाटककारों का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने लम्पट स्त्रियों का चित्रण भी किया।[5] हिन्दू समाज में एक बड़ा दोष और व्याप्त हो गया था और वह आज भी है। यह दोष है अन्धविश्वास का जिसको विषय बनाकर नाटकों का निर्माण हुआ।[6] हिन्दू लोग छिप-छिप कर या धर्म के ढोंग से मांस-मदिरा का सेवन करने लगे थे जिसका चित्रण नाटकों में हुआ[7]। दीपावली के अवसर पर द्यूतक्रीड़ा[8], समुद्र यात्रा निषेध[9], छूत-छात की भावना[10], इत्यादि अनेक सामाजिक समस्याओं की ओर इन नाटककारों की दृष्टि गई। जहाँ नारी के कुत्सित रूप को इन्होंने फटकारा, वहाँ उसके आदर्श रूप की मुक्तकंठ से सराहना भी की।[11]

धार्मिक नाटकों के अन्तर्गत ये नाटक हैं—

खड्गबहादुर मल्ल-कृत हरतालिका नाटिका (१८८७), जगन्नाथ भारतीय-कृत नवीन वेदान्त नाटक (१८६०), रुद्रदत्त शर्मा-कृत आर्यमत मार्तण्ड नाटक

---

१. घनश्यामदास-कृत वृद्धावस्था विवाह नाटक एवं गोपालराम गहमरी-कृत विद्याविनोद (१८६२)
२. देवदत्त शर्मा-कृत बाल्य-विवाह नाटक (१८६०)
३. बालकृष्ण भट्ट-कृत शिक्षादान (१८७७) निधिलाल-कृत विवाहिता विलाप (१८६८), राधाचरण-कृत बूढ़े मुँह मुँहासे (१८८७), बदरीनारायण चौधरी-कृत वारांगना रहस्य महानाटक, कृष्णविहारी मिश्र-कृत आनन्दोद्भव नाटक (१८८६)।
४. जगन्नाथ शर्मा-कृत कुन्दकली।
५. प्रतापनारायण मिश्र-कृत कलिकौतुकम् रूपक (१८८६)।
६. देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत जयनार सिंह की (१८७६) और राधाचरण गोस्वामी-कृत तन-मन-धन गोसाईंजी के अर्पण (१८६०)।
७. भारतेन्दु-कृत वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति (१८७३), शिवराम दैव-कृत होलिका दर्पण नाटक (१८६५)।
८. देवदत्त शर्मा-कृत दिवारी के ज्वारी (१८८७)।
९. जगन्नाथ-कृत समुद्र यात्रा वर्णन (१८८७)।
१०. जगन्नाथ भारतीय-कृत वर्णव्यवस्था नाटक, दुर्गाप्रसाद मिश्र-कृत सरस्वती नाटक (१८८७)।
११. हनुमन्तसिंह रघुवंशी-कृत सती-चरित्र नाटक (१८६०), रघुबीरसिंह वर्मा-कृत मनोरंजनी नाटक (१८६०), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत चौपट चपेट (१८६१)।

(१८९५), स्वामी शंकरानन्द-कृत विमान नाटक (१८९८) और जैनेन्द्र किशोर-कृत सोमासती नाटक (१९००)।[1] इनमें सनातन धर्म, आर्यसमाज और जैनधर्म के त्योहारों या धार्मिक मतों का प्रतिपादन हुआ है।

४. राजनीतिक नाटक

हमने पीछे कहा है कि इस पुनरुत्थान काल में सामाजिक नाटकों का निर्माण एक नया मोड़ है। ये नाटककार समाज के प्रति पूरी आस्था से सजग थे। किन्तु इससे अधिक महत्ता है इन नाटककारों की राजनीतिक नाटक प्रदान करने में। हमें इन नाटककारों का ऋण और उपकार मानना पड़ेगा कि इन्होंने अपने राजनीतिक दृष्टिकोण को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रकट किया। यह वह काल था जब कांग्रेस का जन्म हुआ ही था और कोई महान् राजनीतिक नेता भारतीय क्षितिज पर नहीं चमका था। कांग्रेस का जन्म १८८५ ई० में हुआ और उसे राष्ट्रीय रूप लेने में कई वर्ष लगे। कांग्रेस एवं राष्ट्रीय भावना के जन्म देने वाले इसी युग के भारतीय विचारक एवं साहित्यकार थे। हिन्दी साहित्य में राजनीति को अपनाकर नाटक ही प्रथम बार लिखे गये, राजनीतिक उपन्यास तो भविष्य में आये और कविता में राजनीतिक दृष्टिकोण छिपे-छिपे जन्म लेने का प्रयास कर रहा था। बंगला में भी इस काल में नाटककारों ने राजनीति को अपने सामने रखा। हिन्दी नाटककारों ने राजनीतिक नाटकों का पूरे बल से निर्माण किया। पौराणिक नाटकों के बाद अच्छे और अभिनेय नाटक राजनीतिक नाटक ही हैं।

इस काल मे हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान का उद्घोष ऊँचा उठा था। फलत इन तीनों क्षेत्रों में ही हम राजनीति को बँटा पाते हैं और इन तीनों क्षेत्रों मे राजनीतिक नाटकों ने पदार्पण किया।[2] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तो हिन्दी के प्रश्न पर राजा शिवप्रसाद तक से संघर्ष मोल ले लिया और क्षति सहन की। स्वामी दयानन्द गुजराती थे किन्तु उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखा और आर्यभाषा नाम देकर उसी के संवर्द्धन मे तन-मन लगाया। नाटककारों ने भी हिन्दी की पताका को ऊँचा किया और हिन्दी के समर्थन में नाटकों का निर्माण किया। एक बात स्पष्ट है कि हिन्दी का संघर्ष केवल उर्दू या फारसी से था, अंग्रेज़ी से नहीं। समय की राजनीति कैसे बदलती है यह उस युग और आज के युग की तुलना से स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी के पक्ष मे लिखे गये नाटक है—नन्हेमल-कृत सत्योदय नाटक (१८८३), रविदत्त शुक्ल-कृत देवाक्षर चरित्र (१८८४), रत्नचन्द्र वकील-कृत हिन्दी-उर्दू नाटक-(१८८७), शरत्कुमार मुखोपाध्याय-कृत भारतोद्धारक नाटक एवं गौरीदत्त

१. भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, प्र० सं०, पृ० २०१-२०२।
२. भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, प्र० सं०, पृ० २०२-२२३।

कृत सर्राफी नाटक (१८९०)। सर्राफी नाटक में सर्राफी या मुड़िया को छोड़ कर बहीखातों में हिन्दी अपनाने का उपदेश दिया गया है और देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत भारती हरण (१८९८) में भारतीय साहित्य को पश्चिमी विद्वानों से प्राप्त करने की प्रेरणा दी गयी है।

हिन्दू का अर्थ है कि इस काल के नाटककारों का ध्यान हिन्दू समाज की ओर था, यह ठीक ही है। किन्तु इसका एक राजनीतिक पक्ष भी था। सरकार की नीति बाँट कर खाने की थी। सरकार हिन्दू-मुसलमानों में भेद करके मुसलमानों का पक्ष करती थी।[1] इससे मुसलमानों का हौसला बढ़ा और वे अपने ही बन्धुओं से दूर होकर उन्हें पराया समझते गये। फलतः हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष पनपता गया जिसका तांडवी रूप १९४८ में पूर्णता के साथ प्रकटा। किन्तु इस संघर्ष का बीज, भारतेन्दु काल में अग्रेज के हल से और मुसलमानों के हँसिये से बराबर बढ़ रहा था। इटावे में रामलीला और मुहर्रम एक साथ पड गये तो साम्प्रदायिक वातावरण दूषित हो गया।[2] संघर्ष के पीछे अग्रेज काम करते ही थे। किन्तु इसका उद्भव मुस्लिम काल में हो चुका था। हिन्दू गाय को पूजते हैं, मुसलमान और ईसाई उसे खाते हैं। ईसाइयों से हिन्दुओं का सघर्ष गो के प्रश्न को लेकर कभी नहीं हुआ किन्तु मुसलमानों से हुआ। कारण, मुसलमान ईसाइयों की भाँति चुपचाप माम नहीं खाते थे वरन् हम हिन्दुओं की पवित्र गो मारते हैं इसका प्रदर्शन करते थे। फलतः संघर्ष हुआ। गो-समस्या ने भारतेन्दु-युग में प्रधान सघर्ष का रूप ले लिया था। अनेक नाटकों का निर्माण 'गो-रक्षण' की समस्या को लेकर ही हुआ जिसमें हिन्दू-मुस्लिम सघर्ष चित्रित है। ऐसे नाटक हैं—देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'गोवध निषेध' (१८८१) एवं 'प्रचण्ड गोरक्षण' (१८८१), अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'गो-संकट' (१८८२), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'गो-सकट' (१८८६), जगतनारायण कृत 'अकबर गोरक्षा न्याय नाटक' (१८८६), रामधारी कायस्थ-कृत 'गोरक्षा प्रहसन', सन्नूलाल गुप्त-कृत सुरभि सन्ताप-नाटक एवं पं० जगतनारायण-कृत 'भारत डिमडिमा नाटक।[3] इन नाटकों में एक सकेत स्पष्ट है, 'अरे हिन्दुओ! संगठित होकर मुसलमानों का सामना करो।'[4]

भारत की दशा को सामने रखकर भी अनेक नाटकों का निर्माण हुआ।

---

१. 'पर ऐसे ही सारे भारतवर्ष की प्रजा का सरकार ध्यान नहीं रखती। रामपुर में दुरंत यवन हिन्दुओं को इतना दुःख देते हैं, पूजा नहीं करने देते, शंख नहीं बजता, पर सरकार इस बात की पुकार नहीं सुनती।' —विषस्य विषमौषधम्

२. बलदेवप्रसाद-कृत रामलीला विजय नाटक।

३. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य, प्र० सं०, पृ० २२४-२५

४. रतनचन्द्र वकील-कृत न्याय नाटक (१८८७)।

नाटककारों ने भारत की दुर्दशा चित्रित की और उसके कारणों की ओर संकेत किया। ये कारण दो थे—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक कारणों में हिन्दुओं की आपसी फूट, पारस्परिक भेदभाव एवं उनकी अपनी सामाजिक पारिवारिक निर्बलतायें थीं। बाह्य कारणों में मुसलमान और अंग्रेजों की प्रशंसा भी की गई और निन्दा भी। प्रशंसा के प्रधान पात्र कुछ अंग्रेज एवं महारानी विक्टोरिया थे। निन्दा के पात्र थे अंग्रेजी राज्य के प्रशासक एवं कर्मचारी। हानिकर करों एवं नियमों का विरोध प्रकट किया गया। हाँ, अंग्रेजों की प्रशंसा तुलनात्मक दृष्टि से की गई है। अंग्रेजों का राज्य मुस्लिम राज्य से अच्छा था, अतः अंग्रेजी राज्य का गुण गाया गया। इन बातों का कथन करने वाले राजनीतिक नाटक हैं—

भारतेन्दु-कृत 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७६), 'भारत दुर्दशा' (१८७६), और 'अन्धेर नगरी' (१८८१), मूलचन्द्र-कृत 'पुलिस नाटक' (१८८३), नन्हेमल-कृत 'सत्योदय' (१८८३), राधबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (१८८५), अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'भारत सौभाग्य' (१८८७), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महाअन्धेर नगरी' (१८८७), शरत्कुमार मुखोपाध्याय-कृत 'भारतोद्धारक' (१८८८), प्रेमघन-कृत 'भारत सौभाग्य' (१८८६), दुर्गादत्त व्यास-कृत 'वर्तमान दशा' (१८६०), गोपालराम गहमरी-कृत 'देशदशा नाटक' (१८६२), देवदत्त शर्मा-कृत 'अति अन्धेरनगरी' (१८६५), जगतनारायण-कृत 'भारत दुर्दिन' (१८६५), गोपालराम गहमरी-कृत 'जन्मभूमि नाटक'। तत्कालीन कुछ अन्य राजनीतिक दशाओं को लेकर भी नाटक लिखे गये जिनमें ठगी, सूद, नौकरी इत्यादि का चित्रण हुआ है। ऐसे नाटक हैं—देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'एक-एक के तीन-तीन' (१८७६), काशीनाथ खत्री-कृत 'निकृष्ट नौकरी (या चाकरी)' १८८३ एवं 'ग्राम पाठशाला' (१८८३), हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ-कृत 'ठगी की चपेट' (१८८४) एवं देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'बैल छै टके को'।

५. ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों की परम्परा तो संस्कृत से प्रवाहित थी। ऐतिहासिक नाटकों में संस्कृत का 'मुद्राराक्षस' प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा संस्कृत नाटककारों का ध्यान पौराणिक नाटकों की ओर ही रहा है। इसका कारण था, कि पुराणों को ही इतिहास माना जाता था एवं पुराण से अलग इतिहास की सत्ता स्पष्ट न हुई थी। पुराण और इतिहास में अन्तर है। इतिहास में अलौकिकता नहीं मिलती, असाधारणता प्राप्त होती है। जब कोई व्यक्ति अन्यों की अपेक्षा किसी एक या कई गुणों में बहुत आगे हो तो वह असाधारण कहा जाता है। नेपोलियन असाधारण वीर था, अलौकिक

नही। अलौकिकता वहाँ होती है जहाँ लोकातीत कार्य दिखाई पड़े जैसे वायु का रोकना, समुद्र का पीना, चार हाथों का रखना, मनुष्यों से सिंह बनना, देवताओं का पुष्प बरसाना इत्यादि। ब्रजभाषा के काव्य-नाटकों मे ऐतिहासिक नाटक नही है। अत हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक नाटकों के निर्माण की ओर भी भारतेन्दुकालीन नाटककारो का एक प्रकार से नवीन प्रयास ही था।

इन ऐतिहासिक नाटकों मे हिन्दू वीरो एवं वीरागनाओं को स्थान मिला है। हिन्दू वीरांगनाओ ने मुस्लिम प्रतिनायकों के दाँत खट्टे किये, उन्हे परलोक पहुँचाया तथा धर्म और प्रतिष्ठा के लिए प्राण वार दिये।[1] भक्त नारी का आदर्श भी चित्रित किया गया।[2] हिन्दू राजाओं की वीरता, साहस और दृढता का चित्रण भी नाटको मे हुआ।[3] हिन्दू बालक भी अपने धर्म के लिए प्राण दे देता है इसका चित्रण मुसलमान नाटककार सैयद शेरअली ने 'कत्ल हकीकत राय' (१८९७) मे किया।

६. अनूदित नाटक

भारतेन्दु काल मे अनुवादों की ओर भी बराबर ध्यान था। भारतेन्दुजी ने नाटक-क्षेत्र में अनुवादों के साथ प्रवेश किया था। अन्य नाटककारो ने भी हिन्दीतर भाषाओं से अनुवाद किया। संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी से ही विशेषकर अनुवाद किये गए। संस्कृत नाटकों के अनुवाद की परम्परा पुरानी है। ब्रजभाषा काव्य-नाटको के प्रसंग में हम लिख चुके हैं कि पूर्व-भारतेन्दु काल में संस्कृत नाटको के अनुवाद की ओर भारतेन्दु काल के बराबर चरण गतिमान थे। राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद 'शकुन्तला नाटक' ने भी मार्गप्रदर्शन किया है। यह अनुवाद १८६३ ई० में गद्य मे हुआ था। इसके पश्चात् भारतेन्दुजी ने अपने अनुवाद इस शृखला मे जोडे, जो है 'प्रवास' और 'रत्नावली नाटक' (१८६८)। इस काल के संस्कृत से अनूदित अन्य नाटक है—देवदत्त तिवारी-

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-कृत नीलदेवी (१८८०), राधाकिशनदास कृत महारानी पद्मावती (१८८२), दैन्नाथ-कृत वीरबामा (१८८३), काशीनाथ खत्री-कृत सिन्धुदेश की राजकुमारियां (१८८४) एवं गुन्नौर की रानी (१८८४), राधाचरण गोस्वामी-कृत सती चन्द्रावली (१८८६), गोपालराम गहमरी-कृत यौवन योगिनी (१८९३) एवं बैजनाथ-कृत वीरबामा (१८९३)।

२. बलदेवप्रसाद मिश्र-कृत मीराबाई (१८९०)।

३. वेंकुण्ठनाथ दुग्गल-कृत श्रीहर्ष (१८८४), श्री निवासदास-कृत संयोगिता स्वयंवर (१८८५), राधाचरण गोस्वामी-कृत अमरसिंह राठौर (१८९५), शालिग्राम-कृत पुरुविक्रम नाटक (१८९५), रामनरेश वर्मा-कृत सिंहल विजय (१८९६), राधाकृष्णदास-कृत प्रतापसिंह (१८९७), प्रतापनारायण-कृत हठी हमीर (१८९७)।

कृत 'उत्तर रामचरित' (१८७१), और 'रत्नावली' (१८७२), भारतेन्दुजी कृत 'धनंजय विजय' (१८७३) एवं 'मुद्राराक्षस' (१८७५), पं० सीतला-प्रसाद-कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' (१८७६), गदाधर भट्ट-कृत 'मृच्छकटिक' (१८८०), शालिग्राम-कृत 'मालती माधव' (१८८१), देवीदीन-कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' (१८८५), अयोध्याप्रसाद चौधरी-कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' (१८८५), नन्दलाल विश्वनाथ दूबे-कृत 'शकुन्तला' (१८८७), ज्वालाप्रसाद मिश्र-कृत 'सीता बनवास' (१८९५), रामेश्वर भट्ट-कृत 'रत्नावली' (१८९५), नन्दलाल विश्वनाथ-कृत 'उत्तर रामचरित' (१८८६), भवदेव दूबे-कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' (१८९६)। सीताराम-कृत 'उत्तर रामचरित' एवं 'महावीर चरित' (१८९७), ज्वालाप्रसाद मिश्र-कृत 'वेणी संहार' (१८९७), सीताराम-कृत 'मालती-माधव' (१८९८) और 'मालविकाग्नि मित्र' (१८९८), बालमुकुन्द गुप्त-कृत 'रत्नावली' (१८९८), सीताराम-कृत 'मृच्छकटिक' (१८९८) और 'नागानन्द' (१९००), ज्वालाप्रसाद मिश्र-कृत 'शकुन्तला' (१९०१)। 'मृच्छकटिक नाटक' का अलग-अलग अनुवाद किया दयालसिंह ठाकुर, दामोदर शास्त्री और बालकृष्ण भट्ट ने। अंबिकादत्त व्यास ने वेणी संहार का अनुवाद किया और गदाधर भावी ने विक्रमोर्वशी का। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कर्पूर मंजरी का प्राकृत से अनुवाद किया।

कुछ अनुवाद बड़े अच्छे हैं और कुछ बड़े भ्रष्ट। भारतेन्दुजी के अनुवाद बड़े सफल हैं और इनकी भाषा औरों की अपेक्षा प्रौढ़ और परिष्कृत है जिसका सुन्दर उदाहरण है 'मुद्राराक्षस'। देवदत्त तिवारी और भावदेव दूबे के अनुवाद बड़े असमर्थ अनुवाद हैं जिनकी भाषा अशुद्ध और अव्यवस्थित है। पूर्व-भारतेन्दु काल में 'प्रबोध चन्द्रोदय' के अनुवाद सबसे अधिक हुए थे। भारतेन्दु-काल में भी इस नाटक की ओर बहुत ध्यान गया और पाँच अनुवाद हुए। भारतेन्दुजी ने भी इसका अपूर्ण अनुवाद किया। 'पाखंड विडम्बन', 'प्रबोध चन्द्रोदय' का एक अंश ही है। 'मृच्छकटिक' नाटक को भी बहुत मान मिला और उसके पाँच अनुवाद हुए। नाटककारों में हर्ष, भवभूति और कालिदास को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई जिनके नाटकों के अनुवाद हुए। हर्ष की 'रत्नावली' के चार अनुवाद हुए और 'नागानन्द' का एक अनुवाद हुआ। भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' के तीन अनुवाद हुए, 'मालती माधव' के दो और 'महावीर चरित' का एक अनुवाद हुआ। विश्ववंद्य महाकवि कालिदास 'अभिज्ञान-कृत शाकुन्तलम्' के दो अनुवाद हुए। मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशी का भी एक-एक अनुवाद हुआ। अनुवादकों में भारतेन्दुजी के पाँच अनुवादों को छोड़कर सीताराम का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने छः अनुवाद प्रस्तुत किये। लाला सीताराम के ये अनुवाद सफल हैं और उत्तम है। प० ज्वाला-प्रसाद मिश्र ने भी तीन नाटकों के अनुवाद दिये।

भारतीय भाषाओं मे बँगला को सम्मान मिला और हिन्दी मे बँगला के अनेक नाटकों का अनुवाद हुआ। बँगला से अनूदित नाटकों में सबसे पहला है भारतेन्दुजी का 'विद्या सुन्दर', जो अनुवाद मात्र नही है। भारतेन्दुजी के मित्र द्वारा अनूदित तथा भारतेन्दुजी द्वारा संशोधित नाटक 'भारत-जननी' (१८७७) में सामने आया। बँगला से अन्य अनूदित नाटक हैं—रामगोपाल विद्यात-कृत 'रामाभिषेक नाटक' (१८७६), बालकृष्ण-कृत 'पद्मावती' (१८७८), और 'शर्मिष्ठा' (१८८०), रामचरण शुक्ल-कृत 'शर्मिष्ठा', केशवराम भट्ट-कृत 'सज्जाद संबुल' और 'शमशाद सौसन' (१८८०), व्रजनाथ शर्मा-कृत 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं?' (१८८४), राधाचरण गोस्वामी कृत 'बूढे मुँह मुहासे' (१८८७), उदितनारायण लाल-कृत 'सती नाटक' (१८८६) और दीपनिर्वाण, रामकृष्ण वर्मा-कृत 'पद्मावती' (१८८६), उदितनारायण लाल-कृत 'अश्रुमती' (१८९५), शिवनन्दन त्रिपाठी-कृत 'नवाब सिराजुद्दौला' (१८९६) रामकृष्ण वर्मा-कृत 'कृष्ण कुमारी' (१८९९), और 'वीरनारी' (१८९९), दुर्गाप्रसाद शर्मा-कृत 'प्रभाम मिलन' (१८९९)। 'प्रभास मिलन' का ही अनुवाद कालीकृष्ण मुखोपाध्याय ने १९०० मे और बलदेवप्रसाद मिश्र ने १९०३ ई० मे किया। बंगला नाटककारों में माइकेल बाबू, ज्योतिन्द्रनाथ ठाकुर, बिहारीलाल चट्टोपाध्याय और उपेन्द्रनाथ दास (दुर्गादास) के बँगला नाटकों को अधिक महत्त्व मिला। माइकेल मधुसूदन दत्त के 'पद्मावती', 'शर्मिष्ठा', 'कृष्ण कुमारी', और 'एई कि बोले सभ्यता' के अनुवाद हुए। ज्योतिन्द्रनाथ ठाकुर के 'सरोजिनी' के तीन अनुवाद हुए और 'अश्रुमति' का एक अनुवाद हुआ। बिहारीलाल चट्टोपाध्याय के 'प्रभास मिलन' के भी तीन अनुवाद हुए। उपेन्द्रनाथ दास (दुर्गादास) के दो नाटको 'शरत सरोजिनी' और 'सुरेन्द्र विनोदिनी' का अनुवाद हुआ।

अंग्रेजी नाटककारों में सबसे अधिक सम्मान शेक्सपियर को दिया गया और उसके कई नाटकों के अनुवाद हुए। शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' के चार अनुवाद हुए जो हैं भारतेन्दुजी-कृत 'दुर्लभ बंधु' (१८८०), आर्य महिला-कृत 'वेनिस नगर का व्यापारी' (१८८७), बालेश्वरप्रसाद-कृत 'वेनिस का सौदागर' और दयालसिंह ठाकुर-कृत 'वेनिस का सौदागर'। शेक्सपियर के दूसरे नाटक 'मैकबेथ' का अनुवाद मथुराप्रसाद शर्मा ने 'साहसेन्द्र साहस' (१८९३) नाम से किया तो पुरोहित गोपीनाथ ने 'रोमियो एण्ड जूलियट' और 'ऐज यू लाइक इट' का अनुवाद 'प्रेम-लीला' और 'मनभावन' (१८९६) नाम से किया। पं० बद्रीनारायण ने 'किंग लियर' को अनूदित किया। रतनचन्द्र ने 'कामेडी आफ एरर्स' के अनुवाद का नाम 'भ्रमजालक' (१८८७) रखा। काशीनाथ खत्री ने भी शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया। जोसेफ एडीसन के 'केटो' नामक नाटक का अनुवाद तोताराम ने १८७९ मे 'केटो वृत्तांत' नाम

से किया। ये कोरे शाब्दिक अनुवाद नहीं हैं और अनुवादकों ने पर्याप्त स्वतंत्रता बरती है। कुछ नाटककारों ने नामों का भी भारतीयकरण कर दिया है।

७. जननाटक

भारतेन्दुजी ने अपने नाटक नामक निबन्ध में जिन्हें 'भ्रष्ट नाट'[1] से स्मरण किया है[2] ये जननाटक रासलीला, पारसी नाटक, स्वाँग, आदि भरपूर मात्रा में जनता में लोकप्रिय होते रहे और अपनी वृद्धि देखते रहे। फलत: इन जन-नाटकों की सख्या विरोध को देखते हुए भी बहुत अधिक मानी जायेगी। भारतेन्दुजी के पूर्व से स्वाँग लिखे जा रहे थे जिसका प्रमाण है १८५४ ई० में लिखा गया 'इश्क चमन।' इसके रचयिता हैं मुरादाबाद निवासी शालिग्राम।[3] भारतेन्दु-काल के कुछ स्वाँग नाटक हैं—उस्ताद इन्दर-कृत 'सागीत गोपीचन्द'। उस्ताद इन्दर और लक्ष्मण ने और अनेक स्वाँग नाटक लिखे। प० प्रताप-नारायण मिश्र ने भी 'सागीत शाकुन्तल' लिखा। मोहनलाल-कृत 'वैश्य नाटक' (१८६३), मुशी रमजान-कृत 'लैला-मजनू', महाराजदीन दीक्षित-कृत 'प्रह्लाद-चरित्र' नाटक (१६००) भी स्वाँग-नाटक हैं। स्वाँग-नाटकों की सख्या बहुत है। ये इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। पारसी शैली के नाटकों की सख्या स्वाँग नाटकों से भी अधिक है। हाफिज मुहम्मद, अब्दुल्ला, मिर्जा नजीरबेग, मोहम्मद मियाँ रौनक, जरीफ इत्यादि नाटककारों ने इस क्षेत्र को अनेक नाटकों से सम्पन्न किया। अकेले ज़रीफ ने २० नाटक लिखे। इनमें से नजीरबेग के नाटक हिन्दी के अधिक निकट हैं। उस युग में हरिश्चन्द्र की कथा को लेकर अनेक थियेट्रिकल नाटक लिखे गए। शेरअली का 'कत्ल हकीकत राय' (१८६६) भी एक पारसी थियेट्रिकल नाटक है।

८. प्रहसन

जन-नाटकों के अतिरिक्त इस काल में प्रहसनों के लिखने की विशेष परि-पाटी चली। प्रहसनों में व्यंगात्मक शैली में लेखक अपने सामाजिक एव राज-नीतिक विचार रखते थे। ये प्रहसन अभिनय और हास्य की दृष्टि से लिखे गए थे और थियेट्रिकल शैली पर थे, हाँ इनमें पारसी थियेट्रिकल शैली का भोंडा शृंगार नहीं है वरन् ये सोद्देश्य लिखे गए। प्रहसनों के नाम हैं—देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत 'जयनार सिंह की' (१८७६), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'शिक्षादान'

---

१. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य, प्र०सं०, पृ० २२४
२. वही, पृ० ७१६
३. वही, पृ० २४७

(१९९७), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'रक्षाबन्धन' (१८७८) 'स्त्री चरित्र' (१८७९). 'एक-एक के तीन-तीन' (१८७९), 'कलियुगी जनेऊ' (१८८६), 'बैल छै टके को', और 'सैंकडो में दस-दस', हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ-कृत 'ठगों की चपेट' (१८८४), पन्नालाल-कृत 'हास्यार्णव' (१८८५), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलिकौतुक रूपक' (१८८६), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुँह मुँहासे' (१८८६), रामशरणशर्मा-कृत 'अपूर्व रहस्य' (१८८८), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'तन-मन-धन गोसाईंजी के अर्पण' (१८९२), माधवप्रसाद-कृत 'हास्यार्णव का एक भाण' (१८९१), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'चौपट चपेट', वचनेश मिश्र-कृत 'हास्य' (१८९३), विजयानन्द-कृत 'महा अंधेरी नगरी' (१९९२), देवदत्त शर्मा-कृत 'अति अन्धेरी नगरी' (१८९५), राधाकान्त लाल-कृत 'देनी कुत्ता विलायती बोल' (१८९८), सूर्यनारायणसिंह कृत 'मुछन्दर सभा' (१८९८), नागर-कृत 'अप्रस्तुति प्रहसन' और राधाचरण गोस्वामी-कृत 'यमलोक की यात्रा', इस काल के कुछ अन्य प्रहसन हैं—'बग्गी की रपेट', 'सबके गुरु गोवर्धनदास' और 'मैं तुम्हारी ही हूँ'।

३

युग और पुरुष

कोई भी व्यक्ति युग से अछूता नहीं बचता। वरन् व्यक्ति का निर्माण अपने युग की परिस्थितियों से होता है और व्यक्ति की कृतियों में युग प्रतिबिम्बित हुआ करता है। किसी व्यक्ति की कृतियों के सम्यक् अध्ययन के लिए यह परमावश्यक है कि हम तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करें एवं उन परिस्थितियों के बीच में व्यक्ति के जीवन को पढ़ें। अतः हम तत्कालीन परिस्थितियों का सूक्ष्म सिंहावलोकन प्रस्तुत करेंगे।

भारतेन्दु-युग नवोत्थान एवं जागरण का काल है। इस युग में अनेक सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं और आन्दोलनों ने जन्म लिया, विकास पाया एवं हिन्दू जीवन को झकझोरा। इनमें प्रधान हैं ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन एवं थियोसॉफीकल सोसाइटी। ब्रह्मसमाज के संस्थापक हैं—प्रसिद्ध समाज-सुधारक राजा राममोहन राय (१७७२-१८३२)। राजा राममोहन राय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना १८१८ ई० में की थी। राजा राममोहन राय के बाद देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन और महादेव गोविन्द रानाडे ने इस बिरवे को सींचा। ब्रह्मसमाज ने तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों—बाल-विवाह, पुनर्जन्म-विश्वास, जातिभेद, बहु-विवाह, पर्दा-प्रथा इत्यादि का जोरदार विरोध किया एवं स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, अंग्रेजी शिक्षा तथा समुद्र-यात्रा का प्रबल समर्थन किया। ब्रह्मसमाज के अनुयायियों में अंग्रेजी प्रभाववश मद्य-मांस का छिपे-छिपे प्रचार हो गया और ब्रह्मसमाजी ब्राह्मण-द्रोह अपनाने लगे। इस युग की प्रखर आन्दोलन-संस्था थी 'आर्यसमाज'—जिसके संस्थापक थे स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३)। स्वामीजी वेद, उपनिषद, शास्त्र एवं पुराणों के प्रकाण्ड पंडित थे। गुजराती होते हुए भी देश-भ्रमण से उन्हें विश्वास हो गया कि भारत-भूभाग की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है। अतः उन्होंने अपने सब ग्रन्थ हिन्दी (आर्यभाषा) में लिखे एवं हिंदी

के प्रचार-प्रसार में तन-मन से जुट गए। राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द की कार्य-शैली में अन्तर आ गया यद्यपि दोनों एक ही युग के समाज-सुधारक थे। राजासाहब की दृष्टि पश्चिम की ओर थी जबकि स्वामीजी वैदिक भारत को सदा सामने रखते थे। आर्यसमाज वेदों को ही धर्मग्रन्थ मानता है और पुराणों का विरोध करता है। आर्यसमाज ने शास्त्रार्थ-प्रणाली को अपनाया। आर्यसमाज ने बाल-विवाह, जन्मपत्री मिलान, छूतछात, मूर्ति-पूजा, देवी-देवता एवं पीर-पैगम्बर—विश्वास का विरोध किया और विधवा-विवाह, परदेशगमन, स्त्री-शिक्षा एवं ब्रह्मचर्य का समर्थन किया। आर्यसमाज ने हिन्दू ऐक्य का प्रश्न उठाया और मुस्लिम-विरोध में अपना बल लगा दिया। वैसे तो इसने ईसाई धर्म एवं बाइबिल का भी विरोध किया, हिन्दुओं के पुराणों की भी खिल्ली उड़ाई किन्तु तीव्रता आई मुस्लिम एवं कुरान-विरोध में। इस मुस्लिम-विरोध के दो कारण थे—मुस्लिम काल में हिन्दुओं पर आघात हुआ था और मुसलमान हिन्दुओं को धर्मभ्रष्ट कर रहे थे।

रामकृष्णमिशन एवं थियोसॉफिकल सोसाइटी की स्थापना भी इसी युग में हुई। स्वामी रामकृष्ण परमहंस (१८३४-१८८६) एक बड़े भक्त एवं साधक थे। इनके प्रधान शिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२) ने अपने गुरु के नाम पर इस 'मिशन' की स्थापना की। मिशन में ब्रह्मसमाज या आर्यसमाज की तीक्ष्णता एवं उग्रता न थी, वरन् यह एक शीतल आध्यात्मिक संस्था के रूप में सामने आया जिसमें उपासना को प्रधानता प्राप्त हुई। परमहंस का किसी देवी-देवता से विरोध न था यद्यपि वे स्वयं शक्ति के उपासक थे। थियोसॉफिकल सोसाइटी की स्थापना १८७५ ई० में अमेरिका में हुई। इसके संस्थापक थे मैडम ब्लेवटस्की एवं कर्नल आल्कोट। ये दोनों १८७९ ई० में भारतवर्ष आए और १८८६ ई० में इन्होंने अड्यार (मद्रास) को अपना केन्द्र बनाया। धीरे-धीरे थियोसॉफिकल सोसाइटी प्रगति करती गई। श्रीमती एनीबेसेंट ने १८८६ ई० में इस सोसाइटी में प्रवेश किया और सोसाइटी को चमका दिया। श्री गोपालकृष्ण गोखले एवं ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने सोसाइटी को आगे बढ़ाया। सोसाइटी में योग-क्रियाओं को स्थान प्राप्त है। भारतीय संस्कृति में सोसाइटी का अटूट विश्वास है। सोसाइटी की दृष्टि में सभी धर्म समान हैं। सोसाइटी के सदस्य पुराणों की बुद्धिपरक व्याख्या करते हैं।

इन मुख्य सामाजिक संस्थाओं के अतिरिक्त सत्य समाज शोधक, प्रियतम धर्म सभा, शैव साधक अधिकारीवर्ग, राधा-स्वामी सम्प्रदाय-जैसी छोटी-छोटी संस्थाओं ने भी कुछ सिर उठाया था। भारतेन्दुजी इन सामाजिक आन्दोलनों एवं संस्थाओं से प्रभावित हुए थे। उन्होंने इन संस्थाओं से प्रेरणा पाई, इनकी कुछ बातों का समर्थन किया और कुछ बातों का विरोध। ब्रह्मसमाज एवं आर्यसमाज के बाल-विवाह, छूत-छात, बहु-विवाह, एवं समुद्र-यात्रा निषेध के

विरोध से वे प्रभावित हुए। यह प्रभाव भारत-दुर्दशा में स्पष्ट है। १८७१ ई० में जब ब्रह्मसमाज ने विधवा-विवाह का आन्दोलन बंगाल में चलाया था तो भारतेन्दुजी ने इसका समर्थन किया था, एवं काशी के पंडितों की सम्मति इस के पक्ष में भिजवाई थी। बा० केशवचन्द्र सेन ने इस कष्ट के लिए भारतेन्दुजी को धन्यवाद-पत्र भी लिखा था।[1] ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज एवं थियोसॉफिकल सोसाइटी ने स्त्री-शिक्षा के पक्ष में आन्दोलन किया। भारतेन्दुजी ने भी इसका समर्थन किया। अपनी पुत्री को भारतेन्दुजी ने पढ़ाया यद्यपि वह सदा अस्वस्थ रहती थी। स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन देना उन्होंने अपना लक्ष्य बना लिया था। जब कभी भारत के किसी कोने में, मद्रास, बंगाल या बम्बई, कहीं भी, स्त्रियाँ परीक्षा पास करती एवं भारतेन्दुजी को ज्ञात हो जाता तो वे उनके पास बनारसी साड़ियाँ पुरस्कार-स्वरूप भेज देते थे। स्त्री-शिक्षा के प्रोत्साहन के ही लिए भारतेन्दुजी ने १८७४ में 'बालाबोधिनी' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। उन्होंने 'स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी' अनेक पुस्तकें लिखी थीं। अंग्रेज रमणियों के अनुकरण पर भारतीय स्त्रियों को प्रोत्साहन एवं साहस देने के निमित्त भारतेन्दु बाबू ने 'नील देवी' नाटक लिखा।

ब्रह्मसमाज ने अंग्रेजी का पक्ष लिया था तो आर्यसमाज ने हिन्दी-संस्कृत का। आर्यसमाज की प्रेरणा एवं शिक्षा के प्रसार ने लोगों को संस्कृत की ओर उन्मुख किया एवं संस्कृत-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में कुछ तीव्रता आई। संस्कृत को विद्यालयों में स्थान मिला। भारतेन्दुजी ने भी संस्कृत नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया एवं संस्कृत नाट्यशास्त्र के कुछ उपयोगी नियम हिन्दी वालों के लिए 'नाटक' नामक निबंध में सुगम बनाए। गुजराती होते हुए भी स्वामी दयानन्द ने हिन्दी का प्रचार किया। भारतेन्दु जी हिन्दी के श्रेष्ठ सपूत थे, अतः उन्होंने तो अपने जीवन का परमलक्ष्य हिन्दी प्रसार बना लिया था। कचहरियों में हिन्दी को स्थान प्राप्त हो, इस आन्दोलन में भारतेन्दुजी ने स्वामी दयानन्द का साथ दिया था। हिन्दी जगत् भारतेन्दुजी का चिर ऋणी उसी प्रकार रहेगा जिस प्रकार वह तुलसी का है। भारतेन्दुजी ने अपना तन, मन और धन हिन्दी सेवा के प्रति अर्पित कर दिया। उन्होंने केवल हिन्दी में ग्रन्थों का निर्माण ही नहीं किया वरन् हिन्दी के सभी प्रचार-कार्यों में हाथ बँटाया।

ब्रह्मसमाज एवं आर्यसमाज विवाह के समय जन्मपत्री मिलाने के विरोधी थे। भारतेन्दुजी ने भी जन्मपत्री मिलाने का विरोध 'भारत-दुर्दशा' में किया है। थियोसॉफिकल सोसाइटी को छोड़कर शेष सब आन्दोलन हिन्दू हितों को दृष्टि में रखकर आरम्भ हुए थे। आर्यसमाज सबसे अधिक हिन्दुत्व का समर्थक

---

१. हरिश्चन्द्र : ले० शिवनन्दन सहाय, प्र० सं०, पृ० ६०

था और इस्लाम मत का विरोधी। इसके कारण थे, मुस्लिम काल में हिन्दुओं पर कठोर आघात हुए थे और भारतेन्दु-युग में भी मुसलमान एवं हिन्दुओं का संघर्ष जारी था।[1] भारतेन्दुजी ने मुस्लिम अत्याचारों की वार्ताएँ बचपन से सुनी थीं। उधर इन आन्दोलनों का प्रभाव भी पड़ा था। फलत: उनका दृष्टिकोण शुद्ध हिन्दुत्वपरक बन गया था और वे मुस्लिम शासन-विरोधी स्वर उठा रहे थे। उनका यह स्वर और दृष्टिकोण उनके नाटकों 'भारत-दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी', 'भारत जननी' एवं 'नील देवी' में दिखाई देते हैं। तत्कालीन अन्य नाटककारों में भी यही बात प्राप्त होती है।

भारतेन्दुजी काशी-वासी थे। काशी की भलाई-बुराई वे जन्म से देख रहे और सुन रहे थे जो 'प्रेमजोगिनी' में प्रकट हुई है। ब्रह्मसमाज एवं आर्यसमाज विधवा-विवाह के पोषक थे। भारतेन्दुजी भी कहते थे कि विधवाओं का पुन-र्विवाह प्रचलित होना चाहिए।[2] भारतेन्दुजी के पूर्वज वल्लभ सम्प्रदायी थे और कृष्ण के उपासक थे। भारतेन्दु ने भी इसी उपासना-प्रवृत्ति को ग्रहण किया जो 'चन्द्रावली नाटिका', अन्य पुस्तकों[3], कविताओं एवं पदों में व्यक्त हुई है। भारतेन्दुजी धनी परिवार में पैदा हुए थे। यह परिवार अपने दान-पुण्य के लिए प्रसिद्ध था। भारतेन्दुजी में भी दान-पुण्य की प्रवृत्ति बड़ी मात्रा में थी। १८७२ ई० में जब खान देश में प्रलयकारी बाढ़ ने क़यामत ढाई तो भारतेन्दुजी ने बड़ी सहायता की। अर्थसंकट के समय भी भारतेन्दुजी की यह प्रवृत्ति बराबर बनी रही। एक दिन एक भिखारी गिड़गिड़ाया। भारतेन्दुजी ने अपना शाल उतारकर दे दिया क्योंकि रुपया न था। भाई ने समाचार सुना तो दौड़े-दौड़े भिखारी के पास गए और कुछ देकर शाल वापस ले आए। भारतेन्दुजी में गुप्त दान की प्रवृत्ति बहुत थी। वे नोटों को लिफाफे में रखकर पुड़िया बाँध लेते थे और याचक के हाथ में चुपके से पकड़ा देते थे। एक बार एक अन्धे भिखारी को पाँच रुपये का नोट गजरे से ढक कर दे दिया। सहसा नौकर की नजर पड़ गई। भारतेन्दुजी के जाने के बाद नौकर उठा लाया। एक ब्राह्मण अपनी पुत्री के विवाह में सहायता माँगने आया। वह अपनी याचना एकान्त में कहना चाहता था, परन्तु भारतेन्दु बाबू के पास बराबर भीड़ लगी हुई थी। भीड़ समाप्त होते ही बाबू साहब उठकर स्नानागार की ओर चल दिए। बेचारा ब्राह्मण देखता ही रह गया। वह अपनी इच्छा व्यक्त करने का अवसर ही न पा सका। उसकी आँखों में आँसू आ गए। बाबू साहब तुरन्त

---

१. रामलीला विजय नाटक—ले० वैद्य बलदेवप्रसाद।
२. विधवा-विवाह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो (भा० दुर्दशा)।
३. उत्तर भक्तमाल, तदीय सर्वस्व, वैष्णवता और भारतवर्ष, भक्त सर्वस्व, वैष्णव सर्वस्व, वल्लभीय सर्वस्व, भक्तिसूत्र वैजयन्ती।

एक सन्दूकची के साथ लौटे। ब्राह्मण हाथ जोड़ कहने लगा—सरकार, मैं एक याचना...भारतेन्दुजी ने बीच मे टोककर कहा—बस, बस कुछ न कहो। घर जाकर सन्दूकची खोलना। हर्ष और कृतज्ञता के आँसू बरसाता ब्राह्मण घर पहुँचा। उसने सन्दूकची खोली। उसके आश्चर्य का वारापार न था जब उसने उसमे साड़ियाँ एव २०० रु० के नोट पाए। ऐसे सैकड़ो उदाहरण भारतेन्दुजी के जीवन मे भरे पडे हैं। यह दानशीलता 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' मे प्रतिबिम्बित है।

प्रकृति एवं संस्कारो से भी भारतेन्दुजी को तीन गुण मिले थे। वे तीन गुण है—सत्यवादिता, परिहासप्रियता और काव्य-शक्ति। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक की यह पंक्ति—

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ श्री हरिश्चन्द्र को, टरै न सत्य विचार॥

राजा हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र दोनो पर लागू होती है। भारतेन्दुजी के मित्र प० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने कहा था—

जो गुण नृप हरिचन्द मे, जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचन्द मे लखहु प्रतच्छ सुजान॥[1]

जीवन-भर भारतेन्दुजी ने यदि किसी अपथ्य से बडा परहेज किया तो असत्य से, चाहे इसके लिए उन्हे कितने ही कष्ट क्यो न सहने पडे। भारतेन्दुजी ने आवश्यकतावश एक भलेमानुस से कुछ रुपये उधार लेकर तीन सहस्र की हुडी लिख दी। अर्थसंकट की अवस्था मे उस मनुष्य ने सूद रहित तीन सहस्र का दावा कर दिया। उस समय काशी मे सर सय्यद सदर आला थे। उन्होने भारतेन्दु बाबू को अकेले मे बुलाकर पूछा—आपने असल मे कितने रुपये पाए थे? बाबू साहब ने बिना सोचे उत्तर दिया—पूरे रुपये। सय्यद साहब ने बहुत समझाया कि आप कह दीजिए कि कागज झूठा लिखा गया था और मैं इतने रुपये न दूंगा। भारतेन्दुजी ने कहा—नही, मैं झूठ नही बोल सकता और उन्होने इजलास मे कहा— "मैं धर्म और सत्य को साधारण धन के लिए नही बिगाडने का। मुझसे इस महाजन ने जबर्दस्ती हुण्डी नही लिखाई न और मैं बच्चा ही था कि समझता न था। जब मैंने अपनी गरज से समझ-बूझकर उसका मूल्य तथा नजराना आदि स्वीकार कर लिया तो क्या मैं अब देने के भय से उस सत्य को भग कर दूं।"[1] यही कारण है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक मे भारतेन्दु जी की आत्मा ही साँस लेती है।

भारतेन्दुजी मे हास्य-विनोद की प्रवृत्ति पूरी मात्रा मे आ भरी थी। बचपन मे दीवारो पर फासफोरस से वे डरावनी मूर्तियाँ लिख देते थे। अन्धेरे मे

---

१. हरिश्चन्द्र—बा० शिवनन्दन सहाय, पृ० ३२८

जब वे मूर्तियाँ चमकती और स्त्री-पुरुष उन्हें देखकर घबड़ा जाते तो छिपे बाबू साहब खूब हँसते थे। एक बार भाई को कुछ बताकर ये जगन्नाथ भगवान् की विशाल फूल-टोपी में प्रवेश कर बैठ गए। भाई ने लोगों से घोषणा की—देखो, देखो, जगन्नाथजी की टोपी चलेगी। सैकड़ों मनुष्य श्रद्धा से झुक गए जब टोपी चलने लगी। होली और पहली अप्रैल को भारतेन्दु बाबू विशेष विनोद-भरे कौतुक किया करते थे। एक बार पहली अप्रैल को आपने सूचना पत्र छपवाकर बँटवा दिए जिसमें विज्ञापित था कि विजयनगर की कोठी में एक यूरोपीय विद्वान् अलौकिक चमत्कार प्रदर्शित करेगा। वह मंत्र एवं विज्ञान की शक्ति से सूर्य और चन्द्र को पकड़कर पृथ्वी मे खींच लाएगा। जिसे सूर्य और चन्द्र भगवान् के दर्शन करने हैं वहाँ आ जावे। कोई टिकट नहीं है। सहस्रों व्यक्ति वहाँ पहुँचे। पर वहाँ क्या रखा था, कागज पर मोटे अक्षरों में पहली अप्रैल खडी थी। इसी प्रकार एक बार आपने विज्ञापन बँटवाया कि हरिश्चन्द्र स्कूल में संसार के सबसे प्रसिद्ध गवैये का गाना होगा। उसका गाना सुनकर हिरन और सर्प एकत्र हो जाते हैं, दीपक जल उठते हैं और वर्षा होने लगती है। सहस्रों की भीड एकत्र हो गई। ठीक समय पर एक पर्दा उठा और एक मसखरा लम्बी विदूषक की टोपी ओढे उल्टा तानपूरा लिए दिखाई पड़ा जो गधे का अनुकरण कर रहा था। मोटे अक्षरों में लिखा था—'पहली अप्रैल है। मसखरे के रूप मे स्वयं भारतेन्दुजी थे। पहली अप्रैल के एक अन्य अवसर पर आपने काशी नगरी में डोडी पिटवाई कि कल रामनगर के घाट पर एक मेम खडाऊँ पर चढकर गंगा पार जाएगी। डोंडी पं० रामशंकरजी के नाम से पिटवाई गई थी। बडा भारी मेला लग गया। ठीक समय पर एक कागज पर मोटे अक्षरो मे लिखा हुआ लोगों ने पढा—आज पहली अप्रैल है। बुरा न मानना। होली के अवसरो पर भी अनेक कौतुक किए जाते थे। एक बार पेनी रीडिंग क्लब की बैठक होने वाली थी। समय पर भारतेन्दुजी के अतिरिक्त सब सदस्य आ चुके थे। सहसा एक श्रांत पथिक आया जो सिर पर भारी गठरी लिए था। पसीने मे तर था। पैर फैलाकर वह सुस्ताने लगा। भारतेन्दुजी के इस श्रांत पथिक के स्वाँग से सदस्य बड़े प्रसन्न हुए। इसी प्रकार एक बार भारतेन्दुजी ने 'चूसा पैगम्बर' का स्वाँग बनाया। सिर नंगा था, जरी की कफनी पहनी हुई थी, एक चौकी पर रंग-बिरंगी शर्बतों की बोतल सजाकर चूसा पैगम्बर खड़े थे। पं० चिन्तामणि राव घड़फल्ले तथा पं० माणिक्यलाल जोशी चेलों के रूप में दोनों ओर चँवर झल रहे थे। चूसा पैगम्बर के रूप मे भारतेन्दुजी कागजों का एक पुलिंदा खोलते जाते थे और उपदेश झाड़ते जाते थे। विनोदी स्वभाव होने से हाजिर-जवाबी और व्यंग्यपटुता भारतेन्दुजी में कूट-कूट कर भरी थी। एक बार अपने श्वसुर की मृत्यु के दसवें दिन 'दशाह' के अवसर पर भारतेन्दुजी कुछ देर से पहुँचे तो शाह माधोजी बाबू साहब

की भर्त्सना करने लगे। बाबू हरिश्चन्द्र चुपचाप पास ही में लघु शंका करने बैठ गए। माधोजी बोले—श्वसुर का नाम लेते चलो। भारतेन्दुजी माधोजी के पूर्वजों का नाम ले-लेकर कहने लगे 'तृप्यन्ताम्'। माधोजी खीजकर बोले—बड़े धूर्त हो, तुम से कौन लगे। काशी में एक दक्षिण के वैयाकरणी ब्राह्मण आए। वे व्याकरण की सहायता से किसी भी भाषा के शब्द की झट व्युत्पत्ति करके अर्थ निकाल देते थे। भारतेन्दुजी ने कहा—मेरे शब्द का भी अर्थ निकालिए और झट से काशी के गुण्डों की बोली में एक गाली 'भापोक' जोर से पढ़ डाली। बेचारे दक्षिणी ब्राह्मण खिसिया से गए और चुप रह गए। उनकी यह हास्य-प्रियता एवं व्यंग्य-वृत्ति नाटकों में सर्वत्र प्रतिबिम्बित है, विशेषतः 'भारत-दुर्दशा', 'अन्धेरी नगरी', 'प्रेमयोगिनी', 'कर्पूर मजरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्' एवं 'विद्यासुन्दर' में। 'कर्पूर मञ्जरी' एवं 'विद्यासुन्दर' में जो भोंडा हास प्राप्त होता है, उसकी पुष्टि भी ऊपर के उदाहरणों के प्रकाश में हो जाती है।

भारतेन्दुजी में काव्य-प्रतिभा विशेष मात्रा में थी। उनके पिता भी अच्छे कवि थे जिन्होंने चालीस ग्रन्थ रचे थे। भारतेन्दुजी बचपन से ही कविता करने लगे थे। पाँच वर्ष की अवस्था में बाल-कवि हरिश्चन्द्र ने यह दोहा बनाया था—

लै ब्योंडा ठाढ़े भये श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सैन को हनन लगे भगवान॥

एक दिन भारतेन्दुजी के पिता बाबू गोपालचन्द्रजी द्वारा रचित काव्य-ग्रन्थ "कच्छप कथामृत" के एक सोरठे की चर्चा सुहृद मंडली में हो रही थी। कई कवि एवं विद्वान् उपस्थित थे। सोरठे की एक पंक्ति के अर्थ पर विचार हो रहा था। सोरठे की वह पंक्ति है—करन चहत जस चारु कछु कछुवा भगवान को। एक विज्ञ बोले—इसका अर्थ है "वा भगवान् को कछु कछु चारु यश करन चहत।" दूसरे बोले—नहीं, इसका अर्थ यह है—कछु आ भगवान् को कछु चारु जस करन चहत।" इसी समय बालक हरिश्चन्द्र वहाँ आ पहुँचा। उसने चर्चा सुन ली थी। वह बोला—पिताजी, मैं भी अर्थ करूँ। पिता ने हर्षित हो कहा—हाँ, हाँ, बेटा, अवश्य अर्थ करो। बालक बोला—वा (उस) भगवान का जिसको आपने कछुक छुआ है, उसी का जस वर्णन करना चाहते हैं" (वा भगवान को कछुक छुआ, (वाको) जस करन चहत)। सभी बैठे व्यक्ति आनन्द से उछल पड़े और वाहवाही की झड़ी लग गई। बालक हरिश्चन्द्र ११-१२ वर्ष की अवस्था में हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत की समस्या पूर्ति भी करते थे। एक बार पिताजी की विद्वत् गोष्ठी में १२ वर्षीय बालक हरिश्चन्द्र ने तर्क दिया था कि वात्सल्य, सख्य, भक्ति एवं आनन्द को भी रस माना जाना चाहिए। बालक ने ऐसे पुष्ट तर्क दिए कि काशी-नरेश की सभा

के प्रसिद्ध पंडित ताराचरण तर्करत्न को भी यह बात माननी पड़ी थी। बाल्यावस्था का उनका सबसे पहला पद यह है—

"हम तो मोल लिये या घर के।
दास-दास श्री वल्लभ कुल के चाकर राधा वर के।
माता श्री राधिका पिता हरि बन्धु दास गुन करके।
हरीचन्द तुम्हरे ही कहावत नहि विधि के नहि हर के।"

१४ वर्ष की अवस्था में काशी-नरेश की सभा में पं० ताराचरण तर्करत्न की दी समस्या "तू वृथा मन क्यों अभिलाष करै" को कुमार हरिश्चन्द्र ने इस प्रकार पूर्ण किया था

जबतें बिछुरे नन्द नन्दन जू तबतें हिय में विरहागि बरै।
दुख भारे बढ़यो सो कहो किहि सों हरिचन्द को...के दुख हरै।।
वह द्वारिका जाकै राज करै हमें पूछिहैं क्यों यह सोच परै।
मिलिबो उनको सपनु भेल नहीं तू वृथा मन क्यों अभिलाष करै।।

हरिश्चन्द्रजी की यह काव्य-प्रतिभा दिन दुगुनी और रात चौगुनी होती गई। वे चार मिनट में कठिन समस्या की पूर्ति कर देते थे। ८ दिसम्बर १८८२ को भारतेन्दुजी उदयपुर में थे। वहाँ महाराणा सज्जनसिंहजी की स्नान सभा में काव्य-चर्चा छिड़ी। उस सभा में उपस्थित कवि जयकरणजी ने दो समस्याएँ प्रस्तुत की, बारेट कृष्णसिंहजी ने भी दो समस्याएँ दी और श्रीमान् महाराणाजी ने तीन समस्याएँ बताई। भारतेन्दुजी की आशुकवित्व शक्ति की कठिन परीक्षा थी। समस्याएँ एक-से-एक क्लिष्ट थी। किन्तु भारतेन्दु जी ने तीन समस्याएँ बताई। भारतेन्दुजी ने प्रत्येक समस्या-पूर्ति में केवल चार मिनट लिए और इतने सुन्दर, सरस एव मनहर छन्द बनाए कि सभी ने साधुवाद दिया और महाराणा साहब ने दो 'खिलत'। इनमें से एक क्लिष्ट समस्या थी "आस ना तिहारे ये निवासी कल्प तरु के" इसे कविवर जयकरणजी ने दिया था और यह भी शर्त रख दी थी कि आप पर अन्योक्ति के रूप में समस्या-पूर्ति होगी। बाबू हरिश्चन्द्रजी ने चार मिनट में इसकी पूर्ति निम्न छन्द में की थी जिसमें अपनी स्वतन्त्र प्रकृति का भी परिचय दे दिया था—

राधा स्याम सेवैं सदा वृन्दावन बास करें
रहै निहचिन्त पद आस गुरु वर के
चाहैं धन धाम ना आराम सो है काम
हरिचन्द जू भरोसे रहैं नन्द राम घर के
एरे नीच धनी हमैं तेज तू दिखावै कहा
गज परवाही नाहि होहि कबौ खर के
होइ लै रसाल तू भलेई जग जीव काज
आस ना तिहारे ये निवासी कल्प तरु के।

कवि जयकरणजी की बोलती बन्द हो गई। ऐसी ही एक घटना काशी-नरेश के दरबार में घटी। काशी-नरेश ने अत्यन्त कठिन समस्या कवियों के सामने फेंक दी। कविपुंगव घबड़ाकर बगलें झाँकने लगे। काशी-नरेश ने बाबू साहब की ओर ताका। तुरन्त बाबू साहब ने समस्या की पूर्ति कर दी। एक कविजी बोल उठे—वाह, पुरानी कविता याद थी सो सुना दी। बाबू साहब को कुछ क्रोध आ गया और ताबड़तोड़ एक के बाद दूसरी पूर्ति सुनाते गए और कवि जी पूछते गए—क्यों कविजी, है ना नई। इस प्रकार दस-बारह नवीन छन्द सुना डाले। कविजी के होश फाख्ता थे।

काव्य-चर्चा निमित्त ही बाबू हरिश्चन्द्र ने कवितावर्द्धिनी सभा स्थापित की थी। सभा की गोष्ठियों में समस्या-पूर्ति होती थी एवं समय-समय पर स्वरचित कविताओं का पाठ होता था। इस सभा में सरदार, दीनदयाल गिरि, मन्नालाल द्विज, दुर्गादत्त गौड़, नारायण, हनुमान, व्यास गणेशराम, पं० अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि अनेक कवि भाग लेते थे। भारतेन्दुजी ने 'कविवचन सुधा' पत्र निकाला। यह पहले मासिक था, पुन पाक्षिक बन गया और फिर इसने पाक्षिक से साप्ताहिक रूप पकड़ लिया था। इसके प्रत्येक संस्करण में भारतेन्दुजी की कविता अवश्य छपती थी। भारतेन्दुजी उर्दू में भी बड़ी सरस शायरी करते थे। इसी काव्य-प्रतिभा का परिणाम था कि भारतेन्दुजी ने काव्य-ग्रन्थों का ढेर लगा दिया था। भारतेन्दुजी स्वयं कवि थे और कवियों का आदर भी बहुत करते थे। गुणियों के लिए उनका घर का द्वार सदा खुला था। उन्होंने 'भारत-दुर्दशा' में ठीक ही कहा है "तवंगरी बदिलस्त न बमालस्त"। रईसत दिल की होती है, माल की नहीं। वास्तव में भारतेन्दुजी दिल से राजा थे। गुणी को देखकर वे सब-कुछ देने को प्रस्तुत हो जाते थे। अपने विषय में वे स्वयं कहते हैं "सेवक गुनी जन के चाकर चतुर के हैं, कविन के मीत चित हित गुन गानी के" यह पंक्ति उनके जीवन में प्रतिपल प्रतिबिंबित होती थी। एक बार सुधाकर द्विवेदी के साथ राजघाट पर बन रहे पुल को देखने गए। पुल देखकर द्विवेदीजी बोले—

राजघाट पर बँधत पुल जहँ कुलीन को ढेर।
आज गए कल देखि कै आजहि लौटे फेर।

भारतेन्दुजी सरल पर अलङ्कृत दोहे पर फूल उठे, और १०० रु० पुरस्कार के दे डाले। ये रुपये किसी बड़े आवश्यक कार्य के लिए रक्खे थे। चरखारी निवासी पं० परमानन्द ने बिहारी सतसई का संस्कृत अनुवाद 'शृंगार सप्तशतिका' नाम से किया। वे इस ग्रन्थ को लेकर बड़े-बड़े राजा-रईसों के पास पहुँचे। सब ने देखा और वापस लौटा दिया, "कोई महादेव का वाहन निकला तो किसी ने खाली वाहवाही दी।" पंडितजी की पुत्री का विवाह निकट था जिसके लिए धन की आवश्यकता थी। परन्तु धन के नाम पर किसी ने कुछ न

दिया-दो चार रुपये टालने के लिए भले ही दे दिए। भारतेन्दुजी ने जब इस ग्रन्थ को देखा तो तुरन्त ५०० रुपये और एक बनारसी दुपट्टा दिया। यही नही उन्होंने २०० रुपये अपने मित्रो से दिलाए। इस प्रकार पंडितजी को प्रति दोहा एक रुपया प्राप्त हो गया। एक बार रामकटोरा बाग में कवि-सम्मेलन हुआ। बाग के भीतर ही रसद एव हलवाई की दूकानें भारतेन्दुजी ने खुलवा दी थी। यह कवि-सम्मेलन कई दिनों तक चलता रहा। कवियों को विशाल समादार देने वाला भारतेन्दुजी का कवि-हृदय उनके नाटकों में सर्वत्र प्रकट हुआ है। यही नही इसी काव्यानुराग-प्रवृत्ति के कारण उनके नाटक कविता से बोझिल बन गए हैं—क्योंकि उनका कवि-हृदय नाटककार से प्रबलतर था।

भारतेन्दुजी के राष्ट्रीय दृष्टिकोण को समझने के लिए आवश्यक है कि तत्कालीन राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की कुछ जानकारी प्राप्त करें। अंग्रेजी नीति के असंतोष ने १८५७ में विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित की। भारतेन्दु जी उस समय ७ वर्ष के थे। यह विद्रोह बुरी तरह दबा दिया गया। आज इस पर विचार-विभिन्नता है कि इसे सिपाही विद्रोह कहा जाय या भारतीय स्वतंत्रता के प्राप्तयर्थ राष्ट्रीय आन्दोलन। बड़े आश्चर्य की बात है कि छोटी-छोटी तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण करने वाले नाटककार इस सम्बन्ध में मौन हैं। केवल दो-चार अस्त-व्यस्त सकेत मात्र प्राप्त होते हैं। तत्कालीन अनेक नाटककारों एवं कवियों ने इस आंधी को देखा था और इसका अनुभव किया था, सुना तो अवश्य ही था। भारतेन्दुजी विद्रोह के समय ७ वर्ष के थे। उन्होंने बालकपन में इसे देखा था। बाद में इसके विषय में सुना तो बहुत होगा। मुरादाबाद निवासी शालिग्राम ने १८५४ में शृगार से लबरेज स्वांग-नाटक 'इश्क चमन' लिखा था। यह युवावस्था की कृति हो सकती है। १८५७ के विद्रोह के समय शालिग्रामजी अवश्य युवा थे। विद्रोह के बाद उन्होंने अनेक नाटक लिखे।[1] किन्तु कहीं भी एक शब्द भी १८५७ के विद्रोह या आन्दोलन के विषय में नही लिखा। राजा लक्ष्मणसिंह तो सरकारी नौकर थे, अतः वे तो अंग्रेजों के विरोध में कुछ न लिख सकते थे। किन्तु भारतेन्दुजी, शालिग्राम, दामोदर शास्त्री इत्यादि के लिए ऐसी बात न थी। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इन नाटककारों ने कुछ भी १८५७ के संघर्ष के विषय में नही कहा है। जो दो-चार सकेत प्राप्त होते हैं वे १८५७ की आंधी को गदर या विद्रोह ही बताते हैं। अंबिकादत्त व्यास ने इसे गदर कहा है "मैंने दैव संयोग किसी-किसी उद्योग से एक बेर गदर करवा दी।" (अंबिकादत्त व्यास-कृत भारत सौभाग्य दृश्य १, पृ० ५)। प्रेमघनजी ने अपने नाटक भारत सौभाग्य में इसकी चर्चा अधिक विस्तार से की है। उन्होंने बताया है कि हिन्दू-मुसलमान सैनिकों

१. मोरध्वज, लावण्यवती सुदर्शन, अभिमन्यु, पुरुविक्रम, अर्जुन मद-मर्दन।

कवि जयकरणजी की बोलती बन्द हो गई। ऐसी ही एक घटना काशी-नरेश के दरबार में घटी। काशी-नरेश ने अत्यन्त कठिन समस्या कवियों के सामने फेंक दी। कविपुंगव घबड़ाकर बगलें झाँकने लगे। काशी-नरेश ने बाबू साहब की ओर ताका। तुरन्त बाबू साहब ने समस्या की पूर्ति कर दी। एक कविजी बोल उठे—वाह, पुरानी कविता याद थी सो सुना दी। बाबू साहब को कुछ क्रोध आ गया और ताबड़तोड़ एक के बाद दूसरी पूर्ति सुनाते गए और कवि जी पूछते गए—क्यों कविजी, है ना नई। इस प्रकार दस-बारह नवीन छन्द सुना डाले। कविजी के होश फाख्ता थे।

काव्य-चर्चा निमित्त ही बाबू हरिश्चन्द्र ने कवितावर्द्धिनी सभा स्थापित की थी। सभा की गोष्ठियों में समस्या-पूर्ति होती थी एवं समय-समय पर स्वरचित कविताओं का पाठ होता था। इस सभा में सरदार, दीनदयाल गिरि, मन्नालाल द्विज, दुर्गादत्त गौड़, नारायण, हनुमान, व्यास गणेशराम, पं० अंबिकादत्त व्यास इत्यादि अनेक कवि भाग लेते थे। भारतेन्दुजी ने 'कविवचन सुधा' पत्र निकाला। यह पहले साप्ताहिक था, पुनः पाक्षिक बन गया और फिर इसने पाक्षिक से मासिक रूप पकड़ लिया था। इसके प्रत्येक संस्करण में भारतेन्दुजी की कविता अवश्य छपती थी। भारतेन्दुजी उर्दू में भी बड़ी सरस शायरी करते थे। इसी काव्य-प्रतिभा का परिणाम था कि भारतेन्दुजी ने काव्य-ग्रन्थों का ढेर लगा दिया था। भारतेन्दुजी स्वयं कवि थे और कवियों का आदर भी बहुत करते थे। गुणियों के लिए उनका घर वा द्वार सदा खुला था। उन्होंने 'भारत-दुर्दशा' में ठीक ही कहा है "तवंगरी बदिलस्त न बमालस्त"। रईसत दिल की होती है, माल की नहीं। वास्तव में भारतेन्दुजी दिल से राजा थे। गुणी को देखकर वे सब-कुछ देने को प्रस्तुत हो जाते थे। अपने विषय में वे स्वयं कहते हैं *"सेवक गुनी जन के चाकर चतुर के हैं, कविन के मीत चित हित गुन गानी के"* यह पंक्ति उनके जीवन में प्रतिपल प्रतिबिंबित होती थी। एक बार सुधाकर द्विवेदी के साथ राजघाट पर बन रहे पुल को देखने गए। पुल देखकर द्विवेदीजी बोले—

राजघाट पर बँधत पुल जहँ कुलीन को ढेर।
आज गए कल देखि कै आजहि लौटे फेर।

भारतेन्दुजी सरल पर अलंकृत दोहे पर फूल उठे, और १०० रु० पुरस्कार के दे डाले। ये रुपये किसी बड़े आवश्यक कार्य के लिए रखे थे। चरखारी निवासी पं० परमानन्द ने बिहारी सतसई का संस्कृत अनुवाद 'शृंगार सप्तशतिका' नाम से किया। वे इस ग्रन्थ को लेकर बड़े-बड़े राजा-रईसों के पास पहुँचे। सब ने देखा और वापस लौटा दिया, "कोई महादेव का वाहन निकला तो किसी ने खाली वाहवाही दी।" पंडितजी की पुत्री का विवाह निकट था जिसके लिए धन की आवश्यकता थी। परन्तु धन के नाम पर किसी ने कुछ न

दिया-दो चार रुपये टालने के लिए भले ही दे दिए। भारतेन्दुजी ने जब इस ग्रन्थ को देखा तो तुरन्त ५०० रुपये और एक बनारसी दुपट्टा दिया। यही नहीं उन्होंने २०० रुपये अपने मित्रों से दिलाए। इस प्रकार पंडितजी को प्रति दोहा एक रुपया प्राप्त हो गया। एक बार रामकटोरा बाग में कवि-सम्मेलन हुआ। बाग के भीतर ही रसद एवं हलवाई की दूकानें भारतेन्दुजी ने खुलवा दी थीं। यह कवि-सम्मेलन कई दिनों तक चलता रहा। कवियों को विशाल सम्मान देने वाला भारतेन्दुजी का कवि-हृदय उनके नाटकों में सर्वत्र प्रकट हुआ है। यही नहीं इसी काव्यानुराग-प्रवृत्ति के कारण उनके नाटक कविता से बोझिल बन गए हैं—क्योंकि उनका कवि-हृदय नाटककार से प्रबलतर था।

भारतेन्दुजी के राष्ट्रीय दृष्टिकोण को समझने के लिए आवश्यक है कि तत्कालीन राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की कुछ जानकारी प्राप्त करें। अंग्रेजी नीति के असंतोष ने १८५७ में विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित की। भारतेन्दु जी उस समय ७ वर्ष के थे। यह विद्रोह बुरी तरह दबा दिया गया। आज इस पर विचार-विभिन्नता है कि इसे सिपाही विद्रोह कहा जाय या भारतीय स्वतंत्रता के प्राप्त्यर्थ राष्ट्रीय आन्दोलन। बड़े आश्चर्य की बात है कि छोटी-छोटी तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण करने वाले नाटककार इस सम्बन्ध में मौन हैं। केवल दो-चार अस्त-व्यस्त संकेत मात्र प्राप्त होते हैं। तत्कालीन अनेक नाटककारों एवं कवियों ने इस आँधी को देखा था और इसका अनुभव किया था, सुना तो अवश्य ही था। भारतेन्दुजी विद्रोह के समय ७ वर्ष के थे। उन्होंने बालकपन में इसे देखा था। बाद में इसके विषय में सुना तो बहुत होगा। मुरादाबाद निवासी शालिग्राम ने १८५४ में शृंगार से लबरेज स्वांग-नाटक 'इश्क चमन' लिखा था। यह युवावस्था की कृति हो सकती है। १८५७ के विद्रोह के समय शालिग्रामजी अवश्य युवा थे। विद्रोह के बाद उन्होंने अनेक नाटक लिखे।[1] किन्तु कहीं भी एक शब्द भी १८५७ के विद्रोह या आन्दोलन के विषय में नहीं लिखा। राजा लक्ष्मणसिंह तो सरकारी नौकर थे, अतः वे तो अंग्रेजों के विरोध में कुछ न लिख सकते थे। किन्तु भारतेन्दुजी, शालिग्राम, दामोदर शास्त्री इत्यादि के लिए ऐसी बात न थी। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इन नाटककारों ने कुछ भी १८५७ के संघर्ष के विषय में नहीं कहा है। जो दो-चार संकेत प्राप्त होते हैं वे १८५७ की आँधी को गदर या विद्रोह ही बताते हैं। अंबिकादत्त व्यास ने इसे गदर कहा है "मैंने दैव संयोग किसी-किसी उद्योग से एक बेर गदर करवा दी।" (अंबिकादत्त व्यास-कृत भारत सौभाग्य दृश्य १, पृ० ५)। प्रेमघनजी ने अपने नाटक भारत सौभाग्य में इसकी चर्चा अधिक विस्तार से की है। उन्होंने बताया है कि हिन्दू-मुसलमान सैनिकों

१. मोरध्वज, लावण्यवती सुदर्शन, अभिमन्यु, पुरुषविक्रम, अर्जुन मद-मर्दन।

से बन्दूक के टोंटे मने दाँतों से पकड़वाया जाता था। उन्होंने सोचा कि हमारा धर्म नष्ट हो रहा है। अतः उन्होने विद्रोह कर दिया (भारत सौभाग्य ३-३)। इसके बाद सैनिकों ने निरीह अंग्रेज स्त्री एवं बच्चों को निर्दयता से मारा (३-२)। समय आने पर अंग्रेजों ने इसका बदला इससे अधिक नृशंसता से चुकाया। दिल्ली में अंग्रेजों ने नादिरशाह से अधिक कत्लेआम किया (३-३)। नाटककार अंग्रेजों की सहायता करने वालों की निंदा भी करता है (३-४) और कहता है कि इस विद्रोह में कुछ देशभक्त भी सम्मिलित हो गए थे (३-३)। भारतेन्दुजी ने अपने किसी नाटक में इसकी चर्चा नहीं की है। हाँ, जब राजकुमार का भारत में आगमन हुआ था तो भारतेन्दुजी ने उनकी प्रशंसा में लिखा था—

कठिन सिपाही-द्रोह अग्नि जा बल जल नासी[1]

बा० राधा कृष्णदासजी ने इसे 'राजविप्लव' की संज्ञा दी[2] है।

प्रेमघनजी सत्य के अधिक निकट हैं जब वे कहते हैं कि यह असंतुष्ट सैनिकों, अपमानित राजा-नवाबों एवं देशभक्तों का राज्य उलटने का प्रयास गदर या विद्रोह ही था। यह प्रयास असफल रहा। अंग्रेजों की तोपों और संगीनों ने दिखा दिया कि हम बदला चुका सकती हैं। भारत में निराशा का अन्धकार फैल गया। अंग्रेजों का आतंक जम गया। भारत-दुर्दशा में वे दोनों पक्ष उपस्थित हैं। महारानी विक्टोरिया की घोषणा एवं उसके सुशासन ने भारतीयों के घावों को भरा, उन्हें सान्त्वना दी और उनको सुख भी पहुँचाया। भारतेन्दुजी के जीवन-पर्यन्त महारानी विक्टोरिया का शासन-काल चलता रहा। भारतेन्दुजी एवं अन्य नाटककारों ने इस काल को देखा था। उन्होंने देखा कि ब्रिटिश शासन में जीवन की सुविधाएँ मिली हैं। शिक्षा-संस्थाओं का जाल बिछा। पत्रों का प्रकाशन हुआ। प्रकाशित पुस्तकों की संख्या बराबर बढ़ती गई। रेल-तार-डाक का सुन्दर प्रबन्ध हुआ। मुस्लिमकाल से धरोहर रूप में प्राप्त ठगी तथा डकैतियाँ बहुत कम हो गई थीं। मुस्लिमकाल के धार्मिक अनाचार हिन्दू प्रजा पर अब न होते थे। इस ओर से भारतेन्दुजी आँखें नहीं फेर सकते थे। फलत भारतेन्दुजी ने अंग्रेजी राज्य, विशेषतया महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा की[3] यह प्रशंसा तत्कालीन अन्य नाटककारों में भी मिलती है।

साथ ही भारतेन्दुजी देश की दुर्दशा भी अपनी आँखों देख रहे थे। लार्ड लिटन (१८७६-८०) ने भारतीय भाषा के समाचारपत्रों पर कुठाराघात

---

१. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका : मई, जून, जुलाई, अगस्त सितम्बर, १८७१, पृ० १२०
२. राधाकृष्ण ग्रंथावली, पृ० १०६
३. भारत-दुर्दशा, विषस्यविषमौषधम्, भारत-जननी।

किया। १८७८ में वर्नाक्यूलर ऐक्ट बनाकर भारतीय भाषा के समाचारपत्रों को फाँसी देनी चाही। १८८२ मे लार्ड रिपन ने आकर इस कुत्सित कानून को समाप्त किया। लार्ड रिपन ने अनेक सुधारवादी कानून बनाए। वह इतना लोकप्रिय हुआ कि ब्राह्मण पत्र ने उसे महर्षि तक कहा। भारतेन्दुजी ने देखा कि भारत से कच्चा माल बह कर इगलैंड पहुँच जाता है। भारतीय उद्योग नष्ट हो रहे हैं। स्वय बनारस का उद्योग अत्यन्त फीका पड़ गया था। मालगुजारी बराबर बढती जा रही थी। करों का मुख सुरसा की नाईं विस्तार पा रहा था। लैसेंस कर, सर्टिफिकेट कर, आयकर, देसी तम्बाकू कर, आबपाशीकर लगे और बढते गए। भारतीय आय घटती जा रही थी। उस समय भारतीय औसत आय एक या सवा आना थी। दुभिक्षों से प्रजा अत्यन्त त्रस्त थी। १८५० से १९०० तक १८ दुर्भिक्ष पड़े जिनमें दो करोड व्यक्तियों ने प्राण दिए। महामारी का प्रकोप भी कभी-कभी आ जाता था।

अग्रेज, हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष से लाभ उठाते थे और उनकी पारस्परिक कलह को बढावा देते थे। कुछ लोगों को अग्रेजों ने नौकरी खिताब का मैडल देकर अपनी ओर कर लिया था और इनके द्वारा शासन कर रहे थे। उधर हिंदू आपस मे ही लड रहे थे। कभी धर्मांधता मे, कभी शासन के पक्ष-विपक्ष मे, कभी जाति—जात-बिरादरी के झमेलों मे और प्राय ईर्षा-द्वेषवश हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष भी तीव्र था। आगरे मे हिन्दू-मुस्लिम उपद्रव मे बहुत हिन्दू मारे गए और हिन्दुओं की दिन-दहाडे मरपेट लूट हुई।[1] जगह-जगह मुसलमान हिन्दुओं को सताते थे। सरकारी अफसर मुसलमानों का साथ देते थे क्योंकि उनमे से अधिकाश मुसलमान थे।[2] दिल्ली मे बकरीद के अवसर पर मुसलमानो ने नादिरशाही मचाई थी।[3] काशी मे भी उपद्रव हुआ था। विश्वनाथ मंदिर स्थायी रूप से हिन्दुओं को मुस्लिम अनाचार का विज्ञापन कर रहा था और भारतेन्दुजी प्रतिदिन उसे देखकर आहें भरते थे। भारत का मुस्लिमकालीन इतिहास भी शासकों की कठोरता बताता था। फलत भारतेन्दुजी एवं अन्य नाटककारों में मुस्लिम-विरोधी भाव दिखाई पड़ते हैं एवं भारतेन्दुजी के सभी नाटकों मे प्रतिबिम्बित है।

प्रेस एवं पत्रों के साथ पुस्तकों की भी वृद्धि होती गई। विश्वविद्यालयों की स्थापना ने साहित्य को प्रेरणा दी। भारतेन्दुजी ने हिन्दी साहित्य के प्रसार को अपनाया। वे हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, बगला, मराठी, अवधी, व्रज, राजस्थानी, भोजपुरी इत्यादि भाषाएँ एव बोलियों के परिपक्व ज्ञाता थे। उनके

---

१. ब्राह्मण : १५ दिसम्बर १८८३, पृ० ४५
२. ब्राह्मण : १५ नवम्बर १८८७
३. ब्राह्मण : १५ दिसम्बर १८८३

नाटक इसके प्रमाण हैं। हिन्दी प्रसार के लिए उन्होने पेनीरीडिंग क्लब, कविसमाज इत्यादि कई संस्थाएँ स्थापित की—अपना एक विशाल पुस्तकालय बनाया। कार माइकेल लाइब्रेरी एव बाल सरस्वती भवन की स्थापना मे बड़ी सहायता की। ४०० के लगभग हिन्दी मे ग्रन्थ लिखे। रुपया दे-देकर हिन्दी में पुस्तकें लिखवाई। एक बार उन्होने घोषणा की थी कि फ्रांसीसी युद्ध-सम्बन्धी एक नाटक पर वे ४०० रुपये पारितोषिक देंगे। कचहरियों मे हिन्दी को स्थान प्राप्त हो इसके लिए बडा उद्योग किया। हिन्दी के प्रश्न पर अपने गुरु एव उस काल के समर्थ राजकीय अधिकारी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द से भी विरोध मोल लिया। फलत भारतेन्दुजी को सरकार का कोपभाजन भी बनना पडा। राजकीय शिक्षा विभाग ने उनके 'कविवचन सुधा', 'चन्द्रिका' एव 'बालाबोधिनी' एव उनकी पुस्तकों की खरीद बन्द करदी थी। बाबू साहब को आनरेरी मजिस्ट्रेटी से हटा दिया गया था। सरकार मे उनके देश-हितैषी-कामो हिन्दी-प्रेम को राज्यद्रोह सिद्ध किया गया।[1] शिक्षा कमीशन के सामने उन्होंने स्वयं गवाही दी एव अन्यो से दिलवाई कि उत्तर प्रदेश में हिन्दी को भी स्थान मिलना चाहिए।[2] शिक्षा कमीशन को उत्तर देते हुए उन्होंने अपना हिन्दी प्रेम व्यक्त किया और कहा मैं सदा से शिक्षा की ओर जी लगाता हूँ। मैं हिन्दी, संस्कृत, उर्दू आदि का कवि हूँ और मैंने बहुत से गद्य-पद्य के ग्रंथ बनाए है। मैंने 'कवि वचन सुधा' हिन्दी का समाचारपत्र निकाला था जो अब तक प्रकाशित होता है। मेरा उद्देश्य सदैव यही रहा कि स्वदेशियो की शिक्षा-संबंधी उन्नति करूँ। इन प्रान्तो की वर्नाक्यूलर की उन्नति करूँ और मातृभाषा के साहित्य-भण्डार की वृद्धि करूँ। अपने देशवासियों की बुद्धि का विकास देखकर मुझे सदा बडा आनन्द होता है। बनारस नगर मे ऐलीमेंटरी (प्राथमिक) शिक्षा के लिए मैंने एक स्कूल स्थापित किया है। मैं बनारस शिक्षा कमेटी का एक सभासद हूँ...गवर्नमेंट स्कूलों और कालिजो के विद्यार्थियों तथा विद्याध्यापकों को मैं केवल विद्योन्नति के अभिप्राय से पारितोषिक दिया करता हूँ।[3] इस कथन द्वारा बाबू हरिश्चन्द्रजी ने हिन्दी प्रचार के उद्योगों पर स्वय ही प्रकाश डाल दिया है। डा० ग्रियर्सन ने बाबू हरिश्चन्द्र के हिन्दी उद्योग की सराहना करते हुए कहा था—"वर्तमान काल के भारतीय कवियो मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सबसे प्रसिद्ध कवि है। इन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रचारार्थ जितना उद्योग किया है उतना अन्य किसी वर्तमान भारतीय ने नही किया है। ये अनेक शैलियो के जन्मदाता थे एव उन्होने सभी

---

१. हरिश्चन्द्र : शिवनन्दन सहाय, पृ० २६८
२. रईस और रय्यत, ७ जुलाई १८८३
३. हरिश्चन्द्र : बा० शिवनन्दन सहाय, पृ० ३१४

शैलियों में श्रेष्ठता प्रदर्शित की।[१] इसी हिन्दी प्रेम ने उनसे हिन्दी के ४०० ग्रन्थ लिखवाए जिनमें नाटक भी सम्मिलित हैं।

१. The Modern Literary History of Hindustan by G. A. Grierson, page 124.

यही भारतेन्दुजी ने फूँकी । साथ ही उन्होंने प्राचीन भारत के गौरव को भी ध्यान में रखा । उनका पूरा जीवन प्राचीनता और नवीनता का सुन्दर संगम था । एक ओर वे प्राचीन भारतीय भक्ति-पद्धति, संस्कृति-गौरव, हिन्दुत्व, धर्म परंपरा में अटूट विश्वास रखते थे तो दूसरी ओर वे स्त्री-शिक्षा का पक्ष लेते थे, लोगों को राष्ट्र की ओर देखने की प्रेरणा देते थे एवं नवीन विचारों के पोषक थे । फलतः उनकी नाट्य-कला में भी हम यह 'संगम' देखते हैं । एक ओर उनमें संस्कृत नाट्यशास्त्र का अनुसरण है तो दूसरी ओर पश्चिमी नाट्यशास्त्र का प्रभाव परिलक्षित होता है । यही कारण है कि उन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत के नाटकों का अनुवाद किया[1] तो शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद भी 'दुर्लभ बन्धु अर्थात् वंशपुर का महाजन' नाम से प्रस्तुत किया । दोनों नाट्य-शैलियों एवं नाट्यशास्त्रों का प्रयोग उन्होंने खोल खोलकर किया, इसका प्रमाण है उनका 'नाटक' नामक निबन्ध ।

इस निबन्ध में वे कहते हैं "प्राचीन काल में अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शकमंडली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य-काव्य-रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त विनोदन कर गए हैं । किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे सम्प्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य-काव्य लिखना युक्ति-संगत नहीं बोध होता ।" इसका कारण देते हुए वे बताते हैं—"जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीतिनीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदय गण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना योग्य है ।" इसके बाद भारतेन्दुजी प्रश्न उठाते है कि क्या नवीन दृष्टिकोण के कारण प्राचीन परिपाटी को नितान्त त्यागना उचित है ? अथवा उसमें नवीन परिपाटी का समन्वय करना उचित है ? यदि समन्वय या संगम किया जाय तो किस सीमा तक ? इस पर वे अपना मत देते हैं "नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करें यह आवश्यक नही है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी । अब नाटकादि दृश्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य, सहृदय सभ्य मंडली को नितांत अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना उचित नही है ।

---

१. मुद्राराक्षस, पाखंड विडम्बन, धनंजय विजय (संस्कृत) एवं कर्पूर मंजरी (प्राकृत) ।

अब नाटक मे कहीं 'आशी' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं, 'पुकरी,' कहीं 'विलोमन', कहीं 'सफेट', कहीं 'पंच संधि', वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नही रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसधान करना, वा किसी नाटकादि मे इनको यत्न-पूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।" ('नाटक') निबन्ध।

इन उद्धरणों से भारतेन्दुजी के मौलिक एवं युगानुरूप-समन्वित दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। न तो आँखें मूंद कर प्राचीनता के अनुगमन का परामर्श देते हैं और न बिना सोचे-विचारे नवीनता के पीछे दौड़ने की सहमति प्रदान करते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि हम हिन्दी नाटको मे प्राचीन और नवीन—दोनों पद्धतियों को ग्रहण करें किन्तु समझ-बूझ के साथ। यदि प्राचीन परिपाटी का कोई अंग अव्यवहारिक तथा अनावश्यक है तो क्यों उससे चिपटे रहे, उनकी सम्मति रहे। इसी प्रकार नवीन प्रणाली मे से वही अंश अपनायें जो हमारे राष्ट्र, हमारी संस्कृति तथा हमारे गौरव के अनुकूल हो। भारतेन्दु जी ने प्राचीन नाट्य पद्धति के नाटक लिखे जिनमे नाट्यशास्त्र-सम्मत नियमों तथा निर्देशो का पालन हुआ है जैसे 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक एवं 'चन्द्रावली नाटिका', उधर पश्चिमी नाट्य प्रणाली के अंगो तथा नियमो के अनुसार 'नील देवी' का प्रणयन किया। चन्द्रावली नाटिका है और 'प्रेमयोगिनी' भी किन्तु 'प्रेमयोगिनी' मे वे 'चन्द्रावली नाटिका' की शास्त्रीय पद्धति संशोधित रूप मे प्रयोग करते दिखाई पड़ते हैं। इसे वे गर्भांको मे विभाजित करते है। प्राप्त चार अंको से ज्ञात होता है कि इस नाटिका में स्त्री-पात्रो की प्रधानता नहीं रहती। 'प्रेमयोगिनी' नाम से यह प्रतीत होता है कि यह प्रेमनाटिका होती किन्तु इसमे तत्कालीन सामाजिक चित्रों को प्रधानता प्राप्त होती। इससे ऐसा लगता है कि भारतेन्दु बाबू धीरे-धीरे यह सोचने लगे थे कि किसी नाट्य-प्रणाली को आँखें मूंद कर ग्रहण न किया जाय। तब भी वे भारतीय पद्धति के नाटको मे थोडा-बहुत परिवर्तन कर अधिकाशतः नाट्यशास्त्र के अनुगमन के पक्ष-पाती हैं। १८८२ के 'नाटक' नामक निबन्ध मे जो विचार उन्होंने व्यक्त किये हैं वे धीरे-धीरे बाद मे आकर बने हैं। वे कहते हैं कि अलौकिक विषयो को ग्रहण न किया जाय। इसका अर्थ है कि सर्वत्र अलौकिकता लाने का प्रयास नही होना चाहिये। जीवन मे दिखाई देने वाले विषयो को भी ग्रहण करना चाहिये, उनका मत था। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में देवताओं के कार्यकलाप अलौकिकता को उत्पन्न करने वाले हैं। इससे सिद्ध है कि सर्वत्र अलौकिकता रखी जाय, इसके वे पक्षपाती न थे। यही बात सधियो के सम्बन्ध मे कही जायेगी। 'नील देवी' एव 'भारत दुर्दशा' मे सधियो का निर्वाह नही है किन्तु 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रा-वली' आदि में हुआ है। सधियों का प्रयोग नाट्यशास्त्रियो ने अनिवार्य माना

था कि यथावत् शृंगारित और सुसज्जित करके तथा यथावसर प्रसंग प्रविष्ट न हो गये। भारतेन्दु जी का अभिप्राय केवल इतना ही है कि यद्यपि सब अंगों का प्रयोग हो तो, यह अनिवार्यता नहीं रखनी चाहिए। इसी प्रकाश में उनके प्रकट किए मतों को समझा जाना चाहिए।

आधुनिक अथवा पश्चिमी नाटक शैली के दो कारण थे—नवीन विषय और नवीन शैली। उन्होंने देखा कि आधुनिक नाटकों में समाज-संस्कार और देश-प्रेम के दृष्टिकोण प्रतिफलित हैं। उन्होंने भी ऐसे नाटक। 'वैदिकी हिंसा', 'अंधेर नगरी', 'भारत दुर्दशा' लिखे। उन्होंने अपने 'नाटक' नामक निबंध में नवीन नाटक रचना के पाँच उद्देश्य बताए हैं—(१) शृंगार (२) हास्य (३) कौतुक (४) समाज-संस्कार और (५) देशवत्सलता। पहले तीन को चलता कर वे चौथे और पाँचवें प्रकार की ही व्याख्या करने बैठ जाते हैं। वे कहते हैं 'समाज संस्कार नाटकों में देश की कुरीतियों को दिखलाना मुख्य कर्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह संबंधी कुरीति निवारण अथवा धर्म संबंधी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथा भाग का इस बुद्धि से संगठन कि, देश की उससे कुछ उन्नति हो इसी प्रकार के अन्तर्गत है। इसके उदाहरण हैं, सावित्री चरित्र, दुःखिनी बाला, बाल्य विवाह दूषक, जैसा काम वैसा ही परिणाम, जय नारसिंह की, चक्षुदान इत्यादि।'[1] भारतेन्दुजी ने इसमें अपने किसी नाटक की चर्चा नहीं की है किन्तु उनका नाटक 'वैदिकी हिंसा' और 'प्रेम जोगिनी' ऐसे ही नाटक हैं। आगे वे राष्ट्रीय नाटकों की चर्चा करते हुए कहते हैं—"देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों या देखने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्रायः करुण और वीर रस के होते हैं। उदाहरण—भारत जननी, नील देवी, भारत दुर्दशा इत्यादि।"[2] भारतेन्दुजी का प्रहसन 'अंधेर नगरी' भी इसी के अन्तर्गत आएगा।

नवीन शैली ने भी उन्हें आकृष्ट किया। वे कहते हैं—"प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समय में नाटक के खेलों के साथ विविध दृश्यों का दिखाना भी आवश्यक समझा गया है।[3] फलतः अपने नवीन शैली के नाटकों में भारतेन्दुजी ने अंकों का विभाजन गर्भांकों[4] और दृश्यों[5] में किया है। (२) गद्य और पद्य नाटक उनके सामने प्राचीन काल से थे। 'गीति रूपक' एक नवीन शैली उनके सामने आई। यूरोप के नाटकों का इतिहास लिखते हुए वे कहते हैं—'सत्रहवीं शताब्दी में रिकुशिनी

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, प्र० भाग, पृ० ७२०
२. वही, पृ० ७२१ ३. वही, पृ० ७२० ४. विद्यासुन्दर, प्रेमजोगिनी
५. नील देवी, सती प्रताप

ने पहले-पहल ऑपेरा (संगीत नाट्य) का आरंभ किया। इसमें उसने ऐसी उत्तम रीति से प्रेम, देशस्नेह, वीर और करुण रस के गीत बाँधे कि सब लोग और नाटकों को भूल कर इसी की ओर झुके। मैंकी नामक कवि ने इसकी ओर भी उन्नति की। अब स्पेन, फ्रांस आदि में चारों ओर इसी गीतिनाट्य का चर्चा फैल गया।[1] यहाँ भारतेन्दुजी ऑपेरा गीतिनाट्य को एकसा मानते हैं। भारतेन्दुजी रासलीला, रामलीला, स्वाँग एवं इन्द्रसभा नाटकों का विरोध करते हैं? क्या ये संगीत या गीतिनाट्य नहीं है? भारतेन्दुजी ने इनका विरोध तीन कारणों से किया है (१) अश्लीलता के कारण (२) नाटकीय शैली का यथावत् पालन न होने से (क्योंकि इनमें केवल सवादों का प्रयोग नहीं है और कवि मंच पर उपस्थित है) (३) इनमें गद्य का प्रयोग न होने के कारण। नहीं तो ये भी गीतिनाट्य थे। सभी अश्लील न थे। हाँ, इनमें रंग-संकेत एवं संवाद-प्रयोग प्राचीन अथवा आधुनिक शैली के न थे एव गद्य का प्रयोग नहीं के बराबर था।" आधुनिक नाटकों के दो भेद करते हुए वे कहते हैं—"ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं—एक नाटक, दूसरा गीतिरूपक। जिसमें कथा-भाग विशेष हो और गीति न्यून हो, नाटक और जिसमें गीति विशेष हो वह गीतिरूपक।[2] इसमें स्पष्ट है कि वे केवल गीति-नाटकों को प्रश्रय नहीं देते है वरन् वे गद्य का प्रयोग आवश्यक समझते है। कथा-भाग से उनका अभिप्राय गद्यात्मक कथा से है। वैसे तो कथा लीला-नाटकों एव इन्द्र-सभा नाटकों मे भी थी किन्तु वहाँ वह गद्यात्मक न थी। 'विद्यासुन्दर' उनका ऐसा नाटक है जिसमें गद्यात्मक कथा का अंश प्रधान है एव गीत थोड़े से हैं—दस-ग्यारह। भारत जननी को उन्होंने 'ऑपेरा' कहा है और 'नील देवी' तथा 'सती प्रताप' को गीतिरूपक। इन तीनों में गीतों की प्रधानता है। 'भारत जननी' में तो गीत ही गीत है, केवल अन्त में थोड़ा-सा गद्यात्मक कथोपकथन है। कथा कुछ है ही नहीं। 'नील देवी' और 'सती प्रताप' में कथा है परन्तु गीतों की संख्या अधिक है।

पश्चिमी नाटकों की तीसरी शैलीगत विशेषता उन्हें रुचिकर हुई— उनके वियोगान्त होने में। हमारे यहाँ वियोगान्त नाटकों की रचना नहीं हुई। भारतीय नाट्यशास्त्र की दृष्टि से नायक या नायिका का मरण निषिद्ध है। पश्चिम में वियोगान्त या दुःखान्त नाटकों को ही गौरव मिला। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र का निर्माण दुःखान्त नाटकों के आधार पर ही किया। अनेक जीवन दुःखमय परिस्थितियों में समाप्त हो जाते हैं। अतः स्वाभाविकता की दृष्टि से दुःखान्त नाटकों का प्रणयन अनुचित नहीं है। भारतेन्दुजी ने दुःखान्त नाटकों को पसंद किया और उन्होंने 'नीलदेवी' एवं 'भारत-दुर्दशा' नाटकों का अन्त दुःखमय ही

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, पहला खंड, पृ० ७५८
२. वही, पृ० ७२०

रखा। 'नील देवी' उत्तम दुखान्त नाटक है। कथाओं के स्वभाव से नाटकों के उन्होंने तीन भेद किए हैं—संयोगान्त, वियोगान्त और मिश्र।[1] इस प्रकार भारतेन्दुजी ने दोनों प्रकार की नाट्य-शैलियों को अपनाकर अपने नाटक-साहित्य का निर्माण किया।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दुजी के नाटकों की अन्य कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं—

१. कविता-गीत-बहुलता—भारतेन्दुजी संस्कृत नाटककारों की भाँति कवि है, केवल गद्य लिखने वाले नाटककार नहीं। नाटकों में उनका कवि-रूप प्रमुख है। उन्होंने नाटकों को काव्य के अन्तर्गत माना है। वे कहते हैं—"काव्य दो प्रकार के हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हावभाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे।...दृश्य काव्य की संज्ञा रूपक है। रूपकों में नाटक ही सबसे मुख्य है।"[2] आगे नाटक की परि-भाषा देते हुए वे कहते हैं—"काव्य के सर्वगुण संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं।[3] साथ ही, वे नाटकों में गीतों की योजना को भी आवश्यक मानते हैं। नाटक और गीतिरूपक का भेद वे गीतों की अधिकता या अल्पता के आधार पर करते हैं और कहते हैं—"नाटक में कथा-भाग अधिक होगा, गीत कम होंगे और गीति-रूपक में गीत अधिक होंगे।" स्पष्ट है कि भारतेन्दुजी नाटकों में कविता अथवा गीतों को अथवा दोनों कोअनिवार्यतः स्थान देते हैं। उनके नाटकों की कविता अत्यंत श्रेष्ठ है और गीत बड़े सरस हैं। कविता और गीतों की दृष्टि से 'चन्द्रावली' सर्वश्रेष्ठ है। गीत और कविताओं के कारण ही 'चन्द्रावली' का बड़ा मान है। 'भारत-दुर्दशा' की कविताएँ भी बड़ी प्रभावपूर्ण है। सभी नाटकों में गीतों तथा कविताओं को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। 'सती प्रताप' में भी चन्द्रा-वली की आभा है। यदि यह नाटक पूर्ण हो जाता तो 'चन्द्रावली' के समान कविताओं और गीतों से सजता।

२ भारतेन्दुजी विनोदी वृत्ति के थे। फलतः उनके नाटकों में हास्य विनोद अथवा व्यंग के दर्शन प्रायः होते ही हैं। भारतेन्दुजी का व्यंग बड़ा तीखा और मार्मिक है। उदाहरण—

(क) ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज कर के जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो।

(भारत दुर्दशा, अंक ३)

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, पहला खंड, पृ० ७२०
२. वही, पृ० ७१६
३. वही, पृ० ७१७

(ख) एक तो खुद ही यह सब पड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धाँय-धाँय गिनी गई, वर्णमाला कंठ कराई, बस हाथी के खाए कैथ हो गए। धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।
(भारत दुर्दशा, अंक ३)

(ग) तबै न सुरमा घुलाय के आँख पर चरणामृत लगाये हो जे मे पलक बाजी खूब चले, हाँ एक पलक एहरो। (प्रेमजोगिनी १—१)

(घ) क्या छिपा के, क्या खुले-खुले, अगौछे मे माम और पोथी के चोंगे में मद्य छिपाई जाती है। उसमें जिन हिन्दुओ ने थोड़ी सी अंग्रेजी पढी है, या जिनके घर मे मुसलमान स्त्री है, उनकी तो कुछ बात ही नही, आजाद है। (वैदिकी हिंसा, तृतीय अंक)

(ङ) धन्य है ईश्वर! सन् १५९९ में जो लोग सौदागरी करने आये थे वे आज स्वतन्त्र राजाओ को यो दूध की मक्खी बना देते हैं।
(विपस्य विषमौषधम्)

(च) और तेरो न कोई पानी बचाने वाला, न तुझे कोई निचोड़ने वाला, फिर चौगुने की कौन कहे, ड्यौढा सवाया तो तेरा रग बढेहीगा नही
(चन्द्रावली, अक ३)

(छ) अंधेर नगरी में पद्यात्मक व्यंग्य के बडे सुन्दर उदाहरण भरे पड़े हैं—
चूरन जब से हिन्द मे आया। इसका धन बल सभी घटाया। चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते। चूरन खाते लाला लोग। जिनको अकिल अजीरन रोग। (अंधेर नगरी, अक २)

टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायँ और धोबी को ब्राह्मण कर दे, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दे दें। (अधेर नगरी अंक, २)

नाटको मे हास्य-विनोद भी भरा पडा है। हाँ, भारतेन्दुजी हास्य-प्रयोग मे कभी-कभी फूहड़ हो जाते हैं और भांडों जैसा हास्य लिख देते हैं।

३. भारतेन्दुजी ने नाटको के निर्माण मे सोद्देश्य हाथ लगाया था। अपने 'नाटक' नामक निबन्ध मे वे लिखते हैं—"आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटक रचना में उद्देश्य फल उत्तम निकालना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्यशिष्टगण ग्रथ का तादृश आदर नही करते, अर्थात् नाटक पढने वा देखने से कोई शिक्षा मिले, जैसे सत्य हरिश्चन्द्र देखने से आर्य जाति की सत्य प्रतिज्ञा, नीलदेवी से देशस्नेह इत्यादि शिक्षा निकलती है। इस मर्यादा की रक्षा के हेतु वर्तमान समय मे स्वकीया नायिका तथा उत्तम गुण विशिष्ट

वस्तु

भारतेन्दुजी आरम्भ मे प्रस्तावना देते हैं। संस्कृत शैली के नाटकों में तो नाट्यशास्त्र मे वर्णित प्रस्तावना के लक्षण प्राप्त हो जाते है। 'नाटक' निबंध मे इसकी व्याख्या विस्तार से उन्होंने की है। सस्कृत शैली के नाटकों की प्रस्तावना नादी पाठ से प्रारम्भ होती है तथा उसका अन्त उद्घातक, कथोद्घात अथवा प्रयोगातिशय में करते है।

नांदी पाठ—संस्कृत शैली के मौलिक नाटको मे वे एक[1] या दो[2] दोहे का नादी पाठ रखते है। नाटककार कही इसे नादी[3] नाम देता है तो कही मंगलाचरण[4]। 'भारत-दुर्दशा' यद्यपि पश्चिमी शैली का नाटक है किन्तु मगलाचरण वहाँ भी है। नादी या मगलाचरण के बाद सूत्रधार[5] नटी, या सूत्रधार—पारिपार्श्वक[6] आकार नाटक एव नाटककार के सम्बन्ध मे वार्तालाप करते हैं। 'प्रेमजोगिनी' मे नाटककार ने अपने विषय मे अधिक विस्तार दिया है। प्रस्तावना के अन्त मे कथोद्घात[7] और प्रयोगातिशय[8] के उदाहरण मिलते ही है। आधुनिक *शैली के नाटको में भी प्रस्तावना का परिवर्तित रूप है। 'भारत-दुर्दशा' मे एक योगी द्वारा* परिचय दिया जाता है तो *'नीलदेवी'* एवं *'सती प्रताप'* मे अप्सराओं द्वारा 'भारत जननी' इनसे अलग है। यद्यपि यह भी आधुनिक शैली का ऑपेरा है किन्तु इसमे सूत्रधार उपस्थित है। वह पहले भैरवताल मे भगवान् से प्रार्थना करता है कि भारत की रक्षा करो। आधुनिक शैली के नाटको का आरम्भ या तो एकाकी गान[9] से होता है अथवा सामूहिक गीत[10] से।

भरतवाक्य—सस्कृत नाटको मे भरतवाक्य अनिवार्यतः प्राप्त होता है। भारतेन्दुजी ने सस्कृत शैली के अनूदित नाटको[11] मे तथा कुछ मौलिक नाटकों मे[12] भरतवाक्य को स्थान दिया है। धनंजय विजय और मुद्राराक्षस नाटकों मे मूल नाटकों के भरतवाक्य संस्कृत मे ही रख दिये गये है। 'कर्पूर मंजरी' प्राकृत से अनूदित है। इसका भरतवाक्य सस्कृत भाषा मे नही दिया गया है वरन् उसका हिन्दी पद्यात्मक अनुवाद रखा गया है जो मूल से बहुत

---

१. *वैदिकी हिंसा, सत्य हरिश्चन्द्र, विषमौषधम्।*
२. प्रेमजोगिनी, चन्द्रावली।
३. वैदिकी हिंसा, प्रेमजोगिनी।
४. सत्य हरिश्चन्द्र।
५. वैदिकी हिंसा, सत्य हरिश्चन्द्र।
६. प्रेम जोगिनी, चन्द्रावली।
७. सत्य हरिश्चन्द्र, वैदिकी हिंसा
८. चन्द्रावली। ९. भारत दुर्दशा, भारत जननी।
१०. नील देवी, सती प्रताप।
११. धनंजय विजय, मुद्राराक्षस, कर्पूर मजरी, भारत जननी।
१२. वैदिकी हिंसा, सत्य हरिश्चन्द्र, विषमौषधम्, चन्द्रावली, अंधेर नगरी।

परिवर्तित है। मूल भरतवाक्य यह है—सच्चे णंददु सज्जणाणं सम्रलो वग्गो खलाणं पुणों णिच्चं, खिज्जदु होंतु बम्हणजणा सच्चासिहो मव्वदा मेहो मुदु सचिदं वि सलिलं सस्सोचिद भूपले लोम्रो लोह परम्मुहो दणु दिग्रहं धम्मे मई मोदु श्रा ॥ ४-२३

अर्थ—सज्जन पुरुषों के समस्त वर्ग सत्यभाषण मे आनंद लें, दुष्ट सदा दुख भोगे, ब्राह्मणों का आशीर्वाद सदा सत्य हो, एकत्रित किये जल को मेघ सदा कृषि के अनुकूल बरसायें, समस्त मानवों की मति लोभ से हटें और धर्म मे जमे।

भारतेन्दुजी का पद्यानुवाद है—

उन्नतचित है आर्य्य परस्पर प्रीति बढ़ावें।
कपट नेह तजि सहज सत्य व्यौहार चलावें॥
जवन-संसरग जात दोस गन इनसों छूटें।
सबै सुपथ पथ चलैं निरतहि सुख संपति लूटैं॥
तजि विविध देव रति कर्म मति एक भक्ति पथ सब गहै।
हिय भोगवती सम गुप्त हरि-प्रेम धार नितही वहै॥

यह छन्द मूल का पूर्णतया अनुवाद नहीं है। वरन् एक काल-दोष भी आ गया है। इसमे कहा गया है—यवन समर्ग से जो दोष आ गये हैं, वे इन 'आर्यों' (हिन्दुओ) मे छूट जाय। भारतेन्दुजी को ध्यान नही रहा कि यह उस राजशेखर के नाटक, 'कर्पूर मजरी' का अनुवाद है जो ८वीं शती मे हुआ था।[1] अत. ८वीं शती मे मुस्लिम संसर्गजन्य दोषों का कथन काल-दोष में ही गिना जायेगा। इसी प्रकार 'भारत जननी' का भरतवाक्य कोरा अनुवाद नहीं है।

मौलिक नाटकों के भरतवाक्यों में निम्नलिखित विचार प्रकट हुए हैं—

१. सज्जन, दुष्टों के वचनों से दुखी न हों।[2]
२. मनुष्यों में ईश्वर-भक्ति का संचार हो।[3]
३. सद् काव्य का प्रचार-प्रसार वृद्धि करे।[4]
४. देश की उन्नति हो।[5]
५. देश मे कर न रहे।[6]

'सत्य हरिश्चन्द्र' में कवि यह भी प्रार्थना करता है कि भारत अपना अधिकार प्राप्त करे। 'विषस्य विषमौषधम्' मे उसकी इच्छा है कि हमारी गाएँ बहुत

---

१. राजशेखर का शिष्य मन्हेद्रपाल ७६१ ई० में राज्य करता था।
२. वैदिकी हिंसा, सत्य हरिश्चन्द्र।
३. वैदिकी हिंसा, विषमौषधम, चन्द्रावली।
४. वैदिकी हिंसा, सत्य हरिश्चन्द्र, विषमौषधम्।
५. सत्य हरिश्चन्द्र, भारत जननी।
६. वैदिकी हिंसा, सत्य हरिश्चन्द्र।

दूध दें और हिन्दू वेद मार्ग पर चलें और अंग्रेजो का राज्य भारत मे बना रहे। अकेला यही नाटक है जिसके भरतवाक्य मे वह अंग्रेज़ी राज्य का जय-गान गाता है। इन भरतवाक्यों का प्रधान छन्द छप्पय है किन्तु दोहे का प्रयोग भी हुआ है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे छन्द बदल दिया गया है।

वस्तुगठन की दृष्टि से भारतेन्दु नाटक-साहित्य मे पूर्वी एवं पश्चिमी शैली के नाटक प्राप्त होते हैं। एक ओर पूर्वी या संस्कृत नाट्य-शैली के वस्तुगठन में *प्रस्तावना, भरतवाक्य, अर्थप्रकृतियाँ, कार्य-अवस्थाएँ, अंक-व्यवस्था*, पताका प्रकरी कथाएँ, निषिद्ध दृश्यो का अभाव आदि लक्षण प्राप्त होते है, तो दूसरी ओर पश्चिमी नाट्य-शैली के नाटको के वस्तुगठन मे—व्याख्या प्रारंभ, प्रगति, चरम सीमा, निर्गति और अंत जैसी पांच अवस्थाएँ, निषिद्ध दृश्य योजना तथा करुण अन्त आदि लक्षण दिखलाई पडते हैं। 'चन्द्रावली' नाटिका के लक्षणो से सयुक्त है, 'विपस्य विषमौषधम् एक भाण है और 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे नाटक के समस्त लक्षण प्राप्त होते हैं। इन सब मे कोई भी वर्जित दृश्य प्राप्त नही होता है। प्रवेशक, विष्कंभक, अर्थप्रकृतियों, कार्य-अवस्थाओ की योजना की गई है। उधर नीलदेवी और भारत-दुर्दशा दुखान्त नाटक है जिनमे व्याख्या, प्रारम्भ प्रगति आदि अवस्थाएं दिखलाई पड़ती है और आत्मघात, हत्या आदि वर्जित दृश्य समाविष्ट हैं। इन नाटको मे अकयोजना न करके स्थानो से सम्बद्ध दृश्य योजना ग्रथित है।

कुछ नाटको मे दोनो शैतियो का मिश्रण हुआ है। 'विद्यासुन्दर,' 'वैदिकी हिंसा' और 'अधेर नगरी' ऐसे ही नाटक हैं। 'विद्यासुन्दर' और 'अंधेर नगरी' मे भारतीय शैली की प्रस्तावना या आमुख नही है। हाँ, 'वैदिकी हिंसा' मे है। इन तीनो मे भारतीय शैली की अंकयोजना न होकर पश्चिमी शैली की दृश्य-योजना है। 'विद्यासुन्दर' मे अंको का विभाजन दृश्यो मे है। 'वैदिकी हिंसा' एवं 'अंधेर नगरी' मे यद्यपि केवल अक हैं जो स्थलो के आधार पर विभाजित हैं अर्थात् एक अक दूसरे से स्थान के कारण अलग है। 'वैदिकी हिंसा' का पहला अंक राज सभा मे आयोजित है तो दूसरा पूजाघर मे। इसी प्रकार 'अधेर नगरी' का प्रथम अंक नगर के बाहर वन या मैदान का है तो दूसरा अक बाजार मे आयोजित है। 'वैदिकी हिंसा' के तृतीय अक मे पुरोहित शराब की बोतल लिये, उसे पीते हुए उन्मत्त अवस्था मे मंच पर आता है। 'अधेर नगरी' मे गोवरधनदास मच पर मिठाई खाता है। और छठे अंक मे राजा को फाँसी पर लटकाया जाता है। जो विचार और भावनाएँ इन नाटकों मे व्यक्त हैं वे आधुनिक है। इनमे दृष्टिकोण संस्कृत नाट्य शैली का है। स्वयं भारतेन्दुजी ने वैदिकी हिंसा और अधेर नगरी को 'प्रहसन' कहा है। वह भी पूर्वीय नाट्यशास्त्रीय रूपक प्रकरण मे। इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दुजी ने दोनों प्रचलित प्रणालियों को अपनाया और अपना स्वतंत्र मार्ग भी बनाया।

कथानक-गठन के सम्बन्ध में यह भी कहना पड़ेगा कि जहाँ भारतेन्दुजी ने कथा निर्वाह किया है और कथानक को शृंखलित किया है वहाँ यह भी सत्य है कि भारतेन्दुजी से त्रुटियाँ हुई हैं। 'चन्द्रावली' का कथानक बहुत पुष्ट और सक्षम नहीं। प्रेमयोगिनी के चार दृश्यों से ज्ञात होता है कि इसका कथानक भी शिथिल ही रहता है। 'चन्द्रावली' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' में प्रयुक्त 'अंकावतार' त्रुटिपूर्ण हैं। ये अंकावतार हैं ही नहीं यदि नाटककार ने इन्हें प्रवेशक या विष्कंभक कहा होता तो अधिक उपयुक्त होता। 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अंकावतार तो 'प्रवेशक' ही है। इसी प्रकार 'सत्य हरिश्चन्द्र' के प्रारम्भिक विष्कंभक का नाटक की कथा के प्रवाह में कोई सम्बन्ध नहीं है।

नेता और पात्र

भारतीय नाट्यशास्त्र और नाटक-साहित्य में नेता या नायक को महत्व मिला है। फलतः वहाँ वस्तु के बाद 'नेता' का नाम आता है। दशरूपककार कहता है कि नाटकों के भेदों के ज्ञापक हैं—वस्तु, नेता और रस। नेता या नायक में नायिका भी सम्मिलित है। संस्कृत नाटकों में नायक या नायिका को महत्व दिया गया है। अधिकांश संस्कृत नाटकों के नाम नायक और नायिकाओं के नामों पर हैं।[1] नायक एक भी हो सकता है और एकाधिक भी। पश्चिमी नाटकों में नायक को भी मुख्य स्थान मिला है, नाटकों का नामकरण भी नायक के नाम पर हुआ है किन्तु तब भी पश्चिमी नाट्य-शास्त्र में 'पात्र' या चरित्र-चित्रण संज्ञा प्राप्त होती है, नेता या नायक नहीं।[2] पश्चिमी नाटकों में फलतः प्रतिनायक भी नाटक का नायक बन सकता है और अन्य पात्रों को भी महत्व मिलता है। भारतेन्दुजी ने जहाँ तक पात्रों के आयोजन का सम्बन्ध है, पूर्वीय दृष्टिकोण को ही अपनाया है और अपने सभी नाटकों में नेता को प्रधानता दी है। उनके नाटकों में प्रतिनायक कभी भी सफल नहीं होता है वरन् वह दुर्दशाग्रस्त चित्रित किया गया है। पश्चिमी दुखान्त नाटकों में नायक के मरण या उसकी दुर्दशा से दर्शक की सहानुभूति प्राप्त की जाती है। नायक का अन्त उसकी स्वयं की किसी निर्बलता के कारण होता है। भारतेन्दुजी ने दुःखान्त नाटकों में भी नायक को उदात्त रखा है। 'नीलदेवी' का नायक मरकर भी जयी है; उसमें कोई दोष न था और वह धर्म के लिये बलिदानी बना। वह

---

१. दरिद्र चारुदत्त, अविमारक, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्ता, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी, शारिपुत्र प्रकरण, रत्नावली, प्रियदर्शिका, मालती माधव, उत्तररामचरित, अनर्घराघव, कर्पूर मंजरी, नैषधानन्द, प्रसन्न राघव, वत्सराज, मुदित कुमुदचन्द्र, निर्भयभीम, सत्य हरिश्चन्द्र, ययाति चरित, दूतांगद, पारिजात मंजरी, प्रद्युम्नाभ्युदय, भैरवानन्द, पार्वती परिणय, मुदितमदालसा, वसन्तिकापरिणय, कुवलयाश्वचरित, जानकीपरिणय, श्रीदामाचरित।

२. अरस्तू का काव्य शास्त्र : सं० डा० नगेन्द्र पृ० ६५

अपनी त्रुटि से नीचे नही गिरा वरन् मुसलमानों की क्रूरता ने उसे बलिदान का बकरा बना दिया। प्रतिनायक भी मारा जाता है। भारत दुर्दशा मे प्रतीक-पात्र है। वहाँ भारत की दुर्दशा मात्र दिखाना उद्देश्य था अत. भारत को सुला दिया है और प्रतिनायक भारत दुर्दैव (मुसलमान, अग्रेज एवं आन्तरिक त्रुटियाँ) भारत को घेर लेता है। दोनो प्रहसनों में भी प्रतिनायक दड पाता है। हम कह सकते है कि चरित्र-चित्रण मे उन्होंने आदर्श दृष्टिकोण रखा है जो भारतीय है, पश्चिमी नही। मिश्रित पश्चिमी शैली के नाटकों में यद्यपि नेता को ही महत्त्व न देकर प्रतिनायक एवं अन्य पात्रों को भी मुख्य स्थान दिया है।[1] किन्तु पात्रो के चरित्रो मे दृष्टिकोण आदर्शवादी है और कुकर्मियो को दड दिलाया गया है, केवल भारत-दुर्दशा में यह तुला कुछ झुकी है।

पात्र-स्थापना मे भारतेन्दुजी का एक दृष्टिकोण स्पष्ट है। वह यह कि मुस्लिम पात्र प्रतिनायक और क्रूर पात्रो के रूप मे चित्रित हुए हैं जिनमें अनेक दोष, अवगुण और त्रुटियाँ भरी है। उनका सत्यानाश फौजदार पात्र ऐसा ही मुसलमान है जो हलाकू चगेज और तैमूर का वंशज था।[2] जिसके पास, अहमद-शाह दुरानी और नादिरशाह नौकर थे।[3] वह, नायक महाराज सूर्य्यसिंह से कहता है कि तुम मुसलमान बन जाओ। पर धार्मिक महाराज उसके मुँह पर थूक देते है। परिणाम है कि उन्हे मार दिया जाता है।[4] वह हिन्दू स्त्रियो पर कुदृष्टि रखता है। वह सीधे युद्ध मे न लडकर धोखे से हिन्दुओ पर वार करता है।[5] यह हुआ मुस्लिम पात्र का प्रत्यक्ष चित्रण। परोक्ष चित्रण मे अन्य पात्रो के मुख से मुस्लिम पात्र की निन्दा कराई गई है। नीलदेवी अपने पति से कहती है कि इन दुष्टों से सदा सावधान रहना चाहिए। नीलदेवी के नवें दृश्य मे दूसरा राजपूत कहता है—"इन दुष्ट चाडाल यवनो के रुधिर से हम जब तक अपने पितरों का तर्पण न कर लेगे, हम कुमार की शपथ करके प्रतिज्ञा करके कहते है कि हम पितृ-ऋण से कभी उऋण न होगे।" इस पर तीसरा राजपूत कहता है "धिक्कार है उस क्षत्रियाधम को जो इन चाडालो के मूलनाश मे न प्रवृत्त हो।" चौथा राजपूत आगे बढकर कहता है "म्लेच्छ-कुल के और उसके पक्ष-पातियो के सिर पर मेरा बायाँ पैर है।" इनके भावो को देखकर पिता-घात से आहत राजकुमार सोमनाथ कहता है "हाँ, जो हम लोग इन दुष्ट यवनो का

---

१. भारत दुर्दशा एवं दोनों प्रहसन
२. हलाकू चगेजों तैमूर। हमारे अदना अपना सूर (भारत दुर्दशा)
३. दुरानी अहमद नादिरसाह। फौज के मेरे तुन्द सिपाह (भा०दुर्दशा)
४. नीलदेवी : आठवा दृश्य—पागल का कथन।
५. शरीफ—कभी उस बेईमान से सामने लड़कर फतह नहीं मिलती है। मैंने तो अब जी में ठान ली है कि मौका पाकर एक रात उसको सोते हुए गिरफ्तार कर लेना (नील देवी दृश्य दूसरा)

दमन न करके दासत्व स्वीकार करें तो निस्सन्देह दुःख हो।" राजकुमार और आवेश में आकर गाता हुआ कहता है—

आर्य वंश को वधन पुण्य जा अधर्म धर्म मैं
गोभक्षन द्विज श्रुति हिंसन नित जासु कर्म मैं
तिनको तुरितहिं हतौं मिलै रन कै घर माही
इन दुष्टन सो पाप किये हूँ पुण्य सदा ही
धिक तिनकहँ जे आर्य होइ जवनन को चाहैं
धिक तिनकहँ जे इनसो कछु सम्बन्ध निबाहैं

पागल जो आठवें दृश्य मे अनर्गल प्रलाप करता है वह अपने शब्दों में गहरा अर्थ छिपाये हुए है। पागल एक राजपूत है। उसके शब्दों से ही यवनों के प्रति घृणा टपकती है। वह कहता है—

"मार मार मार—काट काट काट—ले ले ले—ईबी-सीबी-बीबी। तुरक तुरक तुरक—अरे आया आया आया—भागो भागो भागो। (दौड़ता है) मार मार मार—और मार दे मार—जाय न जाय न—दुष्ट चाडाल गोभक्षी जवन अरे हाँ रे जवन लाल डाढी का जवन—बिना चोटी का जवन—हमारा सत्यानाश कर डाला। हमारा हमारा हमारा। इसी ने इसी ने—लेना, जाने न पावे। दुष्ट म्लेच्छ—हूँ।

इस यवन पात्र के विरोध में नाटककार ने रखा है क्षत्रिय पात्र को। वह नाटकों में नायक बना है।[1] नायक रूप में यह आदर्श पात्र है जिसमें अनेक उत्तम गुण भरे हैं। यह वीर साहसी, धीर, धार्मिक, रक्षक, सत्यवादी और उदात्त चरित्र वाला है। नाटककार ने विरोधी मुसलमान पात्रों से भी इसकी प्रशंसा कराई है—

शरीफ—अबदुस्समय ! खूब होशियारी से रहना। यहाँ के राजपूत बड़े काफ़िर हैं। इन कम्बख्तों से खुदा बचाए। काज़ी साहब। मैं आपसे क्या बयान करूँ, वल्लाही सूरज देव एक ही बदबला है।

काज़ी—बेशक हुज़ूर ! सुना गया है कि वह हमेशा खेमों ही में रहता है। आसमान शामियाना और ज़मीन ही उसे फ़र्श है।

एक मुसाहिब—खुदावन्द ! हाय आना दूर रहा, उसके खौफ़ से अपने खेमे में रहकर भी खाना-सोना हराम हो रहा है।

नाटककार को दुःख है कि इस युग में क्षत्रिय गिर गए हैं। गिरे हुए क्षत्रियों की वह निन्दा करने को भी प्रस्तुत है। 'विषस्य विषमौषधम्' और 'अन्धेर नगरी' इसके प्रमाण हैं। अन्यत्र भी वह क्षत्रियों का स्मरण करके अर्वाचीन क्षत्रियों को फटकार देता है। 'वैदिकी हिंसा' का गृद्धराज मदमांस में लीन एक राजा है। हरिश्चन्द्र, नहुष, ययाती, अर्जुन, भीम, आदि को सामने रख

---

१. सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, विद्यासुन्दर, नीलदेवी।

नाटककार वर्तमान काल के मूर्ख और कलह-प्रिय क्षत्रियों को जब देखता है तो रो उठता है।[1] वह क्षत्रियों को परोक्ष रूप से बुरा-भला कहता हुआ पानीपत, पंजाब और चित्तौड़ से कहता है कि तुम उसी दिन मर क्यों नहीं गये जब तुम में से वीरता भागी थी और तुम दासत्व के पाश में बँधे थे।[2] जो दूसरों पर राज्य करते थे, जिनके तेज को देखकर जगत् चौंधिया जाता था वे ही आज दूसरों को सलामी देते है, इससे अधिक पतित दशा क्या होगी।[3] गौरव और तेज से भरे प्राचीन क्षत्रियों के सम्मुख आज के ये मखमली म्यान मे खड्ग धारण करने वाले और भयभीत हो सदा पीछे रहने वाले क्या तलवार भी धारण करने योग्य है? नहीं, नहीं, ये स्त्रियां है।[4] क्षत्रिय थे पुराने वीर पुरुष—विक्रम, भोज, राम, बलि, कर्ण, युधिष्ठिर, अब वे क्षत्रिय कहाँ है देश मे? यदि क्षत्रिय होते तो भारत पर राज्य न करते? ये तो सेवक है, गुलाम है जिनके पास न दुर्ग है और न सेना, जिनके पास न धन है और न बल।[5]

नाटककार का प्रिय पात्र प्राचीन क्षत्रिय है, जिसकी वह प्रशंसा करता है, दूसरे छोर पर है ब्राह्मण। इस पात्र से नाटककार को विशेष शिकायत है और इस पात्र की उसने भरपेट निन्दा की है। इसका कारण है कि हिन्दुओं के पतन मे ब्राह्मण का हाथ है। क्षत्रियों ने देश को गिराया तो ब्राह्मणों ने समाज को। फिर क्यों न वह उस पात्र की निन्दा करे। उसे प्राचीन काल का ब्राह्मण चाणक्य चाहिए जो देश और समाज के लिए त्यागमय जीवन बिताए और आवश्यकता पड़ने पर सर्वस्व का त्याग कर दे, अपने अधिकार का भी। किन्तु आज का ब्राह्मण पात्र कैसा है? वह मछली और मांस के साथ मदिरा और

---

१. जहँ भए शाक्य हरिचंद रु नहुप ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर बासुदेव सयांनो।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखानी।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या रानी॥ (भा० दु०)

२. हाय पचनद हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत।
हाय चितौर निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहिं मँझारी॥ (भा० दु०)

३. जग इन बल कांपै देखि कै चड दापै। सोइ यह प्रिय मेरे ह्वै रहे आज चेरे। (भा०दु०)

४. उठो उठो मैया क्यों हारो अपुन रूप सुमिरोरी।
राम युधिष्ठिर विक्रम की तुम झटपट सुरत करोरी।
कहां गये छत्री किन उनके पुरुषारथहि हरोरी।
चूरो पहिरि स्वाँग बनि आए धिक धिक्कयन कपोरी। (भा० जननी)

५. कहँ गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहां नासे करि कै थिर।
कहँ छत्री सब परे बनमि सब गए सिंते गिर।
कहां राज को तौन साज जेहि जानत है चिर।
कहँ दुर्ग सैनधन बल गयो, धूरहि धूर दिखात-जग। (भारत दुर्दशा और भारतजननी)

मदिरेक्षणा का सेवन करता है।[1] राजा को मद और मांस की सरिता में डुबोने वाला ब्राह्मण पात्र ही है। फलतः वह यमराज के यहाँ भयंकर दण्ड पाता है। वेद-शास्त्र का उपयोग यह स्वार्थ के लिये करता है। 'प्रेमयोगिनी' के पंडित चाँदी के बल पर यह फतवा देने को तैयार हो जाते हैं कि विधवा लड़की अपने वेश सुन्दरतापूर्वक सजा सकती है। 'वैदिकी हिंसा' में वह मद्य और माँस भक्षण के पक्ष में शास्त्र-सम्मतियाँ उद्धृत करता है। स्वार्थसिद्धि के लिए धार्मिक ग्रन्थों की उक्तियों को तोड़-मरोड़ कर मनचाहा अर्थ वह निकाल लेता है। यदि इस पात्र को निमंत्रण की गंध मिल जाय तो दूर से सिर के बल दौड़ कर जाता है।[2] निमंत्रण पाने के लिए वह दलबन्दी करता है। पंडा बनकर वह बातें बना-बनाकर रुपया पाता है। जब मुफ्त में पेट भरता जाय तो वह घोर परिश्रम क्यों करे ? अतः नाटककार व्यंग्यात्मक सूक्ति में कहता है—"सई जात में ब्राह्मण, धर्म में वैरागी, रोजगार में सूद और दिल्लगी में गप सबसे अच्छी।" इसका कारण भी नाटककार आगे देता है—"घर बैठे जन्म बिताना, न कहीं जाना और न कहीं आना। बस खाना, हगना, मूतना, सोना, बात बनाना, तान मारना और मस्त रहना।"[3]

एक पात्र है अंग्रेज। नाटककार इसके गुण भी गाता है और निंदा भी करता है। भारत दुर्दैव के रूप में मुसलमान के साथ अंग्रेज भी चित्रित[4] हैं। महारानी विक्टोरिया के रूप में यह प्रशंसित है। ऐसे गुणी और दयालु अंग्रेज और भी हैं। 'भारत जननी' में भारत माता के सामने दो अंग्रेज उपस्थित है। पहला बुरा है और दूसरा भला। ग्लैडस्टन, फौसेट, मौनियर विलियम्ज, ब्राइट, रिपन इत्यादि के रूप में ये अंग्रेज भारतीयों के प्रति सहृदयता रखने वाले[5] हैं। पहला अंग्रेज सौदागर रूप में भारत में आया और धूर्तता से पैर पसार कर यहीं जम गया।[6] वह टैक्स लगाता है, देशप्रेमियों को डिस्लायल्टी में पकड़ता है, चाटुकारों को खिताब और मेडल देता है।

भारतेन्दुजी ने मूर्त और अमूर्त—दोनों प्रकार के पात्रों को अपनाया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में पाप, धर्म, सत्य, महाविद्या, 'भारत दुर्दशा' में भारत दुर्दैव, सत्यानाश, आशा, निर्लज्जता, अंधकार, रोग, मदिरा, आलस्य डिसलायल्टी, भारतभाग्य—अमूर्त या प्रतीक पात्र है। इसी प्रकार 'भारत जननी' में भारत माता, सरस्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, ऐसे ही पात्र हैं। 'पाखंड विडंबन'

---

१. वैदिकी हिंसा २. प्रेमजोगिनी
३. भारत दुर्दशा, अंक ४
४. क्रूर, आधा किस्तानी, आधा मुसलमानी वेष (भारत दुर्दशा अंक ३)
५. भारत जननी।
६. विषस्य विषमौषधम्।

रात-दिन हा-हा ठी-ठी, बहुत भवा हुइ चार कवित्त बनाय लिहिन बस होय चुका।

छक्कूजी—अरे कवित्त तो इनके बापो बनावत रहे। कवित्त बनाव से का हो थै और कवित्त बनावना कुछ अपने लोगन का काम थोरे हय, ई भाँटन का काम है।

माखन—ई तो हई है, पर उन्हे तो ऐसी सेखी है कि सारा जमाना मूरख है और मैं पडित। थोड़ा सो कुछ पढ-बढ लिहिन है।

छक्कूजी—पढिन का है, पढा-बढा कुछ भी नहिनी, एहर ओहर की दुइ चार बात सीख लिहिन किरिस्तानी मते की, अपने मारग की बात तो कुछ जनबै नाही कर्त्ते, अब ही कल के लडका हैं।

ब्राह्मण अपनी शास्त्रना दिखाने के लिए और दूसरो पर अपना आतक जमाने के लिये सस्कृत के झूठे उद्धरण रखता जाता है। 'विषमौषधम्' का भट्टाचार्य इसका उदाहरण है। 'वैदिकी हिंसा' का पुरोहित भी ऐसा ही है—
पुरोहित—हाँ-हाँ। हम कहते है और वेद, शास्त्र, पुराण, तत्र—

सब कहते हैं—'जीवो जीवस्य जीवनम्'।

(वैदिकी हिंसा, अंक—१)

नाटककार ने कथनो की स्वाभाविकता और वास्तविकता के रग में रँगने का भरपूर प्रयास किया है। 'नीलदेवी' में पागल का प्रलाप, पीकदान और चपरगह के कथोपकथन, और 'प्रेमजोगिनी' के सवाद इसके उदाहरण हैं। हाँ, उद्देश्य-विशेष से नाटककार ने इस वास्तविकता को परिवर्तित भी कर दिया है। 'अंधेर नगरी' के दूकानदारो के कथन वास्तविक नही है वरन् उद्देश्यगर्भित हैं। भाव और आवेश के कथन उद्वेगपूर्ण और काव्यात्मक हो गये हैं।
उदाहरण—

विश्वा० (क्रोध से) सच है रे क्षत्रियाधम ! तू काहे को पहिचानेगा। सच है रे सूर्य्यकुल कलक ! क्यो तू क्यो पहिचानेगा, धिक्कार है तेरे मिथ्या धर्माभिमान को, ऐसे ही लोग पृथ्वी को अपने बोझ से दबाते हैं। अरे दुष्ट ! तैं भूल गया, कल पृथ्वी किसको दान की थी ? जानता नहीं मैं कौन हूँ ?

(सत्य हरिश्चन्द्र)

शैव्या और चन्द्रावली के कथन भी भावो के प्रकाशन हैं।

भाषा

भाषा के सबध में भारतेन्दुजी ने सस्कृत नाटको की प्रणाली अपनाई है और पात्रानुसार भाषा में परिवर्तन किया है। उनके पात्र हिन्दी के अतिरिक्त प्रान्तीय भाषाओं और बोलियो का प्रयोग करते हैं। 'प्रेमजोगिनी' का महाराष्ट्री

ब्राह्मण मराठी[1] बोलता है तो 'नीलदेवी' का काजी और अमीर उर्दू[2] में अपने भाव प्रकट करता है। 'पाखंड विडवन' का दिगम्बर राजस्थानी[3] बोलता है और 'चन्द्रावली' में ब्रजभाषा प्रचुरता से प्रयुक्त है। स्थानीय बोलियों का उपयोग भी नाटककार करता चलता है—उदाहरण—

(क) चौकीदार—ई के हो भाई। कोई परदेशी जान पड़ा ला, हमहन के कुछ घूस-फूस देई की नाही, भला देखी तो सही। (विद्यासुन्दर)

(ख) झपटिया—का हो मिसिरजी, तोरी नींद नाहीं खुलती? देखो शंख-नाद होय गवा, मुरियाजी खोजत रहे। (प्रेमजोगिनी)

उक्त उदाहरण अपने शुद्ध रूप में प्रस्तुत है। ये पात्र अपनी प्रान्तीय भाषा में स्थानीय बोली बोलते हैं और इनमें हिन्दी (खड़ी बोली) का मिश्रण नहीं है यद्यपि ये हिन्दी के नाटकों में प्रयुक्त हुई है। कुछ पात्रों से उन्होंने हिन्दी (खड़ी बोली) मिश्रित प्रान्तीय भाषाएँ बुलवाई हैं। उदाहरण—

(क) बंगाली—हाकिम लोग काहे को नाराज होगा। हम लोग सदा चाहता कि अंग्रेजों का राज्य उत्पन्न न हो, हम लोग केवल अपना बचाव करता (उपवेशन) (भारत-दुर्दशा)

(ख) पहला गुजराती—मिसिरजी, जय श्रीकृष्ण। कहो का समय है?
पहला गुजराती—अच्छा मथुरादासजी बैसी जाओ। (प्रेमजोगिनी)
तीसरा रूप वह है जहाँ प्रान्तीय या विदेशी पात्र हिन्दी भाषा में कथन करते हैं—

(क) पहला अंग्रेज—(तर्जन-गर्जन) रे दुराशय! दुर्वृत्तिगण! क्या इसी हेतु तुम लोगों को ज्ञान-चक्षु दिया है? रे नराधम! राजविद्रोही! महारानी के पुकारने में तुम लोगों को तनिक भी भय का संचार नहीं होता। (भारत जननी)

(ख) डिसलायल्टी—नहीं, नहीं, तुम सब सर्कार के विरुद्ध एकत्र हुए हो, हम तुमको पकड़ेंगे। (भारत-दुर्दशा)

(ग) बंगाली—इसमें यह प्रमाण कि मत्स्य की उत्पत्ति वीर्य और रज से नहीं है। इनकी उत्पत्ति जल से है। इस हेतु जो फलादिक भक्ष्य हैं तो ये भी भक्ष्य हैं। (वैदिकी हिंसा)

---

१. महाराष्ट्री—दीक्षितजी थोड़े से पाणी घा, तहान बहुत लागली आहे।
२. अमीर अलहम दुलिल्लाह। इस कम्बख्त काफ़िर को किसी तरह गिरफ्तार किया। अब बाक़ी फ़ौज भी फ़तह हो जायगी।
३. दिगंबर—अरे कपालिकरों दरसन ही मोच्छ को सुख है। अरे आचारज, हूं थारो सेवक हूँ, हमकूं भैरवी दिच्छा ध्यान सूं दे।

रात-दिन हा-हा ठी-ठी, बहुत भवा हुइ चार कवित्त बनाय लिहिन बस होय चुका।

छक्कूजी—अरे कवित्त तो इनके बापौ बनावत रहे। कवित्त बनाव से का होथै और कवित्त बनावना कुछ अपने लोगन का काम थोरे हय, ई भाटन का काम है।

माखन—ई तो हई है, पर उन्हें तो ऐसी सेखी है कि सारा जमाना मूरख है और मै पंडित। थोड़ा सो कुछ पढ-बढ़ लिहिन है।

छक्कूजी—पढिन का है, पढा-वढा कुछ भी नहिनी, एहर ओहर की दुइ चार बात सीख लिहिन किरिस्तानी मते की, अपने मारग की बात तो कुछ जनबै नाही कत्तें, अब ही कल के लड़का हैं।

ब्राह्मण अपनी शास्त्रता दिखाने के लिए और दूसरो पर अपना आतक जमाने के लिये संस्कृत के झूठे उद्धरण रखता जाता है। 'विषमौषधम्' का भट्टाचार्य इसका उदाहरण है। 'वैदिकी हिंसा' का पुरोहित भी ऐसा ही है—

पुरोहित—हाँ-हाँ। हम कहते हैं और वेद, शास्त्र, पुराण, तत्र—

सब कहते हैं—जीवो जीवस्य जीवनम्'।

(वैदिकी हिंसा, अंक—१)

नाटककार ने कथनो की स्वाभाविकता और वास्तविकता के रंग में रँगने का भरपूर प्रयास किया है। 'नीलदेवी' में पागल का प्रलाप, पीकदान और चपरगह के कथोपकथन, और 'प्रेमजोगिनी' के सवाद इसके उदाहरण हैं। हाँ, उद्देश्य-विशेष से नाटककार ने इस वास्तविकता को परिवर्तित भी कर दिया है। 'अंधेर नगरी' के दूकानदारो के कथन वास्तविक नही हैं वरन् उद्देश्यगर्भित हैं। भाव और आवेश के कथन उद्वेगपूर्ण और काव्यात्मक हो गये हैं।

उदाहरण—

विश्वा० (क्रोध से) सच है रे क्षत्रियाधम ! तू काहे को पहिचानेगा। सच है रे सूर्य्यकुल कलक ! काहे तू क्यों पहिचानेगा, धिक्कार है तेरे मिथ्या धर्माभिमान को, ऐसे ही लोग पृथ्वी को अपने बोझ से दबाते है। अरे दुष्ट ! तै भूल गया, कल पृथ्वी किसको दान की थी ? जानता नही मैं कौन हूँ ?

(सत्य हरिश्चन्द्र)

शैव्या और चन्द्रावली के कथन भी भावों के प्रकाशन हैं।

भाषा

भाषा के सबंध में भारतेन्दुजी ने संस्कृत नाटकों की प्रणाली अपनाई है और पात्रानुसार भाषा में परिवर्तन किया है। उनके पात्र हिन्दी के अतिरिक्त प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों का प्रयोग करते हैं। 'प्रेमजोगिनी' का महाराष्ट्री

ब्राह्मण मराठी[1] बोलता है तो 'नीलदेवी' का काजी और अमीर उर्दू[2] में अपने भाव प्रकट करता है। 'पाखंड विडंबन' का दिगम्बर राजस्थानी[3] बोलता है और 'चन्द्रावली' में ब्रजभाषा प्रचुरता से प्रयुक्त है। स्थानीय बोलियों का उपयोग भी नाटककार करता चलता है—उदाहरण—

(क) चौकीदार—ई के हो भाई। कोई परदेशी जान पड़ा ला, हमहून के कुछ घूस-फूस देई की नाही, भला देखीं तो सही। (विद्यासुन्दर)

(ख) झपटिया—का हो मिसिरजी, तोरी नींद नाहीं खुलती? देखो शख-नाद होय गवा, मुखियाजी खोजत रहे। (प्रेमजोगिनी)

उक्त उदाहरण अपने शुद्ध रूप में प्रस्तुत है। ये पात्र अपनी प्रान्तीय भाषा में स्थानीय बोली बोलते हैं और इनमें हिन्दी (खड़ी बोली) का मिश्रण नहीं है यद्यपि ये हिन्दी के नाटकों में प्रयुक्त हुई है। कुछ पात्रों से उन्होंने हिन्दी (खड़ी बोली) मिश्रित प्रान्तीय भाषाएँ बुलवाई हैं। उदाहरण—

(क) बंगाली—हाकिम लोग काहे को नाराज होगा। हम लोग सदा चाहता कि अंग्रेजों का राज्य उत्पन्न न हो, हम लोग केवल अपना बचाव करता (उपवेशन) (भारत-दुर्दशा)

(ख) पहला गुजराती—मिसिरजी, जय श्रीकृष्ण। वहो का समय है?
पहला गुजराती—अच्छा मथुरादासजी बैसी जाओ। (प्रेमजोगिनी)

तीसरा रूप वह है जहाँ प्रान्तीय या विदेशी पात्र हिन्दी भाषा में कथन करते हैं—

(क) पहला अंग्रेज—(तर्जन-गर्जन) रे दुराशय! दुर्वृत्तिगण! क्या इसी हेतु तुम लोगों को ज्ञान-चक्षु दिया है? रे नराधम! राजविद्रोही! महारानी के पुकारने में तुम लोगों को तनिक भी भय का संचार नहीं होता। (भारत जननी)

(ख) डिसलायल्टी—नहीं, नहीं, तुम सब सर्कार के विरुद्ध एकत्र हुए हो, हम तुमको पकड़ेंगे। (भारत-दुर्दशा)

(ग) बंगाली—इसमें यह प्रमाण कि मत्स्य की उत्पत्ति वीर्य और रज से नहीं है। इनकी उत्पत्ति जल से है। इस हेतु जो फलादिक भक्ष्य हैं तो ये भी भक्ष्य हैं। (वैदिकी हिंसा)

---

१. महाराष्ट्री—दीक्षितजी थोड़े से पाणी था, तहान बहुत लागली आहे।

२. अमीर अलहम दुलिल्लाह। इस कम्बख्त काफ़िर को किसी तरह गिरफ्तार किया। अब बाकी फ़ौज भी फ़तह हो जायगी।

३. दिगंबर—अरे कपालिकरों दरसन ही मोच्छ को सुख है। अरे आचारज, हूँ थारो सेवक हूँ, हमहूँ भैरवी दिच्छा ध्यान मूँ दे।

इस प्रयास में 'पाखंड विडम्बन' के भिक्षुक बुद्धागम की भाषा सबसे विचित्र और उपहासास्पद है। यदि भारतेन्दुजी ने इसके कथन हिन्दी में कराये होते जैसे कि ऊपर अंग्रेज, डिसलायल्टी और बंगाली के हैं तो अधिक अच्छा होता। 'पाखंड विडम्बन' का भिक्षुक बालकों की छकार-प्रधान कृत्रिम बोली बोलता है।

भिक्षुक—अले अले उपाछकओ, अले अले भिक्षुओं अले सुनो, भगवान् छौगत का वचन सुनो इत्यादि।

यदि भारतेन्दुजी एक अंग्रेज से हिन्दी बुलवा सकते हैं तो इस भिक्षुक से एक कृत्रिम भाषा क्यों बुलवाते हैं? इसी प्रकार महाराष्ट्री से मराठी या किसी से राजस्थानी बुलवाना क्या उचित है? यदि प्रत्येक पात्र अपनी भाषा बोले तब तो भाषाओं और बोलियों का अजायबघर हो जाएगा—वह नाटक। इसीलिए उन्होंने विदेशी पात्रों से विदेशी भाषा नहीं बुलवाई है। किन्तु प्रान्तीय भाषा बुलवाना भी तो उसी प्रकार उचित न होगा। हाँ, हिन्दी में थोड़े से प्रान्तीय भाषा या बोली के शब्द घुलाकर पात्र की भाषा को यथार्थ रूप देना अधिक उचित है। पात्र की भाषा में कुछ परिवर्तन रस और स्वाभाविकता की दृष्टि से उचित है। इससे पात्र में वास्तविकता अधिक आ जाती है। किन्तु शब्दों को मिश्रण की प्रक्रिया तक ही जाना अच्छा है, उस भाषा का शुद्ध रूप में प्रयुक्त होना उचित नहीं है। इसीलिए भारत-दुर्दशा के बंगाली की भाषा अधिक स्वाभाविक और सरस बन गई है।

स्त्री, सेवक, ब्राह्मण, वैश्य, राजा इत्यादि की दृष्टि से भी भाषा में परिवर्तन हुआ है। उनके पठित ब्राह्मण संस्कृत उगलते जाते हैं, स्त्रियों की भाषा में मुहावरों और सरलता का मिश्रण है।[1] निम्नवर्गीय सेवक वे ही भाषा प्रयुक्त नहीं करते जो राजा करते हैं। कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन है। राजा की हिन्दी, तत्सम-प्रधान है[2] तो निम्नवर्गीय पुरुष या सेवक की तद्भव-प्रधान।[3] धर्म जब चाण्डाल का रूप ले लेता है तो भाषा में परिवर्तन हो जाता है। जब वह धर्म रूप में बोलता या सोचता है तो और भाषा प्रयोग करता है और जब चाण्डाल रूप में कथन करता है तो भाषा में परिवर्तन हो जाता है।

धर्म—(आप ही आप) हाय हाय! इस समय इस महात्मा को बड़ा ही कष्ट है। तो अब चलें आगे। (आगे बढ़कर) अरे अरे, हम तुमको मोल लेंगे, लेव यह पचास मैं मोहर लेव। इसी प्रकार नीलदेवी अमीर और उसके सैनिक चपर गट्टू की भाषा में अन्तर है।

---

१. चन्द्रावली (चन्द्रावली नाटिका) एवं हीरा मालिन (विद्यासुन्दर)
२. राजा हरिश्चन्द्र (सत्य हरिश्चन्द्र) राजा (विद्यासुन्दर) और चन्द्रगुप्त (मुद्राराक्षस)
३. चौकीदार (विद्यासुन्दर) पीकदान अली (नीलदेवी)

भारतेन्दु-युग आधुनिक हिन्दी का प्रारंभिक युग है जिसमें गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग प्रारंभ हुआ था। प्रारंभ में ही ऐसी सँवरी, गद्य भाषा का प्रयोग कम महत्त्वपूर्ण और स्तुत्य नहीं है। इसके लिए भारतेन्दुजी एवं उनके सहयोगी सदा स्मरणीय रहेंगे। प्रारंभिक रूप होने से भाषा में अपरिपक्वता के दर्शन तो होते ही हैं। यह तो स्वाभाविक था किन्तु अरुचिकर है अश्लील शब्दों का प्रयोग-उदाहरण—

(क) विदूषक—हे पुरोहित—नित्य देवी के सामने मराया करो और प्रसाद खाया करो।

(बीज मे चूतर फेर कर बैठ गया) (वैदिकी हिंसा अंक—२)

(ख) भूरी०—खूब बचाताड़यो, का कहना, तूँ ही चूतिया हंटर।

(प्रेमजोगिनी, गर्भांक २)

शैली

हम पीछे कथानक-प्रसंग में कह आए कि भारतेन्दुजी ने एक ओर संस्कृत नाट्य-शैली पर चन्द्रावली, विषमौषधम् और सत्य हरिश्चन्द्र लिखे तो पश्चिमी नाट्य-शैली पर नीलदेवी और भारत-दुर्दशा की रचना की। 'विद्यासुन्दर', 'वैदिकी हिंसा' और 'अन्धेर नगरी' में दोनों का मिश्रण है। हाँ, 'विद्यासुन्दर' में पश्चिमी की ओर झुकाव है तो दोनों प्रहसनों में संस्कृत नाट्यशैली की ओर। उन्होंने गीत-प्रधान नाटक 'नीलदेवी' और 'सती सावित्री' की रचना की तो गद्य-प्रधान 'सत्य हरिश्चन्द्र' की भी। काव्य-प्रधान नाटिका 'चन्द्रावली' भी शैली की दृष्टि से परम मनोहर है। नृत्य-प्रधान लास्य रूपक 'भारत-दुर्दशा' में पात्र किसी-न-किसी प्रकार का नृत्य करते हुए आते हैं। इस संबंध में एक बात ध्यान में रखने की है कि वे नाटकों में काव्य और गीतों के प्रयोग की अनिवार्यता स्वीकारते हैं। यही कारण है कि 'मुद्राराक्षस' को समाप्त कर उपसंहार में कुछ गीत देते हुए वे कहते हैं कि "इस नाटक में आदि-अन्त तथा अंकों के विश्राम-स्थल में रंगशाला में ये गीत गाने चाहिये।" गीतों में राग-रागनियाँ हैं तो चलताऊ गीत भी जो उस काल में प्रचलित थे। गीतों से उन्होंने वातावरण बनाया है, रसधारा प्रवाहित की है, चरित्र पर प्रकाश डाला है, विचार प्रकट किया है और कथानक में सहायता ली है। पश्चिमी शैली के नाटकों में वर्जित दृश्य ले आते हैं तो संस्कृत नाट्य-शैली के नाटकों में इनका प्रयोग नहीं हुआ है।

देशकाल

सस्कृत नाटय-परम्परा में ऐसे बहुत ही कम नाटक हैं जिनमें युग के भावों और विचारों को समेटा गया हो। 'मृच्छकटिक' नाटक को अत्यन्त ख्याति इसीलिए प्राप्त हुई कि उसमें युग के कुछ चित्र प्रतिबिम्बित हैं। 'मुद्राराक्षस' में भी

तत्कालीन राजनीतिक दशा का चित्रण है। ऐसे नाटकों की संख्या अँगुली पर सीमित है। ब्रजभाषा नाटकों मे भी परम्परागत प्रणाली दिखाई देती है। इनमे युग का चित्र नही के बराबर है। भारतेन्दुजी के पिता ने भी 'नहुष' नाटक में वही परम्परागत प्रणाली अपनाई और प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से युग के विचारो का सकेत नही किया। 'इन्दर सभा' का भी यही हाल है। भारतेन्दुजी हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं जिन्होने अपने नाटको में प्राचीन एव नवीन युग के चित्र खींचे हैं, विशेषतया आधुनिक युग के कुछ नाटक[1] तो केवल इसीलिए निर्मित हुए कि वे नाटककार के अभिलषित युगीन भाव एव विचार दे सकें। प्राचीन नाटको मे भी प्राचीन एव नवीन चित्र देने का कही-कही प्रयास हुआ है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' की 'इन्द्र सभा' मे अर्वाचीन चित्र अकित हैं। उदाहरण—

(क) इन्द्र महाराज। सियारसी लोग जिसको बढ़ा दें, चाहे घटा दें।

(ख) नारद—बडा पद मिलने मे कोई बडा नही होता। बडा वही है जिसका चित्त बडा है। अधिकार तो बडा है पर चित्त मे सदा क्षुद्र और नीच बातें सूझा करती हैं वह आदर के योग्य नही है, परन्तु जो कैसा भी दरिद्र है पर उसका चित्त उदार और बडा है वही आदरणीय है।

(ग) इन्द्र—जो जितने बड़े हैं उनकी ईर्षा उतनी ही बडी है। हमारे ऐसे बड़े पदाधिकारियो को शत्रु उतना सताप नही देते जितना दूसरों की सपत्ति और कीर्ति।

सत्य हरिश्चन्द्र के तृतीय अक मे काशी-वर्णन मे भी वर्त्तमान का साक्षात् चित्र है। चन्द्रावली मे भी कुछ ऐसे सकेत मिल जाते हैं।

(क) शुकदेव—कोई नेम-धर्म मे चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान मे मस्त, कोई मत-मतान्तर के झगडे मे मतवाला हो रहा है, एक-दूसरे को दोष देता है अपने को अच्छा समझता है, कोई ससार को ही सर्वस्व मान कर परमार्थ से चिढ़ता है, कोई परमार्थ ही को परम पुरुषार्थ मानकर घर-बार तृण-सा छोड़ देता है। अपने-अपने रग मे सब रँगे हैं। जिसने जो सिद्धान्त कर लिया है, वही उसके जी मे गड़ रहा है और उसी के खडन-मडन मे जन्म बिताता है। (विष्कभक)

(ख) एक बेर भी मुँह दिखा दिया होता तो मतवाले मतवाले बने क्यों लड़-लड़कर सिर फोड़ते। (अक—३)

वर्तमान दशा को दिखाने के लिये लिखे गये—भारत दुर्दशा, प्रेम जोगिनी, अन्धेर नगरी, विषमौषधम्, वैदिकी हिंसा और 'भारत जननी' मे तो वर्त्तमान की छाप आरम्भ से अन्त तक लगी हुई है।

---

१. नीलदेवी, अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा, भारत दुर्दशा, प्रेमजोगिनी।

हमारी अपेक्षा भारतेन्दुजी मुस्लिम-काल के अधिक निकट थे। मुस्लिम क्रूरताओं के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत सुना था। अंग्रेजों की नीति ने भी मुसलमानों की क्रूरता के रंग में गहरा रंग भरा था। उनकी आँखों के सामने वाराणसी का विश्वनाथ मन्दिर प्रतिदिन आता था जिसका एक भाग मस्जिद बना हुआ था। हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की घटनाएँ घट रही थीं। अंग्रेजों से शह पाकर मुसलमान शेर की नाई गरजते थे और हिन्दुओं को दबाते थे। इसके फलस्वरूप भारतेन्दुजी ने दो दृष्टिकोण अपनाए—(१) मुसलमान आततायियों की क्रूरता के प्रति घृणा और (२) हिन्दुओं के उत्थान की भावना। उनके नाटकों में मुस्लिम क्रूरताओं के प्रति स्थान-स्थान पर घृणा फैली मिलती है, विशेषतया 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी' और 'भारत-जननी' में। उनका भारत दुर्दैव जो भारत को लहू-लुहान करता है, मुसलमानी क्रूरता का प्रतीक है। हलाकू, चंगेज, तैमूर, अहमदशाह के रूप में इसी ने भारतीय हिन्दुओं का विध्वंस किया था। मथुरा और अयोध्या में भी यही कथा थी।[1] मुसलमान हिन्दुओं को काफिर और नीच कहते थे, और हिन्दुओं से झगड़ा कर बैठते थे।[2] इसी मुस्लिम क्रूरता ने भारतीय हिन्दुओं का रक्त चूस कर उन्हें खोखला बना दिया था।[3]

भारतेन्दुजी का भारत से अभिप्राय था, भारतीय हिन्दुत्व। उनकी दृष्टि के सामने हिन्दू ही थे जब वे कुछ भी लिख रहे थे। भारत की दुर्दशा का अर्थ है—हिन्दुओं की दुर्दशा। जब भारत आकर कहता है कि "कोऊ नहिं पकरत मेरो हाथ' तो भारत का हिन्दुत्व कराह रहा है। भारत जब कहता है 'अरे पामर जयचन्द ! तेरे उत्पन्न हुए बिना मेरा क्या डूबा जाता था' तो यह हिन्दुत्व का शोक प्रकाशन है। भारत के प्राचीन गौरव में हरिश्चन्द्र, वासुदेव, राम, भीम, अर्जुन इत्यादि का नाम आता है, अलादीन औरंगजेब का नाम आया भी है तो हिन्दू धर्म के विरोधियों के रूप[4] में—जिन्होंने धर्म के लिये काफिरों का सिर काटा। भारतेन्दुजी के समय में भी हिन्दुओं की दुर्दशा मुसलमान कर रहे थे।[5]

---

१. जहाँ विसेसर सोमनाथ माधव के मंदिर।
   तहँ महजिद बन गई होत अल्ला हो अकबर। (भारत-जननी)
२. काफिर काला नीच पुकारूँ तोड़ पैर औ हाथ। (भारत-दुर्दशा)
३. मेरे शरीर का तो अब रक्त भी शेष नहीं, यवन सब चूस ले गये। (भारत जननी)
४. अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो।
   विषय वासना दुसह मुहम्मद सह फैलायो।
५. रामपुर में दुरंत यवन हिन्दुओं को इतना दुःख देते हैं, पूजा नहीं करने देते, शंख नहीं बजता। (विषस्य विषमौषधम्)

अंग्रेजी राज्य में भी हिन्दुओं की दुर्दशा है, इसका भी दुःख कम न था। भारत दुर्दशा का करने वाला भारत दुर्दैव आधा मुसलमान है और आधा अंग्रेज है। अंग्रेजों का राज्य मुसलमानों से अच्छा था क्योंकि अंग्रेज हिन्दुओं के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करते थे, हिन्दुओं को अपने धार्मिक आचरण की पूर्ण स्वतंत्रता थी, और अंग्रेजी राज्य में विद्या, कला-कौशल और सुरक्षा बढ़ी थी।[1] फलतः भारतेन्दुजी ने अंग्रेजी राज्य[2], और महारानी विक्टोरिया[3] की प्रशंसा की। किन्तु यह प्रशंसा सापेक्ष थी क्योंकि भारतेन्दुजी की दृष्टि में अंग्रेजी राज्य मुस्लिम राज्य से श्रेष्ठतर था और यह भी महिमामयी महारानी विक्टोरिया के कारण। किन्तु साथ ही यह भी सत्य था कि अंग्रेजी राज्य में अनेक दोष थे। अतः उन्होंने अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजों की भरपूर निंदा भी की है। अंग्रेजी राज्य का सबसे बड़ा दोष था, कर[4] अंग्रेजी राज्य के ही कारण भारत का सारा धन बहकर इंगलैंड पहुँच रहा था।[5] अंग्रेज भारत के धन को कब्रों तक से निकाल-निकाल कर अपने देश में भेज रहे थे।[6] इनके राज्य में महँगी और रोग का मुँह फैला।[7] अदालत, फैशन, और सिफारिश ने भी भारतीय धन को दोनों हाथ लूटा[8] अंग्रेज लोग तुहफे और घूस के रूप में धन एकत्र कर रहे थे। भारतीय धनी पुरुषों और राजाओं को राय बहादुरी या सी० आई० ई० इत्यादि की उपाधियाँ देकर और तोपों की सलामी दाग कर अपनो से तोड़ रहे थे, मूर्ख बना रहे थे। पक्षपात का बोलवाला था, हिन्दुओं की उपेक्षा होती थी, एवं उनमें भय का संचार कराया जाता था।[9] देश उद्धार या सुधार की बातें करने वाले को पकड़ लिया जाता था।[10] भारतीयों के पास न विद्या

---

१ देखा विश्व का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है। विद्या की चरचा फैली, सबको सब कुछ कहने-सुनने का अधिकार मिला, देश-विदेश से नई-नई विद्या और कारीगरी आई। (भा० दुर्दशा)

२. अंगरेजराज सुख साज सजे सब भारी। (भा० दु०-अंक १)
   अंग्रेज का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जगोगे? (भा० दु०-अंक ६)

३. भारत दुर्दशा और भारत जननी

४. सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई। (भा० दु०-१)

५. पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी। (भा० दु०-१)
   हिन्दू चूरन इसका नाम। विलायत पूरन इसका काम। (अंधेर नगरी-२)

६. धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली (भा० दु०-३)

७. ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी। (भा० दु०-१)

८. भा० दु० अंक-३, सत्यानाश फौजदार का कथन।

९. भारत दुर्दशा में वही पात्र।

१०. भारत दुर्दशा का पाँचवा अंक।

ही थी न कला-कौशल। बस नौकरी और सूद पर निर्भर थे।[1] भुखमरी व्याप्त थी,[2] गऊ, वेद और ब्राह्मण का आदर नहीं था।[3] अंग्रेजी राज्य की नींव थी पुलिस। ये पुलिस वाले इसीलिये नौकर थे कि कानून की रक्षा करें, कानून को डकार रहे थे। कानून की परवाह न करके मनमानी बरतते थे और प्रजा को कष्ट देते थे।[4] अफसर घूस लिये बिना काम नहीं करते थे।[5]

मुसलमानों और अंग्रेजों के कारण तो हिन्दुओं की दुर्दशा हुई ही थी परन्तु इस दुर्दशा का प्रधान कारण वे स्वयं भी थे। हिन्दुओं में अनेक दोष आ गए थे जिनसे उनकी सामाजिक एवं राजनीतिक दशा बिगड़ी थी। सामाजिक स्थिति बिगड़ने के कारण आन्तरिक थे, और हिन्दुओं ने स्वयं उत्पन्न किये थे। हिन्दुओं में अनेक पंथों ने हिन्दुओं को बाँटा, जातियों और उपजातियों में बँटकर हिन्दुओं ने नीच-ऊँच का भाव उपजाया और आपस में भेद-भाव बढ़ा। ये न आपस में एक साथ खा-पी सकते थे और न दूसरों से स्नेह-सम्बन्ध जोड़ सकते थे। बचपन की शादी ने समाज के बल की रीढ़ तोड़ दी थी। एक ओर कुलीन चाहे जितनी पत्नियाँ पाले, दूसरी ओर ऐसे भी अभागे थे जिनको एक भी प्राप्त न हो पाती थी। विधुर विवाह करके रंगरेलियाँ मना सकता था किन्तु विधवा के लिये वही नियम न था क्योंकि वह स्त्री थी, नियम बनाना उसके हाथ में न था। एक ओर केवल एक ईश्वर की उपासना करने वाले ईसाई और मुसलमान थे, दूसरी ओर अनेक देवी-देवताओं के बाड़ों में बँधे हिन्दू[6] ऐसे रूढ़िवादी और मूर्ख बन गये थे कि विलायत में जाने से डरते थे, विलायत गमन को धर्म-विरुद्ध मानते थे और जाने वाले को दंडित करते थे।[7] हिन्दू आलसी

---

१. पुरुष अब उत्तम शून्य हो केवल सूद या नौकरी पर संतोष करके बैठे हैं।

२. पहिला—माता बड़ी भूख लगी है। (भारत-जननी)
   दूसरा—क्षुधा से उदर फटा जाता है।
   तीसरा—माँ कुछ खाने को दो। (भारत जननी)

३. गोद्विज श्रुति आदर नहिं होई।

४. चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते। (अंधेर नगरी)

५. चूरन अमले सब जो खावें। दूनी रिश्वत तुरत पचावें। (अंधेर नगरी)

६. बहुत हमने फैलाये धर्म।
   बढ़ाया छुआ छूत का कर्म।
   शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलायो।
   जाति अनेकन करी नीच और ऊँच बनायो।
   खान-पान सम्बन्ध सबन सो बरजि छुड़ायो।
   बालकपन में ब्याहि प्रीति बल नास कियो सब।
   करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मार्यो।
   बिधवा विवाह निषेध कियो विभिचार प्रचार्यो (भा० दु० अंक-३)

७. रोकि विलायत गमन कूपमंडूक बनायो।
   औरन को संसर्ग छुड़ाय प्रचार घटायो। (भारत दुर्दशा, अंक ३)

और अकर्मण्य बनकर अपनी अधोगति कर रहे थे। ब्राह्मण निमंत्रण और जिजमानी पर निरुद्यमी हो गये थे तो बनिये सूद पर पेट फुला रहे थे, संन्यासी माँग कर खाते थे तो अनेक हिन्दू गप्प मार मर इधर-उधर बैठ कर जन्म व्यर्थ खो रहे थे।[1] ब्राह्मणों को भाँग ने मोह रखा था, वे पैसे के लिए धर्म एवं वेद बेच रहे थे[2] और निमंत्रण के लिए ऐसे उत्सुक बैठे रहते थे मानो निमंत्रण में ही उनके प्राण रहते हों। हिन्दुओं में शराब ने अपना प्रवेश कर लिया था और सभी जाति के लोग इसे पीने लगे थे। ब्राह्मणों और अग्रवालों में भी इसने भरपूर प्रवेश पा लिया था।[3]

मांस खाने का भी ढंग हिन्दुओं ने निकाल लिया था। वे बलिदानी मांस खाते थे। उसमें क्या दोष था? भला यह तो देवी का प्रसाद था। इसी प्रकार मछली में कौन दोष निकाल सकता था।[4] सन्यासी, महंत और गोसाईं भोगी और वार-विलासी बन गये थे।[5] विद्या हिन्दुओं में रह ही न गई थी, वे मूर्ख और अज्ञानी बनकर आपस में संघर्ष करते थे।[6]

उद्देश्य

रस—भारतीय नाट्याचार्यों ने नाटक में रस को विशिष्ट स्थान प्रदान किया है। यह कहा जा सकता है कि नाटक का उद्देश्य 'रस-प्रवाह' ही है।

---

१. भई जात में ब्राह्मण, धर्म में बैरागी, रोजगार में सूद
   और दिल्लगी में गप सबसे अच्छी। (भा० दु० अंक ४)
२. भारत जननी गर्भांक २ एवं ४ और टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जाय और धोबी को ब्राह्मण कर दे, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दे। टके के वास्ते झूट को सच कर दे। (अंधेर नगरी, अंक २)
३. ब्राह्मण छत्री वैश्य अरु सैयद सेख पठान।
   दै बताइ मोहि कौन जो, करत न मदिरा पान।
   पियत भट्ट के ठट्ट अरु गुजरातिन के वृंद।
   गौतम पियत अनंद सों, पियत अग्र के नंद। (भारत दुर्दशा)
   ब्राह्मण सब छिपि पियत जामें जानि न जाय।
   पोथी के चोंगान भरि बोतल बगल छिपाय। (वैदिकी हिंसा, अंक ३)
४. अरे एकादशी के मछली खाई।
   अरे कदौ मरे बैकुंठे जाई।
   बंगाली—और मत्स्य तो कुछ मांस भक्षण में नहीं। इसमें यह प्रमाण कि मत्स्य की उत्पत्ति वीर्य और रजसे नहीं है। इनकी उत्पत्ति जल से है।
५. वैदिकी हिंसा के गडकी दास।
   धनदास–गुरु, इन सबन का भाग बड़ा तेज है, मालो लूटैं महररुबो लूटैं।
   (प्रेमजोगिनी १-१)
६. भारत दुर्दशा में अंधकार का कथन; एवं—बिना एकता बुद्धि कला के भए सबहि बिधि दीन। (भारत-दुर्दशा)

कोई भी नाट्याचार्य ऐसा नहीं हुआ है जिसने रस को महत्त्व न दिया हो। काव्य के क्षेत्र में अलंकार इत्यादि को भले ही बहुत महत्त्व मिला हो, उन्हें काव्य के प्राणों की सत्ता मिल गई हो किन्तु नाटक के क्षेत्र में रस का स्थान अडिग जमा रहा। भारतीय नाट्याचार्यों ने नाटककारों को आज्ञा दी—अपने नाटकों से रस-सरिता प्रवाहित करो। यही कारण है कि रूपक के भेद करते समय वस्तु और नेता के साथ रस का भी वर्णन किया गया है। रस पर जो बड़ा वाद-विवाद हुआ है उसके मूल में नाटक का दर्शक, नायक या अभिनेता है। इससे रस का नाटक में क्या स्थान है यह स्पष्ट हो जाता है। भारतेन्दुजी भी नाटक के मुख्य उद्देश्य की चर्चा करते हुए कहते हैं—"प्रसंग-क्रम से नाटक में कितनी भी शाखा-प्रशाखा विस्तृत हो और गर्भांक के द्वारा आख्यायिका के अतिरिक्त और कोई विषय वर्णित हो किन्तु मूल प्रस्ताव निष्कंप रहे तो उसकी रस-पुष्टि करने को मुख्य उद्देश्य कहा जाता है।"[1] अपने नाटकों में उन्होंने इस उद्देश्य के अनुसार रस-धारा को प्रवाहित किया है। रस-वर्षा से दर्शक उत्फुल्ल होते हैं, उन्हें भावावेश होता है। इसी को कहा जाता है कि दर्शकों को आनंद आ रहा है। शोक से नेत्राश्रु बहते हैं, पर वे नाटक देखते हैं, क्योंकि उन्हें भावावेश हो रहा है, उनका विनोद हो रहा है, उनका मन परिष्कृत होकर रस या आनन्द प्राप्त कर रहा है। भारतीय सिद्धान्तानुसार एक नाटक में एक ही मुख्य रस होगा, शेष रस उसके सहायक या संचारी हो सकते हैं। भारतेन्दु जी ने इसका ध्यान रखा है।

'वैदिकी हिंसा' और 'अंधेर नगरी' प्रहसन हैं। फलतः इनमें हास्य रस की प्रधानता है। राजा हरिश्चन्द्र हमारे सामने सत्य वीर रस के रूप में आते हैं। वीभत्स, अद्भुत, करुण, रौद्र, शृंगार, और शांत रस इसके सहायक रूप में आते हैं। चन्द्रावली में विप्रलंभ शृंगार की प्रधानता है तो विद्यासुन्दर में संयोग शृंगार की। नाटकों में रस की पुष्टि की गई है। विभाव, अनुभाव, संचारी भावों से स्थायी भाव पुष्ट होकर रस-रूप में आनन्द देता है। 'चन्द्रावली' नाटिका में चन्द्रावली आश्रय है और कृष्ण आलम्बन। वन-प्रदेश, सीटी का बजना, झूलना इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं। आरंभ से अन्त तक अश्रु, स्मरण, आवेग, अमर्ष, औत्सुक्य, उन्माद, चपलता, चिन्ता, इत्यादि संचारी भावों को स्पष्टतया देखा जा सकता है।

रस के साथ ही नाटक से उपदेश भी प्राप्त हो यह भारत की नाटक-परम्परा का उद्देश्य रहा है। भरतमुनि ने स्वयं उपदेश पर बल दिया है।[2]

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग १, पृ० ७३०
२. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य : गोपीनाथ तिवारी, पृ० ३७६

भारतेन्दुजी यह स्वीकारते हैं कि नाटकों से कोई शिक्षा मिलनी चाहिये, ऐसा 'नाटक' नामक निबन्ध में स्पष्टतया घोषित करते हैं।[1] वे साथ में यही यह भी कहते है कि मेरे नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नील देवी' से सत्य प्रतिज्ञा और देश-प्रेम की शिक्षा मिलती है। 'वैदिकी हिंसा' का सूत्रधार कहता है—"हाँ, जो लोग मास-लीला करते हैं उनकी लीला करेंगे।" सत्य हरिश्चन्द्र के समर्पण में वे कहते हैं—"तुम्हारे सत्यपथ पर चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं, यही इसमें दिखाया है।" 'चन्द्रावली' में भगवान् की भक्ति का चित्रण है, यह समर्पण से स्पष्ट है। 'भारत दुर्दशा' का निर्माण क्यों हुआ, इसका सकेत योगी की लावनी से मिल जाता है। 'भारत जननी' का सूत्रधार कहता है: "भारत-भूमि और भारत-सतान की दुर्दशा दिखाना ही इस भारत-जननी की इतिकर्तव्यता है। 'नील देवी' का मैंने क्यो निर्माण किया है, इसके विषय में ग्रन्थकार कहता है—"आर्य्य जन-मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्वदा स्त्री-गण इसी अवस्था में थी। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने ही के हेतु यह ग्रन्थ विरचित होकर आप लोगो के कोमल कर-कमलो मे समर्पित होता है। निवेदन यही है कि आप लोग इन्ही पुण्य रूप स्त्रियों के चरित्र को पढ़ें-सुनें और क्रम से यथाशक्ति अपनी वृद्धि करें।" इस प्रकार भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों में जहाँ रस को स्थान दिया, वहाँ उनसे शिक्षा दिलाने का भी प्रयास किया।

अभिनय

रूपक, नाटक और ड्रामा शब्दो से स्वत: नटो एवं अभिनय का अर्थ निकल आता है।[2] भारतीय और पश्चिमी नाट्यशास्त्री एवं नाटकालोचक इस बात से सहमत हैं कि नाटक की संज्ञा वाली साहित्यिक विधा में अभिनय अन्तर्निहित रहना चाहिये। भारतेन्दुजी भी इसी मत के थे जिसका प्रकाशन उनके 'नाटक' नामक निबन्ध मे यत्र-तत्र हुआ है। फलतः भारतेन्दुजी ने नाटको का निर्माण करते समय अभिनय का ध्यान रखा है और उनके नाटक अभिनेय हैं। यह अभिनय तत्व हम निम्न रूपो मे पाते है—

१. अक-दृश्य योजना
२. रगसज्जा
३. प्रकाश-व्यवस्था
४. अभिनय-सकेत
५. वेश-भूषा
६. गीत-नृत्य

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग–१, पृ० ७४०
२. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य : गोपीनाथ तिवारी, पृ० ३८६-३८७

(१) दृश्य योजना

भारतेन्दुजी ने नाटकों को अंकों में विभाजित किया है।[1] केवल गर्भांकों[2] या दृश्यों[3] में, अथवा अंक-गर्भांकों में।[4] इन अंकों—दृश्यों और गर्भांकों की योजना के पीछे भारतेन्दुकाल से आज तक प्रचलित यवनिका अथवा पर्दों की पद्धति दिखलाई पड़ती है। उन्होंने अंकों—गर्भांकों—दृश्यों के अंत में जवनिका गिराने का उल्लेख किया है। उन्होंने यवनिका शब्द का प्रयोग नहीं किया है, सदा 'जवनिका पतन' लिखा है। कहीं-कहीं उन्होंने 'पटाक्षण'[5] और 'पर्दा गिरता है'[6] यह भी लिखा है। अत. स्पष्ट है कि दृश्य-योजना में उनका ध्यान पर्दों की ओर अवश्य था। अंक या दृश्य के आरम्भ में वे पर्दे का सकेत 'स्थान' से देते हैं। जब वे कहते हैं 'स्थान राजमार्ग' तो इसका अभिप्राय है कि यह दृश्य ऐसे पर्दे पर अभिनीत होगा जिस पर एक मार्ग चित्रित होगा जिसके दोनों ओर ऊँचे मकान अंकित होंगे। इन चित्रित पर्दों की सहायता से ही उनके नाटकों के दृश्य अभिनीत होंगे। मंच पर कुछ रंग-सज्जा भी रखी जा सकती है। पर्दों को इस प्रकार रँगा जायेगा कि मंच पर से सामग्री हटाने और पर्दा बदलने में अधिक समय न लगे। जब एक अंक में कई गर्भांक या दृश्य हैं अथवा केवल दृश्य हैं तो दो गर्भांकों या दृश्यों के बीच अधिक समय नहीं लगना चाहिये किन्तु अंक के बाद दूसरे अंक के आरम्भ तक कुछ समय दिया जा सकता है। पर्दों के लगाने में निर्देशक को देखना पड़ेगा कि कौन-सा पर्दा आगे लगाया जाय और कौन सा पीछे। भारतेन्दुजी ने जो अंकों या दृश्यों का क्रम रखा है वही पर्दों का क्रम रहे यह आवश्यक नहीं है क्योंकि ऐसा ही क्रम रखने से मंच-सज्जा की बाधा सामने आ सकती है। पर्दे इस प्रकार व्यवस्थित रहने चाहिये कि मंच-सज्जा पीछे होती रहे या वहाँ से हटाई जा सके। निम्न तालिका पर्दों की व्यवस्था की दृष्टि से प्रस्तुत है—

विद्यासुन्दर

पर्दों का क्रम	चित्र	दृश्य या अंक
१.	राजकीय उपवन	१-२
२.	साधारण घर	१-३

---

१. चन्द्रावली नाटिका, वैदिकी हिंसा, अंधेर नगरी, सत्य हरिश्चन्द्र। (भा० ग्रं०)
२. प्रेमजोगिनी।
३. नीलदेवी, सती प्रताप।
४. विद्यासुंदर।
५. नीलदेवी, दृश्य ५, ६, १०, और अंधेर नगरी, अंक ६।
६. सत्य हरिश्चन्द्र, प्रथम अंक, रत्नावली।

पर्दों का क्रम	चित्र	दृश्य का अंक
३.	राजमार्ग	३-१
४.	*राजकीय प्रासाद-कक्ष*	*१-४, २-१, २-२, २-३, ३-२*
५	राजकीय प्रासाद	१-१, ३-३

पहले अंक का पहला गर्भांक पाँचवें पर्दे पर अभिनीत होगा, इसी प्रकार अन्य गर्भांक।

नीलदेवी

१.	पर्वत-शिखर	१ दृश्य
२.	सराय	४ ,,
३.	कैदखाना	७ ,,
४.	मैदान में तम्बू	५, ६
५.	पर्वत तराई, मैदान, वृक्ष	३, ८
६.	सैनिक शिविर	२, ६, १०

सती प्रताप

१.	हिमालय का अधोभाग	१
२.	तपोवन	२, ४
३.	नगर उद्यान	३

प्रेमजोगिनी

१.	मन्दिर का आँगन	१-१
२.	मैदान में पेड़, कुआ, बावली	१-२
३.	बैठकखाना	१-४
४.	स्टेशन	१-३

अंधेर नगरी

१.	वन-मार्ग	१, ३, ५ अंक
२.	बाज़ार	२
३.	राजसभा	४
४.	श्मशान	६

वैदिकी हिंसा

१.	*लाल रँगा राजभवन*	*१ अंक*
२.	राज पथ	३ ,,
३.	पूजाघर	२ ,,
४.	यमपुरी	४ ,,

भारत दुर्दशा

पर्दों का क्रम	चित्र	दृश्य या अंक
१.	वीथी	१-६
२.	तम्बुओं का पर्दा	३
३.	श्मशान	२
४.	अंग्रेजी शैली से सजा कमरा किताबें भी सजी हुई	४-५

चौथे और पाँचवें अंक में कुछ समय—लगभग ३-४ मिनट लग जायेंगे। पहले वाले पात्र निकल जायेंगे, दूसरे आकर बैठ जायेंगे। वैसे भारतेन्दुजी ने इन दोनों अंकों के बीच में समय बहुत रखा है क्योंकि दोनों की रंग-सज्जा अलग-अलग है।

सत्य हरिश्चन्द्र

१.	नगर के बाहर तालाब	३ अंक अंकावतार
२.	राजभवन	२ अंक
३.	इन्द्रसभा	१ अंक
४.	काशी घाट के किनारे की सड़क	३ अंक
५.	श्मशान	४ अंक

चन्द्रावली

१.	वन-किनारे पर पहाड़	१
२.	वीथी	दूसरे अंक का अंकावतार
३.	वन-केले चित्रित	२
४.	तालाब के पास बगीचा	३
५.	कमरा बीच में फटा—खिड़की पीछे यमुनाजी खिड़की से दिखाई दें	४

(२) रंग सज्जा—

रंग-सज्जा का भी भारतेन्दुजी ने ध्यान रखा है और प्रत्येक अंक अथवा दृश्य के प्रारम्भ में रंग-सज्जा का वर्णन दिया है। उदाहरण—

(क) 'बीच में गद्दी तकिया धरा हुआ, घर सजा हुआ।'

(सत्य हरिश्चन्द्र प्रथम अंक)

(ख) झूला पड़ा है, सखियाँ झूलती हैं। (चन्द्रावली तीसरा अंक)

(ग) कौआ, कुत्ता, स्यार घूमते हुए, अस्थि इधर-उधर पड़ी हैं।

(भा० दु० दूसरा अंक)

(घ) कमरा अंग्रेजी सजा हुआ, मेज-कुरसी लगी हुई (भा० दु० चौथा अंक)

कौआ, कुत्ता, स्यार इत्यादि का मंच पर लाना कठिन है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे भी श्मशान की मंच-सज्जा कठिन है। इन्हे पर्दे मे चित्रित दिखाया जाय, भारतेन्दुजी का अभिप्राय यही प्रतीत होता है क्योंकि नाटककार वहाँ लिखता है "नदी, पीपल का बडा पेड, चिता, मुरदे, कौए, सियार, कुत्ते, हड्डी इत्यादि।" इसी प्रकार की दृश्य-सज्जा है 'चन्द्रावली' नाटिका के चौथे अक मे "खिड़की में से यमुनाजी दिखाई पड़ती हैं।" परन्तु यह पर्दों की सहायता मे सरल हो जाती है।

(३) प्रकाश-व्यवस्था—

नाटको से दो प्रकार की प्रकाश-व्यवस्था का पता चलता है। (१) नाटककार स्वयं लिखता है कि यहाँ लाल प्रकाश हो अथवा श्वेत। भारत जननी मे जब सरस्वती मंच पर प्रवेश करती हैं तो नाटककार का संकेत है कि 'सफेद चन्द्र-जोत छोडी जाय।' दुर्गा के आने पर नाटककार लाल चन्द्रजोत छोडने का निर्देश देता है तो लक्ष्मी के प्रवेश-समय हरी चन्द्रजोत छुडवाता है। (२) दूसरे प्रकार के वे स्थल हैं जहाँ नाटककार इतना कह देता है कि संध्या[1] या रात्रि[2] का समय है जबकि "रगशाला के दीपो मे से अनेक बुझा दिये जायेंगे[3]"

(४) अभिनय संकेत—

भारतेन्दुजी ने अभिनय सकेत प्रचुर मात्रा मे दिये हैं। ये दो प्रकार से दिये गए हैं—(१) स्वय अक या दृश्य के आरम्भ में, मध्य में या अन्त में तथा (२) पाद-टिप्पणियो मे। उदाहरण—

(क) अक या दृश्य के आरम्भ मे—

विद्या बैठी हुई है, डाली हाथ मे लिये मालिन आती है।

(विद्यासुन्दर १-४)

विद्या बैठी है और चपला पंखा हांकती है और सुलोचना पान का डिब्बा लिए खडी है—(विद्यासुन्दर २-१)। राजा, मन्त्री, पुरोहित और भट्टाचार्य आते हैं और अपने-अपने स्थान पर बैठते हैं (वैदिकी हिंसा, द्वितीय अंक)। अपनी खुली शिखा को हाथ से फटकारता हुआ चाणक्य आता है (मुद्राराक्षस प्रथम अक)। रानी शैव्या बैठी है और एक सहेली बगल मे खडी है (सत्य हरिश्चन्द्र, द्वितीय अक)।

मलिन मुख किए सूत्रधार और पारिपार्श्वक आते हैं।

(प्रेमजोगिनी, प्रस्तावना)

झपटिया इधर-उधर घूम रहा है। (वही १-१)

सध्यावली दौडी हुई आती है। (चन्द्रावली मे दूसरे अक का अकावतार)

---

१ चन्द्रावली, अक २।
२. नीलदेवी, पांचवां दृश्य।
३. भारत दुर्दशा अंक ४, अंधकार के प्रवेश-समय।

भारत एक वृक्ष के नीचे अचेत पड़ा है। (भारत दुर्दशा, छठा अंक)

इधर-उधर मुसलमान लोग हथियार बांधे मोंठ पर ताव देते बड़ी शान से बैठे हैं। (नील देवी, छठा दृश्य)

(ख) दृश्य या अंक के मध्य एवं अन्त के अभिनय-संकेत—

वेदांती टेढ़ी दृष्टि से देखकर चुप रह गया। सब लोग हँस पड़े।
(वैदिकी हिंसा, द्वितीय अंक)

मतवाले बने हुए राजा और मन्त्री आते हैं। (वही, तृतीय अंक)

एक दूसरे के सिर पर धौल मारकर ताल देकर नाचते हैं। फिर एक पुरोहित का सिर पकड़ता है और दूसरा पैर, और उसको लेकर नाचते हैं।
(वही, तृतीय अंक)

सहज ही भृकुटी चढ़ जाती है। (सत्य हरिश्चन्द्र, प्रथम अंक)

रानी घबड़ाकर आदर के हेतु उठती है। (सत्य हरिश्चन्द्र, द्वितीय अंक)

इतना कहकर अत्यन्त व्याकुलता नाट्य करता है।
(सत्य हरिश्चन्द्र, द्वितीय अंक)

हरिश्चन्द्र लज्जा और विकलता नाट्य करता है। (वही, अंक४)

इधर-उधर फिर कर एक जगह बैठकर गाता है।
(नील देवी, पाँचवाँ दृश्य)

काजी उठकर सबके आगे घुटने के बल झुकता है और फिर अमीर आदि भी उसके साथ झुकते हैं। (नीलदेवी, छठा दृश्य)

(ग) पाद-टिप्पणियों से अभिनय-संकेत—

मोटा आदमी जँभाई लेता हुआ धीरे-धीरे आवेगा। (भा० दु० अंक ४)

(५) वेश-भूषा—

भारतेन्दुजी ने मंच पर प्रवेश करने वाले पात्रों की भी बहुत से स्थानों पर वेश-भूषा दी है। इससे प्रकट है कि वे अभिनय का ध्यान रख रहे थे।

उदाहरण—

नंगे सिर बड़ी धोती पहिने बंगाली आता है।
(वैदिकी हिंसा, प्रथम अंक)

पुरोहित गले में माला पहिने टीका दिए बोतल लिए उन्मत्त-सा आता है। (वैदिकी हिंसा, तृतीय अंक)

'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में निम्नलिखित पात्रों की वेश-भूषा दी गई है जो नीचे अंकित हैं—

विश्वामित्रजी—मृग चर्म, दाढ़ी, जटा, हाथों में पवित्री और कमण्डल, खड़ाऊँ पर चढ़े। (अंक २)

शैव्या—लहँगा, साड़ी, सब जनाना गहिना, बंदी, बेना इत्यादि।

सहेली—साड़ी, सादा सिंगार।

ब्राह्मण—धोती, उपरना, सिर पर चुंदी वा सिर पर बाल, दाढ़ी, हाथों में पवित्री, तिलक, खड़ाऊँ। (अंक ३)
पाप—काजल-सारंग, लाल नेत्र, महाकुरूप, हाथ में नंगी तलवार लिए, नीला काछा काछे। (अंकावतार तीसरे अंक का)

इसी प्रकार अन्य पात्रों की वेश-भूषा दी है। 'भारत दुर्दशा' के पात्रों की वेश-भूषा भी 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के समान पाद-टिप्पणियों में लिख दी गई है। उदाहरण—

भारत—फटे कपड़े पहने, सिर पर अर्द्ध किरीट, हाथ में टेकने की छडी। (अंक २)
निर्लज्जता—सिर खुला, ऊँची चोली, दुपट्टा ऐसा गिरता-पड़ता है कि अंग खुले, सिर खुला, खानगियों का-सा वेश। (अंक २)
भारत दुर्दैव—क्रूर, आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी वेष, हाथ में नंगी तलवार लिये। (अंक ३)

(६) नाटक के अभिनय में नृत्य एवं गीत से बड़ी सहायता मिलती है। भारतीय नाट्याचार्यों ने गीत एवं नृत्य की अभिनय-उपयोगिता पर बड़ा बल दिया है। भरतमुनि ने इन दोनों को अपने 'नाट्यशास्त्र' में स्थान दिया है। भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों में दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। स्थान-स्थान पर उन्होंने नृत्य के संकेत दिये हैं। गीतों के बिना तो वे नाटक लिखने के पक्ष ही में न थे। यही कारण है कि 'मुद्राराक्षस' नाटक का अन्त करके उपसंहार 'क' में नाटककार ने नाटक में स्थान-स्थान पर गाने के लिए गीत दिए हैं। उनका कोई नाटक गीत-विहीन नहीं है। कहीं गीत के साथ वर्णित है, कहीं अलग से।

उदाहरण—

वैदिकी हिंसा के तृतीय अंक में पुरोहित गाता है—गिरता-पड़ता नाचता है, नाचता-नाचता गिर के अचेत हो जाता है। जब राजा और मन्त्रीजी सम्मिलित हो जाते हैं तो 'मंत्री उठकर राजा का हाथ पकड़ कर गिरता-पड़ता नाचता और गाता है।' सत्य हरिश्चन्द्र के चतुर्थ अंक में पिशाच और डाकिनी-गण गाते-बजाते हुए प्रवेश करते हैं और कहते हुए चले जाते हैं। सती सावित्री के चौथे दृश्य के अन्त में नारद गाते हैं और नृत्य करते हैं।

भारतेन्दुजी का स्थान

हिन्दी में दो व्यक्तियों को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उनमें से प्रथम है प्रातः-स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजी और दूसरे है भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जिन्होंने हिन्दी को ऊँचा स्थान दिलाया है। गोस्वामीजी मूर्द्धन्य कवि हैं जिन पर हिंदी को गर्व है। भारतेन्दुजी ने भी अपना तन, मन और धन माँ हिन्दी की सेवा

मे होम दिया। आज जो हिन्दी को गौरवपूर्ण आसन प्राप्त है उसके बिछाने और स्थान बनाने में भारतेन्दुजी के दोनों युवक बलिष्ठ हाथों ने बड़ा उद्यम किया था। भारतेन्दुजी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनकी कविता भी अत्यन्त सरस और सबल है। किन्तु भारतेन्दुजी का विशेष योगदान है गद्य के क्षेत्र में। वे प्राणपण से माँ हिन्दी का भण्डार भरने में स्वयं जुट गये और जो सम्पर्क मे आया उसे भी जुटाया। उन्होंने लेख और निबध लिखे, हिन्दी का पृथक् गद्यात्मक संक्षिप्त नाट्यशास्त्र लिखा, जीवन-चरित्र और इतिहास लिखा, कहानी लिखी और उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया। किन्तु गद्य-साहित्य मे सबसे ऊँचा क़दम उठाया नाटक के क्षेत्र में। उनसे पूर्व ब्रजभाषा मे दो दर्जन काव्य-नाटक लिखे जा चुके थे। उनके पिता का 'नहुप' नाटक ब्रजभाषा काव्य-नाटकों की शैली पर लिखा गया था। 'इन्द्रसभा' नाटक की शैली ब्रजभाषा काव्य-नाटकों की शैली थी जो गीतों मे प्रस्फुटित हुई थी। राजा लक्ष्मणसिंह का शकुन्तला नाटक अनुवाद मात्र था। इस नाटक का महत्त्व यही है कि इसने, गद्य मे नाटक लिखा जा सकता है, इसकी सम्भावना सत्य सिद्ध कर दी। इतने पर भी भारतेन्दुजी से पूर्व का हिन्दी नाटक-साहित्य नगण्य है।

भारतेन्दुजी पहले नाटककार हैं जिन्होंने गद्य को अपनाकर प्राचीन और नवीन शैली को अपने नाटको में उतारा। उन्होंने अनवरत हिन्दी को नाटक दिये, कभी अनूदित नाटक और कभी मौलिक। उनके नाटक अभिनेय हैं। उन्होंने अपने नाटक खिलवाये। वे अन्यत्र डुमराव, बलिया, काशी, कानपुर, प्रयाग इत्यादि अनेक स्थानो पर खेले गये। कभी-कभी वे स्वयं भी अभिनेता बनकर मंच पर उतरते थे। अत. वे आधुनिक हिन्दी नाटको के जनक कहे जाते हैं। इसका यह तात्पर्य नही है कि उनसे पूर्व हिन्दी मे नाटक न लिखे गये थे। लिखे अवश्य गये थे, किन्तु वे काव्य-नाटक थे, एक विशेष धारा के नाटक थे और जन-नाटक शैली के अनुरूप लिखे गये थे। इन नाटको का ऐतिहासिक महत्व मात्र है। इन्होने हिन्दी नाटक-परम्परा को वेग नहीं दिया। भारतेन्दुजी ने प्रथम बार हिन्दी को ऐसे नाटक दिये जो साहित्य की वस्तु है और जिन्होंने आगे नाटक प्रणयन को प्रेरणा दी। भारतेन्दुजी के अस्तित्व ने ही प्रसाद को उत्पन्न किया। प्रसादजी भारतेन्दुजी से प्रभाव ग्रहण कर चुके थे जब उन्होने नाटक प्रणयन में हाथ लगाया, यह प्रसाद जी के आरम्भिक नाटको से प्रकट है। धीरे-धीरे प्रसादजी ने नाटकीय शैली मे परिवर्तन किया और शुद्ध साहित्यिक नाटको का प्रणयन किया। अत. भारतेन्दुजी का ऋण हिन्दी नाटक-जगत् पर विशेष है, वैसे तो पूरे हिन्दी संसार पर है। आज भी जब हिन्दी मे दो विशिष्ट नाटककारो का प्रश्न उठता है तो तुरन्त बिना हिचक के दो नाम बता दिये जाते हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रसाद। एक ने मच को ध्यान मे रखकर अभिनेय नाटक लिखे, तो दूसरे ने पुस्तको के निर्माण को दृष्टि में रखकर शुद्ध

ब्राह्मण—धोती, उपरना, सिर पर चुंदी वा सिर पर बाल, दाढ़ी, हाथों में पवित्री, तिलक, खड़ाऊँ। (अंक ३)

पाप—काजल-सारंग, लाल नेत्र, महाकुरूप, हाथ मे नंगी तलवार लिए, नीला काछा काछे। (अंकावतार तीसरे अंक का)

इसी प्रकार अन्य पात्रों की वेश-भूषा दी है। 'भारत दुर्दशा' के पात्रों की वेश-भूषा भी 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के समान पाद-टिप्पणियों में लिख दी गई है। उदाहरण—

भारत—फटे कपड़े पहने, सिर पर अर्द्ध किरीट, हाथ मे टेकने को छड़ी। (अंक २)

निर्लज्जता—सिर खुला, ऊँची चोली, दुपट्टा ऐसा गिरता-पडता है कि अंग खुले, सिर खुला, खानगियो का-सा वेश। (अंक २)

भारत दुर्दैव—क्रूर, आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी वेष, हाथ मे नंगी तलवार लिये। (अक ३)

(६) नाटक के अभिनय मे नृत्य एव गीत से बडी सहायता मिलती है। भारतीय नाट्याचार्यों ने गीत एव नृत्य की अभिनय-उपयोगिता पर बडा बल दिया है। भरतमुनि ने इन दोनों को अपने 'नाट्यशास्त्र' में स्थान दिया है। भारतेन्दुजी ने अपने नाटको मे दोनो को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। स्थान-स्थान पर उन्होंने नृत्य के सकेत दिये हैं। गीतो के बिना तो वे नाटक लिखने के पक्ष ही में न थे। यही कारण है कि 'मुद्राराक्षस' नाटक का अन्त करके उपसहार 'क' मे नाटककार ने नाटक मे स्थान-स्थान पर गाने के लिए गीत दिए हैं। उनका कोई नाटक गीत-विहीन नही है। कही गीत के साथ वर्णित है, कही अलग से।

उदाहरण—

वैदिकी हिंसा के तृतीय अंक मे पुरोहित गाता है—गिरता-पडता नाचता है, नाचता-नाचता गिर के अचेत हो जाता है। जब राजा और मन्त्रीजी सम्मिलित हो जाते है तो 'मत्री उठकर राजा का हाथ पकड कर गिरता-पड़ता नाचता और गाता है।' सत्य हरिश्चन्द्र के चतुर्थ अंक मे पिशाच और डाकिनी-गण गाते-बजाते हुए प्रवेश करते हैं और कहते हुए चले जाते हैं। सती सावित्री के चौथे दृश्य के अन्त मे नारद गाते हैं और नृत्य करते है।

भारतेन्दुजी का स्थान

हिन्दी में दो व्यक्तियों को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उनमें से प्रथम हैं प्रातः-स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजी और दूसरे हैं भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जिन्होंने हिन्दी को ऊँचा स्थान दिलाया है। गोस्वामीजी मूर्द्धन्य कवि हैं जिन पर हिंदी को गर्व है। भारतेन्दुजी ने भी अपना तन, मन और धन माँ हिन्दी की सेवा

में होम दिया। आज जो हिन्दी को गौरवपूर्ण आसन प्राप्त है उसके बिछाने और स्थान बनाने में भारतेन्दुजी के दोनों युवक बलिष्ठ हाथों ने बड़ा उद्यम किया था। भारतेन्दुजी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनकी कविता भी अत्यन्त सरस और सबल है। किन्तु भारतेन्दुजी का विशेष योगदान है गद्य के क्षेत्र में। वे प्राणपण से माँ हिन्दी का भण्डार भरने में स्वयं जुट गये और जो सम्पर्क में आया उसे भी जुटाया। उन्होंने लेख और निबंध लिखे, हिन्दी का पृथक् गद्यात्मक संक्षिप्त नाट्यशास्त्र लिखा, जीवन-चरित्र और इतिहास लिखा, कहानी लिखी और उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया। किन्तु गद्य-साहित्य में सबसे ऊँचा कदम उठाया नाटक के क्षेत्र में। उनसे पूर्व ब्रजभाषा में दो दर्जन काव्य-नाटक लिखे जा चुके थे। उनके पिता का 'नहुष' नाटक ब्रजभाषा काव्य-नाटकों की शैली पर लिखा गया था। 'इन्द्रसभा' नाटक की शैली ब्रजभाषा काव्य-नाटकों की शैली थी जो गीतों में प्रस्फुटित हुई थी। राजा लक्ष्मणसिंह का शकुन्तला नाटक अनुवाद मात्र था। इस नाटक का महत्त्व यही है कि इसने, गद्य में नाटक लिखा जा सकता है, इसकी सम्भावना सत्य सिद्ध कर दी। इतने पर भी भारतेन्दुजी से पूर्व का हिन्दी नाटक-साहित्य नगण्य है।

भारतेन्दुजी पहले नाटककार हैं जिन्होंने गद्य को अपनाकर प्राचीन और नवीन शैली को अपने नाटकों में उतारा। उन्होंने अनवरत हिन्दी को नाटक दिये, कभी अनूदित नाटक और कभी मौलिक। उनके नाटक अभिनेय हैं। उन्होंने अपने नाटक खिलवाये। वे अन्यत्र डुमराव, बलिया, काशी, कानपुर, प्रयाग इत्यादि अनेक स्थानों पर खेले गये। कभी-कभी वे स्वयं भी अभिनेता बनकर मंच पर उतरते थे। अतः वे आधुनिक हिन्दी नाटकों के जनक कहे जाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनसे पूर्व हिन्दी में नाटक न लिखे गये थे। लिखे अवश्य गये थे, किन्तु वे काव्य-नाटक थे, एक विशेष धारा के नाटक थे और जन-नाटक शैली के अनुरूप लिखे गये थे। इन नाटकों का ऐतिहासिक महत्त्व मात्र है। इन्होंने हिन्दी नाटक-परम्परा को वेग नहीं दिया। भारतेन्दुजी ने प्रथम बार हिन्दी को ऐसे नाटक दिये जो साहित्य की वस्तु हैं और जिन्होंने आगे नाटक प्रणयन को प्रेरणा दी। भारतेन्दुजी के अस्तित्व ने ही प्रसाद को उत्पन्न किया। प्रसादजी भारतेन्दुजी से प्रभाव ग्रहण कर चुके थे जब उन्होंने नाटक प्रणयन में हाथ लगाया, यह प्रसाद जी के आरम्भिक नाटकों से प्रकट है। धीरे-धीरे प्रसादजी ने नाटकीय शैली में परिवर्तन किया और शुद्ध साहित्यिक नाटकों का प्रणयन किया। अतः भारतेन्दुजी का ऋण हिन्दी नाटक-जगत् पर विशेष है, वैसे तो पूरे हिन्दी संसार पर है। आज भी जब हिन्दी में दो विशिष्ट नाटककारों का प्रश्न उठता है तो तुरन्त बिना हिचक के दो नाम बता दिये जाते हैं—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रसाद। एक ने मंच को ध्यान में रखकर अभिनेय नाटक लिखे, तो दूसरे ने पुस्तकों के निर्माण को दृष्टि में रखकर शुद्ध

साहित्यिक या पठनीय नाटकों की रचना की। ये दोनों नाटककार हिन्दी नाटक-जगत् में सबसे पहले दृष्टि में आते हैं और प्रथम पंक्ति में बैठते हैं। भारतेन्दुजी का महत्त्व इसमें है कि उन्होंने नाटक ही नहीं, नाटकीय क्षेत्र भी निर्मित किया तथा नाट्यशास्त्र की ओर भी कदम बढाया। दुख है कि भारतेन्दुजी की वह नाटक और रंगमंच की परम्परा आगे न बढ़ी; नहीं तो हिन्दी का नाटक-साहित्य बहुत समृद्ध हुआ होता।

५

भारतेन्दुजी के नाटक

भारतेन्दुजी का नाट्य रचनाकाल १८६७-६८ से प्रारंभ होता है और वह १८८१ तक चलता है। १३-१४ वर्ष के इस अल्पकाल में भारतेन्दुजी ने लगभग १८ नाटक लिखे। १८ नाटकों की संख्या ही आश्चर्यजनक है जबकि हम यह भी ध्यान में रखते हैं कि इसी अल्पावधि में भारतेन्दुजी ने पचासों काव्य एवं गद्य-ग्रंथ भी लिखे हैं। इसके साथ ही वे अनेक सामाजिक, साहित्यिक और शैक्षिक आयोजनों में योगदान करते रहते थे। इन १८ नाटकों में मौलिक, छायानुवाद और अनूदित तीनों प्रकार के नाटक हैं। भारतेन्दुजी ने नाटककार के रूप में अपना जीवन अनूदित नाटकों से प्रारम्भ किया और उसकी इतिश्री मौलिक नाटकों के साथ हुई।

अनूदित —८
छायानुवाद —२
मौलिक —८

अनूदित नाटकों में पांच नाटक ('प्रवास,' 'रत्नावली, 'पाखंड विडंबन', 'धनंजय विजय,' 'मुद्राराक्षस') संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं जिनमें 'मुद्राराक्षस' को बड़ी ख्याति मिली है। 'कर्पूर मंजरी' प्राकृत से अनूदित है। 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का 'दुर्लभ बन्धु' अनुवाद है और 'भारत जननी' बंगला से अनूदित हैं। इसका भारतेन्दुजी ने केवल संशोधन किया है। 'विद्यासुन्दर' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' छायानुवाद हैं जो मौलिक से बन गए हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' को तो अनेक मौलिक नाटक मानते ही हैं।

भारतेन्दुजी ने आठ मौलिक नाटक लिखे हैं। ये हैं—चन्द्रावली, नील देवी, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा, विषस्यविषमौषधम्, प्रेमयोगिनी और सती प्रताप। विषय की दृष्टि से भी भारतेन्दुजी की सूझ की प्रशंसा करनी पड़ती है। परम्परागत पौराणिक शैली को अपनाकर उन्होंने सत्य

हरिश्चन्द्र और सती प्रताप का प्रणयन किया। किन्तु वर्तमान युग की विचार-धारा को ग्रहण करते हुए उन्होंने अपने अधिकांश नाटक निर्मित किये। 'भारत दुर्दशा' एवं 'भारत जननी' उनके राजनीतिक नाटक हैं तो 'प्रेमयोगिनी' एवं 'वैदिकी हिंसा' सामाजिक। 'अंधेर नगरी' और 'विषस्यविषमौषधम्' भी राज-नीतिक दृष्टि से लिखे गए नाटक हैं। संस्कृत नाटकों में 'मुद्राराक्षस' की ख्याति इसलिए है कि यह अकेला अलग खडा हो कर कहता है—देखो मैं शुद्ध ऐति-हासिक नाटक हूँ। इसी वर्ग का नाटक है नील देवी जो ऐतिहासिक है। 'विद्या-सुन्दर' प्रेम नाटक है तो चन्द्रावली भक्ति-भरी नाटिका है। शैली की भिन्नता भी स्पष्ट है। एक ओर सस्कृत रूपक-उपरूपकों के भेदों मे सत्य हरिश्चन्द्र (नाटक), चन्द्रावली (नाटिका), वैदिकी हिंसा (प्रहसन) और विषस्य-विषमौ-षधम् (भाण) निर्मित हुए तो शुद्ध पश्चिमी शैली का नाटक है—'नील देवी'। 'प्रेमयोगिनी' मे यथार्थवाद का दर्शन होता है। इस प्रकार उन्होंने परम्परागत और नवीन विचारो, दृष्टिकोणो और शैलियो को अपनाकर १८ नाटक लिखे। उनकी क्रमागत सूची निम्नलिखित है—

नाम सूची

प्रवास (अप्राप्य)	१८६८ ई०
रत्नावली	१८६८
विद्यासुन्दर	१८६८
पाखंड विडबन	१८७२
वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति	१८७३
धनंजय विजय	१८७३
मुद्राराक्षस	१८७५
सत्य हरिश्चन्द्र	१८७५
प्रेमजोगिनी	१८७५
विषस्य विषमौषधम्	१८७६
कर्पूर मजरी	१८७६
चन्द्रावली	१८७६
भारत दुर्दशा	१८७६
भारत जननी	१८७७
नील देवी	१८८०
दुर्लभ बन्धु	१८८०
अधेर नगरी	१८८१
सती प्रताप	१८८१

प्रवास (१८६८ ई०)

१८६८ ई० मे भारतेन्दुजी ने 'प्रवास' नामक नाटक लिखना प्रारंभ किया

था। पता नहीं यह नाटक पूर्ण हुआ अथवा नही। इस नाटक का एक पृष्ठ बाबू शिवनन्दनसहाय ने देखा था।[1] उस पृष्ठ का भी कुछ पता नही है कि वह कैसा था और उस पर क्या था। अभी तक कही से भी यह नाटक प्राप्त नही हुआ है।

रत्नावली (१८६८)

१८६८ ई० में भारतेन्दु बाबू ने कविवर हर्ष की रत्नावली नाटिका का अनुवाद किया। संस्कृत साहित्य के संसार-प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को छोड़कर रत्नावली का अनुवाद भारतेन्दुजी ने क्यों किया? इसका उत्तर वे स्वयं देते हैं—"शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों मे रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढने वालों को आनन्द देने वाली है इस हेतु से मैंने पहले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है।" १८६३ ई० में 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह कर ही चुके थे। फलतः भारतेन्दुजी ने रत्नावली का अनुवाद किया। यह भारतेन्दुजी का आरंभिक नाटक था अतः भारतेन्दुजी अनुवाद के विषय में कुछ संकोच भी प्रकट करते हैं। वे लिखते हैं—"और निश्चय है कि इसका उल्था अगर कोई अच्छी हिन्दी जानने वाला करता तो रचना अति उत्तम होती, इससे मुझे आप लोगों से आशा है कि इसके भूल-चूक को सुधारेंगे और मुझे अपने एक दास की नाईं स्मरण करेंगे।"[2]

रत्नावली की भूमिका से ज्ञात होता है कि इसका पूरा अनुवाद हुआ था, पद्य का पद्य मे और गद्य का गद्य में।[3] अनूदित नाटिका का जो अंश आज प्राप्त है उसमें नांदी, प्रस्तावना और विष्कंभक मात्र हैं। शेष नाटक प्राप्त नही है। मूल के नांदी श्लोकों का अनुवाद गद्य में हुआ है। आगे पद्य का पद्य मे अनुवाद है। अनुवाद सफल और सरस है। एक उदाहरण देखिये—

सूत्रधार—आर्ये। दूरास्थितेनेत्यलमुद्वेगेन! पश्य द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधिर्दिशोऽप्यन्तात् आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभि मुखीभूतः।

इस आर्या छन्द का अनुवाद भारतेन्दुजी ने दोहे जैसे छोटे से छन्द में बड़ी सजगता के साथ किया है—

सूत्र०—प्यारी! वह दूर देश में है, इस बात की कुछ चिन्ता न करो, क्योंकि

जो विधवा अनुकूल तो दीपन सों सब लाय।
सागर मधि दिग अंत सों तुरतहि देत मिलाय॥

शास्त्रीय दृष्टि से संस्कृत नाटक-साहित्य मे रत्नावली नाटिका अत्यन्त

---

१. हरिश्चन्द्र, बा० शिवनन्दन सहाय, पृ० १६२
२. रत्नावली की भूमिका
३. वही।

हरिश्चन्द्र और सती प्रताप का प्रणयन किया। किन्तु वर्तमान युग की विचार-धारा को ग्रहण करते हुए उन्होंने अपने अधिकाश नाटक निर्मित किये। 'भारत दुर्दशा' एव 'भारत जननी' उनके राजनीतिक नाटक है तो 'प्रेमयोगिनी' एवं 'वैदिकी हिंसा' सामाजिक। 'अधेर नगरी' और 'विषस्यविषमौषधम्' भी राज-नीतिक दृष्टि से लिखे गए नाटक हैं। संस्कृत नाटको में 'मुद्राराक्षस' की ख्याति इसलिए है कि यह अकेला अलग खड़ा हो कर कहता है—देखो मैं शुद्ध ऐति-हासिक नाटक हूँ। इसी वर्ग का नाटक है नील देवी जो ऐतिहासिक है। 'विद्या-सुन्दर' प्रेम नाटक है तो चन्द्रावली भक्ति-भरी नाटिका है। शैली की भिन्नता भी स्पष्ट है। एक ओर सस्कृत रूपक-उपरूपको के भेदों मे सत्य हरिश्चन्द्र (नाटक), चन्द्रावली (नाटिका), वैदिकी हिंसा (प्रहसन) और विषस्य-विषमौ-षधम् (भाण) निर्मित हुए तो शुद्ध पश्चिमी शैली का नाटक है—'नील देवी'। 'प्रेमयोगिनी' मे यथार्थवाद का दर्शन होता है। इस प्रकार उन्होंने परम्परागत और नवीन विचारो, दृष्टिकोणों और शैलियो को अपनाकर १८ नाटक लिखे। उनकी क्रमागत सूची निम्नलिखित है—

नाम सूची

प्रवास (अप्राप्य)	१८६८ ई०
रत्नावली	१८६८
विद्यासुन्दर	१८६८
पाखंड विडंबन	१८७२
वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति	१८७३
धनंजय विजय	१८७३
मुद्राराक्षस	१८७५
सत्य हरिश्चन्द्र	१८७५
प्रेमजोगिनी	१८७५
विषस्य विषमौषधम्	१८७६
कर्पूर मजरी	१८७६
चन्द्रावली	१८७६
भारत दुर्दशा	१८७६
भारत जननी	१८७७
नील देवी	१८८०
दुर्लभ बन्धु	१८८०
अधेर नगरी	१८८१
सती प्रताप	१८८१

प्रवास (१८६८ ई०)

१८६८ ई० मे भारतेन्दुजी ने 'प्रवास' नामक नाटक लिखना प्रारंभ किया

था। पता नहीं यह नाटक पूर्ण हुआ अथवा नहीं। इस नाटक का एक पृष्ठ बाबू शिवनन्दनसहाय ने देखा था।[1] उस पृष्ठ का भी कुछ पता नहीं है कि वह कैसा था और उस पर क्या था। अभी तक कहीं से भी यह नाटक प्राप्त नहीं हुआ है।

रत्नावली (१८६८)

१८६८ ई० में भारतेन्दु बाबू ने कविवर हर्ष की रत्नावली नाटिका का अनुवाद किया। संस्कृत साहित्य के संसार-प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को छोड़कर रत्नावली का अनुवाद भारतेन्दुजी ने क्यों किया? इसका उत्तर वे स्वयं देते हैं—"शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनन्द देने वाली है इस हेतु से मैंने पहले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है।" १८६३ ई० मे 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह कर ही चुके थे। फलतः भारतेन्दुजी ने रत्नावली का अनुवाद किया। यह भारतेन्दुजी का आरंभिक नाटक था अतः भारतेन्दुजी अनुवाद के विषय में कुछ संकोच भी प्रकट करते हैं। वे लिखते हैं—"और निश्चय है कि इसका उल्था अगर कोई अच्छी हिन्दी जानने वाला करता तो रचना अति उत्तम होती, इससे मुझे आप लोगों से आशा है कि इसके भूल-चूक को सुधारेंगे और मुझे अपने एक दास की नाईं स्मरण करेंगे।"[2]

रत्नावली की भूमिका से ज्ञात होता है कि इसका पूरा अनुवाद हुआ था, पद्य का पद्य में और गद्य का गद्य में।[3] अनूदित नाटिका का जो अंश आज प्राप्त है उसमें नांदी, प्रस्तावना और विष्कंभक मात्र हैं। शेष नाटक प्राप्त नहीं है। मूल के नांदी श्लोकों का अनुवाद गद्य में हुआ है। आगे पद्य का पद्य में अनुवाद है। अनुवाद सफल और सरस है। एक उदाहरण देखिये—

सूत्रधार—मार्ये। द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधिर्दिशोऽप्यन्तात्। आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभि मुखीभूतः।

इस आर्या छन्द का अनुवाद भारतेन्दुजी ने दोहे जैसे छोटे से छन्द में बड़ी सजगता के साथ किया है—

सूत्र०—प्यारी! वह दूर देश में है, इस बात की कुछ चिन्ता न करो, क्योंकि

जो विधवा अनुकूल तौ दीपन सों सब लाय।
सागर मधि दिग अंत सों तुरतहिं देत मिलाय॥

शास्त्रीय दृष्टि से संस्कृत नाटक-साहित्य में रत्नावली नाटिका अत्यन्त

---

१. हरिश्चन्द्र, बा० शिवनन्दन सहाय, पृ० १६२

२. रत्नावली की भूमिका

३. वही।

सफल नाटिका मानी जाती है। नाट्यशास्त्र के लेखक धनंजय एवं विश्वनाथ ने अनेक उदाहरण इस नाटिका से दिए है। भारतेन्दुजी की भी इच्छा थी कि हिन्दी जगत् के सामने शास्त्रीय दृष्टि से एक अत्यन्त सफल नाटिका का उदाहरण रखें। इसके लिए उन्होंने रत्नावली को ही चुना और उसका अनुवाद किया। इसी नाटिका को आधार बनाकर उन्होंने आगे अपनी प्रसिद्ध नाटिका 'चन्द्रावली' लिखी।

विद्यासुन्दर (१८६८ ई०)

'विद्यासुन्दर' भारतेन्दुजी का दूसरा नाटक है। यह बँगला नाटक का छायानुवाद है। यह मात्र अनुवाद नही है, यह स्वीकारोक्ति स्वयं भारतेन्दुजी की है। द्वितीय आवृत्ति के उपक्रम मे भारतेन्दुजी कहते हैं—"विद्यासुन्दर की कथा बंग देश मे अति प्रसिद्ध है। कहते हैं कि चौर कवि जो संस्कृत मे चौर-पचाशिका का कवि है, वही सुन्दर है। कोई इस चौर-पचाशिका को वररुचि की बनाई मानते हैं। जो कुछ हो, विद्यावती की आख्यायिका का मूलसूत्र वही चौर-पचाशिका है। प्रसिद्ध कवि भारतचन्द्र राय ने इस उपाख्यान को बंग भाषा मे काव्य-स्वरूप मे निर्माण किया है और उसकी कविता ऐसी उत्तम है कि बंग देश मे आबाल-वृद्ध-वनिता सब उसको जानते हैं। महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने उसी का अवलम्बन करके जो विद्यासुन्दर नाटक बनाया था उसी की छाया लेकर आज पन्द्रह बरस हुए यह हिन्दी भाषा मे निर्मित हुआ है।" भारतेन्दुजी के इस कथन से निष्कर्ष निकलता है कि चौर पचाशिका की कथा को अपनाकर भारत चन्द्रराय ने बंग भाषा मे एक काव्य लिखा। इसका अवलम्बन करके महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने विद्यासुन्दर नाटक बनाया। भारतेन्दुजी ने इसी नाटक की छाया लेकर अपने विद्यासुन्दर नाटक की रचना की है।

कथानक

प्रथम अंक—वर्द्धमान नगर राजा की कन्या 'विद्या' बडी गुणवती और सुन्दरी है। राजा उसके अनुरूप वर खोजने के लिए गंगाभाट को भेजता है। राजा को पता चला था कि कांचीपुरी के राजा गुणसिंह का पुत्र सुन्दर अत्यन्त गुणी एवं सुन्दर है। अतः वह गंगाभाट से बार-बार कह देता है कि राजकुमार 'सुन्दर' को अवश्य देख आना। गंगाभाट अपनी वर-खोज-यात्रा पर चला जाता है।

इसी बीच नायक 'सुन्दर' राजकुमारी विद्या के विषय मे जानने के लिए छद्मवेष से वर्द्धमान नगर आता है। वह राजवाटिका मे हीरा मालिन के यहाँ ठहर जाता है। हीरा मालिन प्रतिदिन राजकुमार के लिए मालाएँ ले जाती थी। एक दिन राजकुमार ने एक बडी कलात्मक माला बनाकर मालिन को दी। माला के बीच मे उसने 'पुष्प धनु' भी बनाकर रख दिया। हीरा मालिन राजकुमारी विद्या को वह माला ले जाकर देती है। राजकुमारी उस माला को

देख आग्रहपूर्वक उसके निर्माणकर्त्ता के विषय में उत्सुकता से पूछती है। हीरा पहले तो हीलाहवाला करती है किन्तु बाद में राजकुमार सुन्दर के विषय में सब कुछ बता देती है। साथ ही राजकुमार सुन्दर के गुणों एवं सुन्दरता की बढ़ चढ़कर चर्चा करती है। राजकुमारी उसे देखने की बलवती इच्छा प्रकट करती है। हीरा मालिन वादा करती है कि मैं दूसरे दिन मिला दूंगी।

द्वितीय अंक—राजकुमार सुन्दर एक सुरंग राजमहल तक बनाता है और छद्मरूप में राजकुमारी के पास जा पहुँचता है। दोनों में वाक् चातुरी होती है। दोनों एक दूसरे को आत्मसमर्पण करते हैं। हाथ मिलाकर दोनों एक दूसरे को माला पहिना कर विवाह कर लेते हैं। सुन्दर वाटिका में लौट आता है।

उसी दिन सुन्दर संन्यासी का वेष बनाकर राज सभा में जाता है और शास्त्रार्थ के लिए राजकुमारी को ललकारता है। हीरा मालिन जाकर उसी संध्या को विद्या से कहती है कि एक विद्वान् संन्यासी तुम्हें शास्त्रार्थ में पराजित करके विवाह लेगा। विद्या बड़ी दुःखी होती है। रात्रि में सुरंग द्वारा सुन्दर राजकुमारी के पास आकर सूचना देता है कि संन्यासी मैं ही बना था।

तृतीय अंक—राजा को सूचना प्राप्त होती है कि रात्रि में कोई युवा राजकुमारी के महल में आ जाता है। कोतवाल को आज्ञा होती है कि चोर को पकड़ो। राजा हीरा मालिन एवं सुन्दर को पकड़ कर राजसभा में ले जाता है। राजा सुन्दर को कारागार भेज देता है। तभी गंगा भाट लौट कर आता है और बताता है चोर और कोई नहीं है वरन् राजा गुणसिंधु का पुत्र 'सुन्दर' है। राजा सुन्दर को कारागार से बुलवा कर क्षमा मांगता है। विद्या एवं सुन्दर का विवाह हो जाता है।

नाटक पश्चिमी शैली का है। अतः न उसमें नांदी पाठ है और न प्रस्तावना। नाटक तुरन्त आरम्भ हो जाता है। तथा तीन अंकों के साथ दस (४-३-३) गर्भांकों में विभाजित है। कथानक के पांच विभाजन इस प्रकार हैं—

प्रारम्भ—प्रथम अंक के गर्भांक १, २, ३—(सुन्दर हीरा मालिन के यहाँ रहने लगता है)।

प्रगति—प्रथम अंक का चौथा गर्भांक एवं द्वितीय अंक—
(नायक एवं नायिका मिलते हैं)।

चरमसीमा—अंक तीन का पहिला तथा दूसरा गर्भांक (सुन्दर पकड़ा जाता है)।

निर्गति—अंक ३ के गर्भांक ३ का आरम्भिक अंक (गंगाभाट की सूचना)

अन्त—अंक तीन का तीसरा गर्भांक—सुन्दर छूटता है एवं विवाह हो जाता है।

पात्र—

नाटक का नायक 'सुन्दर' सुन्दर एवं गुणी है। वह विद्वान् ही नहीं माला बनाने में निपुण कलाकार भी है। वह छद्मवेष बनाने में दक्ष है तथा बातचीत

करने में भी अत्यन्त निपुण है। नायिका विद्या भी नायक के अनुरूप गुणवती एवं सुन्दरी है। वह भी बात बनाने मे चतुर है। नाटक का तीसरा प्रमुख पात्र "हीरा" मालिन है। यह बडी काइयाँ स्त्री है और दूती का काम करती है। नायक नायिका को वही मिलाती है।

पात्रो का निर्माण मनोविज्ञान के आधार पर हुआ है। उदाहरण—

(१) प्राय. चपरासी एवं चौकीदार किसी नवीन व्यक्ति को देखकर बडा रौबदाब दिखाते हैं। वह इसलिए कि उससे कुछ प्राप्त हो जाय। यदि वह मुट्ठी गर्म कर देता है तो पानी पानी हो जाते हैं। प्रथम अक मे चौकीदार सुन्दर को देख ज़ोर से कहता है—कौन है ? सुन्दर के यह कहने पर कि "हम एक परदेशी हैं" वह बिगड कर कहता है "सो क्या हमे नही सूझता, पर कहाँ रहते हो ?" सुन्दर के उत्तर देने पर डडा लेकर दौडता है। किन्तु कुछ देने पर चौकीदार कहता है—नही नही, हमने आपको जाना नही, निस्सदेह आप बडे योग्य पुरुष हैं, हम आशीर्वाद देते हैं कि आप विद्या लाभ करें, राजकुमारी विद्या भी आपको मिले।

(२) मनोराज का रहस्य है कि सौन्दर्य आँखो को खीचता है। स्त्री, पुरुष की मनोहरता से आकृष्ट होती है चाहे वह युवा हो, चाहे वृद्धा। तभी तो मानव मन पारखी गोस्वामी तुलसीदास जी कहते है—"पुरुष मनोहर निरखत नारी।" हीरा मालिन सुन्दर राजकुमार को देख कहती है "हाय हाय ! ऐसा सुन्दर रूप तो न कभी आँखो देखा न कानो सुना। इसकी दोनो हाथ से बलैया लेने को जी चाहता है। लोग सच कहते हैं कि चन्द्रमा को सिंगार न चाहिए। हमको तो जान पडता है कि चन्द्रमा ही पृथ्वी पर उतर बैठा है। क्या कामदेव इस रूप की बराबरी कर सकता है ? ऐसी कौन स्त्री है जो इसको देख के धीरज धरेगी। हम सोचते हैं कि कोई परदेशी है, इस नगर मे ऐसा कोई नही है जिसको हीरा मालिन न जानती हो। हाय हाय इसके माँ बाप का कलेजा पत्थर का है कि ऐसे सुकुमार सुन्दर पुरुष को घर से निकलने दिया। निश्चय इसको स्त्री नही है, नही तो ऐसे पति को कभी न छोड़ती। जो कुछ हो, एक बेर इससे पूछना तो अवश्य चाहिए।" (विद्यासुन्दर १-२)।

(३) पुरुष मित्र रूप मे आपस में उतने नही खुलते जितनी कि स्त्रियाँ खुल जाती हैं। स्त्रियो मे आयु का अन्तर रहते भी वे खुलकर हँसी मजाक कर लेती हैं। हीरा मालिन और राजकुमारी की बातचीत इसका प्रमाण है (१-४ एवं २-२)

(४) स्त्री के दो अमोघ अस्त्र हैं—आँसू और चिल्लाहट। फिर यदि कोई स्त्री दुनियादारी मे अधिक निपुण है तो वह हीरा मालिन की भाँति चिल्लाकर कहेगी—"देखो यह सब मुझे अकेली पाकर मेरा धर्म लिया चाहते हैं। तुम सब

हमारी प्रतिष्ठा बिगाडते हो।" स्त्री का विश्वास है कि इस प्रकार का प्रभाव पुरुषों पर अमोघ पडेगा (३-१)

संवाद

'विद्यासुन्दर' में सवाद लम्बे नही हैं, छोटे-छोटे हैं। अत: वे अधिक नाटकीय बन गए हैं। उनमें सरलता भी सर्वत्र प्राप्त होती है। चौकीदार एव सुन्दर का सवाद (१-२), हीरा मालिन एवं विद्या का संवाद (१-४), विद्या एव सुन्दर का सवाद (२-३) इसके उदाहरण हैं। साथ ही सवादों मे सरसता एवं स्वाभाविकता भरी है। सरसता अलंकारों से भी आई है और वचन वक्रता से भी।

सरसता—

सुन्दर—(सुलोचना से) सखी विद्यावती के गुण को मैंने जैसी प्रशंसा सुनी थी उससे भी अधिक आश्चर्य गुण देखने में आए।

सुलोचना—ऐसे आपने कौन आश्चर्य गुण देखे ?

सुन्दर—जाल मे चन्द्रमा को फँसाना, बिजली को मेघ मे छिपाना, और वस्त्र से कमल की सुगंधि को मिटाना, यह सब बात तुम्हारी राजकन्या कर सकती है।

सुलोचना—(हँसकर) यह आप कैसी बातें कहते हैं, क्या ये बातें हो सकती है।

सुन्दर—जो नहीं हो सकती तो तुम्हारी राजकन्या ने अंचल से मुख क्यों छिपा लिया ?

सुलोचना—(हँसकर) आप बड़े सुरसिक और पंडित है, इससे मैं आपकी बात का उत्तर नहीं दे सकती, 'दीपक की रवि के उदय बात न पूछै कोय', पर हाँ, लज्जा न करती तो हमारी सखी कुछ उत्तर देती (२-१)

भाव प्रधान सरसता जो बाद के नाटकों मे मिलती है, 'विद्यासुन्दर' मे बहुत कम है।

अनुवाद के क्षेत्र में

सवादो मे स्वाभाविकता है। स्वाभाविकता के अनुरोध से पात्रों की भाषा में भी अन्तर किया गया है। पीछे पात्रो के मनोवैज्ञानिक चित्रण मे जो चौकीदार तथा सुन्दर का संवाद दिया गया है वह स्वाभाविक संवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार राजकुमारी तथा हीरा मालिन के कथोपकथन स्त्रियोचित स्वाभाविकता से भरे हैं—

विद्या—नही, नही, तू तो नित्य ही बताती थी, पर ऐसी माला तो किसी दिन नही बनी, आज निश्चय किसी दूसरे ने बनाई हैं।

हीरा—मैं तो एक बेर कह चुकी कि हमारे घर मे दस बीस देवर जेठ

तो बैठे नहीं हैं कि बना देंगे (आकाश देखकर) अब साझ होती है, हमको आज्ञा दो।

विद्या—वाह वाह ! आज तो आप मारे अभिमान के फूली जाती है, ऐसा घर पर कौन बैठा है जिसके हेतु इतनी घबडाती है। बैठ, तुझे मेरी सौगन्ध है। बता यह माला किसने बनाई है। (मालिन का अंचरा पकड के खीचती है)

भाषा

आरम्भिक नाटक होने से भाषा मे प्रौढता एव सबलता नही आई है। वह निर्बल तथा व्याकरण दोषो से संयुक्त है।

व्याकरण दोष—उसके बदले आपने हमको गाली दिया (१-४)। अब तक मैंने पूजा नही किया (१-४)।

निर्बल भाषा—

क्योकि न्याय का विचार करके स्त्री को जीतना यह भी एक विचार है (२-१)।

फिर तुमको अपनी तीन छटांक पकाए बिना क्या डूबी जाती है (३-१)।

किन्तु साथ ही भाषा में सरलता, सुबोधता एवं प्रवाह है। नाटककार ने उर्दू शब्दो का भी प्रयोग किया है। यद्यपि संस्कृत शब्दो की बहुतायत हैं। मुहावरो के बल से भाषा मे प्रवाह भर दिया गया है। भारतेन्दु जी का भाषा प्रयोग के विषय मे यह नियम है कि पात्रानुसार भाषा का प्रयोग होना चाहिए। इस नियम का आरम्भ विद्यासुन्दर से ही होता है। पहिले अंक के प्रथम दृश्य मे चौकीदार आरम्भ मे कहता है "ईके हो भाई, कोई परदेसी जान पड़ाला, हम हन के कुछ घूस फूस देईं की नाही, भला देखो तो सही।" यह पात्र की ग्रामीणता दिखाने के ही लिए हुआ है। चौकीदार हीरा मालिन को छिनाल कहता है और सुन्दर को लुच्चा। सिपाहियों मे गाली देने की प्रवृत्ति है, भारतेन्दु जी यही प्रकट करते हैं। स्त्रियो की भाषा में व्यग्य एव मुहावरों की अधिकता है।

शैली

नाटक मे गद्य, पद्य एव गीत, इन तीनो को स्थान मिला है। गद्य की भाषा खड़ी बोली है एव पद्य तथा गीतो की 'ब्रज'। आरम्भिक नाटक होने से भारतेन्दु जी ने अपने कवि रूप को प्रबल नही होने दिया है। पहिले अंक के दो गर्भांकों में एक दोहे को छोडकर शेष गद्य ही है। इसी अंक के तीसरे गर्भांक मे एक गीत है और चौथे मे चार गीत हैं। शेष मे गद्य का ही राज्य है। दूसरे अक के तीन गर्भांको मे केवल पांच गीत हैं।

तीसरे गर्भांक मे केवल गद्य का ही प्रयोग हुआ है। तीसरे अंक के तीन गर्भांकों मे केवल तीन कविताएँ हैं।

कविता और गीत यद्यपि गद्य से कम हैं, पर हैं बड़े सरस। वियोग भरे इस सवैये में कैसी विवशता भरी है—

धिक है वह देह औ गेह सखी जिहि के बस नेह को टूटनो है।
उन प्रानपियारे बिना यह जीवहि राखि कहा सुख लूटनो है॥
"हरिचन्द जू" बात ठनी जिय मैं नित की कलकानि तें छूटनो है।
तजि और उपाय अनेक सखी अब तो हमको विष घूटनो है॥

इसी प्रकार नाटक के सब गीत मार्मिक हैं साथ ही सरल भी हैं। नाटक सुखांत है।

देशकाल

नाटक में एक स्थान पर थोड़ा सा प्रकृति चित्रण भी प्राप्त होता है। भारतेन्दुजी की प्रकृति चित्रण-प्रणाली जो आगे 'चन्द्रावली' मे पनपी, उसका आरम्भिक रूप यहाँ भी दिखाई पड़ता है। सुन्दर उद्यान को देखकर कहता है, "वाह! यह उद्यान भी कैसा मनोहर है, इसके सब वृक्ष कैसे फले-फूले हैं और यह सरोवर कैसे निर्मल जल से भरा हुआ है, मानो सब वृक्षों ने अपने अनेक रंग के फूलों की शोभा देखने को इस उद्यान के बीच में एक सुन्दर आरसी लगा दी है। पक्षी भी कैसे सुन्दर स्वर मे बोल रहे हैं, मानो पुकारते हैं कि इससे सुन्दर ससार मे और कोई उद्यान नही है। आहा! कैसा मनोहर स्थान है।" (१-२)

नाटककार उत्प्रेक्षाओं के बल पर चित्रण को आगे बढ़ाता है। आलम्बन रूप मे प्रकृति का अत्यन्त साधारण चित्र है। कवि की 'कैसे' 'कैसा' शब्दों द्वारा निर्बलता प्रकट है। राजकर्मचारी घूस लेते थे, सिपाहियो में गाली देने की प्रवृत्ति थी, इस पर प्रकाश डाला गया है।

उद्देश्य

इस नाटक लिखने का उद्देश्य है। भारतेन्दु जी का मत है कि विवाह से पूर्व पति-पत्नी एक दूसरे को देखलें, तो अच्छा हो। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि विवाह का उत्तरदायित्व लड़के-लड़की के माता पिताओं पर है और माता पिता को ही अपने पुत्रों-पुत्रियों का सम्बन्ध स्थिर करना चाहिए, तब भी विवाह से पूर्व वर-वधू को एक दूसरे को जान लेना चाहिये।

वि० "तो भला उनको एक वेर किसी उपाय से देख भी सकते हैं।" (१-४) मे यही ध्वनि निकलती है कि पहिले वर-वधू एक दूसरे को देख लें, हीरा मालिन इसका विरोध करती कहती है "वाह वाह! यह तुमने अच्छी कही। पहिले राजा रानी से कहे, वह देख सुनके जाँचलें, पीछे तुम देखना।" इस पर विद्या

कहती है—"नहीं, ऐसा न होने पावे, पहिले मैं देख लूं तब और कोई देखे" (१-४)।

नाटक का प्रधान रस शृंगार है जिसके संयोग एवं वियोग दोनों पक्ष उपस्थित है। प्रेम की उत्पत्ति गुण श्रवण से होती है।

पूर्वराग का सुन्दर चित्रण भी नाटक में किया गया है।

जब सुन्दर पकड़ा जाता है तब वियोग की भाँकियाँ अंकित की गई हैं। नायक-नायिका का मिलन सुन्दर रूप में रक्खा गया है। नाटक का अन्त सुखद है। शृंगार का प्रधान सहायक रस "हास्य" है। हास्य के तीन रूप मिलते हैं—

(१) व्यंग्य, (२) विनोद और (३) उपहास। भारतेन्दु जी अपनी व्यंग्यात्मक उक्तियों के लिए स्मरणीय हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

चौकीदार—सब में प्रधान विद्या ! सबमें प्रधान विद्या तो चोरी है (१-१)।

ही: मा०—यों तो आप हमारे बाप के भी अन्नदाता हो (१-२)।

वि०—शंख बजाने वाले साधु तो बहुत देखे थे पर सेंध लगाने वाले आज ही देखने में आए (२-२)।

वि०—पुराना उतारा नया पहिना, यह तो पुरुषों का काम है (२-३)।

विनोद—

विद्या—चल बहुत बातें न बना। जो रात भर चैन करेगी तो सवेरे जल्दी कैसे आ सकेगी, तेरा शरीर बूढ़ा हो गया है पर चित्त अभी बारही बरस का है। इतना दिन आया अब तक मैंने पूजा नहीं किया, पर तुझे क्या ? तू तो अपने रंग में रंग रही। मेरी पूजा हो न हो। (१-४)

दूसरे अंक के प्रथम गर्भांक में सुलोचना चपला एवं विद्या का संवाद विनोद से भरा है।

उपहास—दूसरे अंक के दूसरे गर्भांक में हीरा मालिन एवं विद्या का संवाद उपहास मात्र बन जाता है। वहाँ हास्य निम्न कोटि का बन जाता है।

हीरा मालिन—और क्या होगा ? तुम सन्यासी को लेकर आनन्द करना और वह बिचारा आप सन्यासी होकर हाथ में डंड कमंडल लेकर तुम्हारे नाम भीख माँग खाएगा।

वि०—चल लुच्ची, ऐसी दसा शत्रु की होय...

विद्या—अरी पापिन, जमाई को तो छोड़ देती, पर तू तो धन्य है कि इतनी बूढ़ी हुई और अभी मद नहीं उतरा है। जब बुढ़ापे में यह दसा है तो चढ़ते जोबन में न जाने क्या रही होगी।

अभिनय

नाटक में अभिनय का ध्यान रक्खा गया है। पूरा नाटक डेढ़-दो घंटे में अभिनीत हो सकता है। दृश्य योजना भारतेन्दु युग में प्रचलित पर्दों को ध्यान

में रुप कर की गई है। अत: पर्दों से काम चलेगा, वस्तु योजना से नहीं। प्रथम अंक का प्रथम गर्भांक "राजभवन" का है, दूसरा उद्यान का और तीसरा "घर" का। वस्तु योजना से इनका अभिनय संभव नहीं, हाँ, पर्दे टाँग कर काम चलाया जाएगा जैसा कि भारतेन्दु काल में होता था।

पश्चिमी शैली के नाटकों में चमत्कार प्रदर्शन द्वारा नाटकों में सौन्दर्य भरा जाता था। वही चमत्कार योजना इस नाटक में भी है। सुरंग से सहसा सुन्दर का निकलना (२-१) एक ऐसी ही दृश्य योजना है। सुरंग नहीं बनाई जायेगी वरन् सुन्दर तख्तों के बीच में प्रगट हो जायेगा। इसी प्रकार ज्योंही विद्या भगवान् से प्रार्थना करती है "मुझे इस दुःख से पार करो" तभी नेपथ्य से गंगा भाट कहता है कि पकड़ा गया युवक चोर नहीं राजकुमार सुन्दर है। नाटक के तृतीय अंक के प्रथम गर्भांक में दुहरी दृश्य योजना है जो कुछ क्लिष्ट है। ऊपर विद्या की सखियाँ बातें करेंगी, नीचे रंगमंच पर चौकीदार सुन्दर एवं मालिन को पकड़ने आयेंगे। ऐसी दृश्य योजना उस समय बड़ी अच्छी मानी जाती थी। 'रणधीर प्रेम मोहिनी' में भी यह दुहरी दृश्य योजना मिलती है। सुन्दर कविताओं और गीतों ने, जिनकी संख्या अधिक नहीं है, अभिनय को सरसता दी है।

पाखण्ड-विडम्बन (१८७२)

'रत्नावली' एवं 'विद्यासुन्दर' नाटकों के चार वर्ष पश्चात् 'पाखंड विडम्बन' की रचना हुई। यह अपूर्ण नाटक संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' के तीसरे अंक का अनुवाद है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' के रचयिता हैं श्री कृष्ण मिश्र और इसका रचना काल है ११ वीं शती का उत्तरार्द्ध। यह प्रतीकवादी नाटक है। मानसिक वृत्तियाँ—विवेक, संतोष, वैराग्य, मति, श्रद्धा, शांति, करुणा, मैत्री, मोह, हिंसा, तृष्णा इत्यादि पात्र हैं। वेदान्तपरक अद्वैतवाद और विष्णुभक्ति का इसमें समन्वय कराया गया है। मूल नाटक में छै अंक हैं। मन की सद् और असद् वृत्तियों का संघर्ष होता है। अन्त में सद्वृत्तियों की विजय होती है। विवेक सद्-वृत्तियों का सेनानायक है। वह विष्णुभक्ति की सहायता से विजयी होता है और उसका विवाह उपनिषद् विद्या से हो जाता है जिसके फलस्वरूप प्रबोधोदय का जन्म होता है। इसी मुख्य या अधिकाधिक कथा के साथ श्रद्धा एवं शान्ति की प्रासंगिक कथा है जिसे भारतेन्दु जी ने अपने 'पाखंड विडम्बन' नाटक में स्थान दिया है।

तुतलाती बोली का प्रयोग नहीं किया है।

मूल नाटक में श्रावक एवं भिक्षुक संस्कृत में बोलते हैं किन्तु भारतेन्दु जी ने उनकी भाषा में परिवर्तन कराया है। ऐसा उन्होंने पात्रानुसार भाषा रखने के लिए किया है। संस्कृत नाट्यशास्त्र एवं नाटकों के अनुसार पात्रों की भाषा में भिन्नता आनी चाहिए। भारतेन्दु जी ने इस नियम का पूर्णतया पालन 'पाखंड विडम्बन' में ही प्रारम्भ किया है। रत्नावली नाटिका भी संस्कृत से अनूदित है किन्तु उसमें भाषा वैभिन्न्य नहीं है। हाँ 'विद्यासुन्दर' में राजकीय उद्यान का चौकीदार स्वगत कथन में दो एक वाक्य स्थानीय बोली में कहता है। शेष कहीं भी 'विद्यासुन्दर' में भाषा वैभिन्न्य का प्रयोग दिखलाई नहीं पड़ता है। 'विद्यासुन्दर' में विचार मात्र उठा था जिसे नियम की स्थिरता प्राप्त हुई है 'पाखंड विडम्बन' में। 'पाखंड विडम्बन' में दिगम्बर राजस्थानी का प्रयोग करता है। इससे भारतेन्दु जी का अभिप्राय है कि जैन धर्म का प्रधान केन्द्र मारवाड़ है और भारतेन्दु युग से आज तक यही दशा विद्यमान है। अधिकांश जैन उपासक राजस्थान में ही है। बौद्ध भिक्षुक से भी इसी प्रकार कोई बोली या पाली मिश्रित हिन्दी बुलवाई जाती तो उत्तम था। उससे बच्चों की तुतलाती बोली बुलवाना अस्वाभाविक लगता है।

रत्नावली के समान 'पाखंड विडम्बन' में साधारणतया गद्य का गद्य में, पद्य का पद्य में अनुवाद हुआ है। केवल दो स्थानों पर गद्य को पद्य में बदला गया है किन्तु पद्य को कहीं भी गद्य रूप नहीं दिया गया है। इससे भारतेन्दु जी एक नई दिशा की ओर संकेत करते हैं। यह संकेत है कि भारतेन्दु जी पद्य को आगे प्रधानता देंगे। इसी कारण आगे 'वैदिकी हिंसा' से कवि रूप प्रधान बन गया है।

पद्यात्मक अनुवाद में कुछ परिवर्तन भी हुआ है। एक श्लोक है—

> अयि-पीन-घनस्तन शोभने परित्रस्तकुरंग विलोचने।
> यदि रमसे कापालिकी भावैः श्रावका किं करिष्यन्तीति ॥१६॥

इसका अनुवाद 'गीत' में किया है—

> अरे सुण पीण पयोधरवारी।
> थारे इन नेणारी सोभा मृगन लजावन हारी।
> री कपालिनी जौं तू म्हा सूं रमण करै मिलि प्यारी।
> तो सरावगिणि और जतिणरो काम कछू न यहा री।

श्रावकों के स्थान पर 'सरावगिणी' (सरावगी) के साथ 'जतिन' भी रख दिया है। दिगंबर 'सरावगी' एवं जतियों से कोई सम्बन्ध न रखेगा। वह स्वयं भी 'जती' था—ठीक ही है कि 'गृहस्थियों' के साथ-साथ 'जतियों' से नाता तोड़ देगा। इससे अनुवाद में अधिक सबलता आगई है। किन्तु कहीं-कहीं मूल के

शब्द छूटने से निर्बलता भी आ गई है। मूल का संस्कृत छन्द है—

(कापालिक) नरास्थिमाला कृत चारुभूषणः
श्मशानवासी नृकपाल भोजन.
पश्यामि योगाञ्जनशुद्धचक्षुषा
जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात्

इसका हिन्दी अनुवाद है—

हाड़ की कंठ में चारु माला धरे
मर्घटी खोपड़ी में अहारैं करे
देखते जोग की दृष्ट संभार से
एक श्री संभु से भिन्न संसार से।

अनुवाद सरल और सुन्दर है। किन्तु तीसरा चरण अस्पष्ट है। "जोग की दृष्ट संभार" से अर्थ उतना स्पष्ट नहीं है जितना मूल के चरण 'पश्यामि योगाजन शुद्ध चक्षुषा' से है कि मैं योग रूपी अंजन से शुद्ध की हुई दृष्टि से देखता हूँ। चौथे चरण का अनुवाद भी त्रुटिमय है। मूल में है "जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात्।" इसका अर्थ है—जगत् परस्पर तो भिन्न है किन्तु मैं (योगाजन शुद्ध चक्षु होकर) इसे ईश्वर से अभिन्न देखता हूं। भारतेन्दु जी ने इसका अनुवाद दिया है "एक श्री संभु से भिन्न संसार से।" यह पंक्ति न तो स्पष्ट है, न शुद्ध। हां उलट-पुलटकर अर्थ भले ही लगा लें। 'भिन्न संसार से' में प्रयुक्त 'से' अर्थ की स्पष्टता में बाधक बन जाता है।

ऐसे इने-गिने स्थलों को छोड़ प्राय. अनुवाद सरल सुबोध और सरस है। अनुवाद कार्य बड़ा कठिन होता है। भारतेन्दु जी इसमें सफल हुए हैं। बहुत से स्थलो पर तो अनुवाद मूल से भी बढ गया है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७३)

तीखे एवं मार्मिक व्यंगों से भरा प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' दूसरे वर्ष १८७३ ई० में सामने आया। यह प्रहसन 'पाखंड विडम्बन' की परम्परा में है। 'वैदिकी हिंसा' एवं 'पाखंड विडम्बन' में कई समानताएं मिलती : है (१) दोनों में पाखंडियो का पर्दाफ़ाश हुआ है। (२) दोनों में मद्य-पान एवं मद्य-पान से प्राप्त उन्मत्तता चित्रित है। (३) दोनों में साधु-संन्यासियों का पतित चरित्र दिखाया गया है। (४) दोनों में वैष्णवता या भक्ति को सबसे ऊंचा आसन दिया गया है। 'पाखंड विडम्बन' में सात्विक श्रद्धा विष्णु-भक्ति के पास दिखाई

गई है तो 'वैदिकी हिंसा' मे वैष्णव-भक्त स्वर्ग मे यमराज द्वारा आदर पाता है। (५) दोनों मे प्रतीकवादी पात्र हैं, 'पाखड विडम्बन' मे श्रद्धा, शाति और करुणा और 'वैदिकी हिंसा' मे गृद्धराज। अन्तर इतना है कि 'पाखड विडम्बन' मे मन की वृत्तियाँ प्रतीक है तो वैदिकी हिंसा मे एक पक्षी।

कथा

अंक १—राजा गृद्ध बडा मासाहारी है। उसके मत्री एवं पुरोहित भी उसी जैसे है। पुरोहित शास्त्रोक्त उदाहरण देकर, कभी अपने नवीन श्लोकों से एव बुद्धिगम्य तर्कों से मास खाने की पुष्टि करता है। वह कहता है कि मास खाना बुरा नही है यदि देवी या भैरव को अर्पित करके प्रसाद रूप मे खाया जाय। वह आगे बढकर महाभारत से गोमास भक्षण तक की पुष्टि करता है। वह नाचता है और मास भक्षण की प्रशसा के गीत गाता है।

विधवा विवाह का पक्षपाती, बगाली आकर पुनर्विवाह का जोरदार समर्थन करता है। पराशर स्मृति से प्रमाण देकर वह बताता है कि पति के नष्ट हो जाने, मर जाने, नपुसक बन जाने या पतित हो जाने पर स्त्री को दूसरा विवाह करने का अधिकार प्राप्त है। पुरोहित भी इसका समर्थन करता है।

अक २—पहिले अक के पात्रों के अतिरिक्त इस अक मे विदूषक भी उपस्थित है जबकि एक वेदान्ती आता है। वेदान्ती से विदूषक पूछता है कि आप वेदात के हैं तब मास कैसे खाते होगे। बगाली अपने विषय मे बताता हुआ कहता है कि हम बगाली वैष्णव, चैतन्य सम्प्रदाय के है। हम मास नही खाते पर मछली अवश्य खाते है क्योकि मछली मास नही है। वह इसकी पुष्टि करता हुआ कहता है कि मछली की उत्पत्ति रजवीर्य से न होकर जल से होती है अत. जल से उत्पन्न होने वाले खाद्य पदार्थों के समान मछली भी पवित्र है और वह मास नही है। मास न खाने वाले वैष्णव और शैव आते है। बगाली कहता है कि वैष्णव एव शैव, दोनो ही वेद की सीमा से बाहर है। राजा पूछता है कि वैष्णव और शैव मास खाते है या नही ? शैव उत्तर देता है कि वैष्णव तो कभी भी मास नही खाते हैं। शैवो के लिए भी निषिद्ध है किन्तु आजकल के दुष्ट-नष्ट बुद्धि शैव खाने लगे है। पाखडी साधु गडकीदास आता है जो पतित वैष्णव है। यह ऊपर से साधु है परन्तु अन्दर से स्वादु। वह मास, मदिरा और मदिरेक्षणा का सेवी है। शैव, वैष्णव एवं वेदाती रुष्ट होकर राजसभा छोड-कर चले जाते हैं।

अक ३—पुरोहित बडा आनन्दित है क्योकि यज्ञ के अवसर पर हजारो बकरे वलि चढाए गए है। उन बकरो की बलि, वेद मत्रो के साथ हुई है। कुमारी पूजा

में भी उसने सोत्साह भाग लिया है। पुरोहित अपना निर्णय देता है कि जो मांस नही खाता है, वह हिन्दू नही है। मदिरोन्मत्त हो जाता है और गिर पड़ता है। राजा और मंत्री भी नशे में चूर आते है। दोनों मांस मदिरा के गुण गाते हैं, नाचते हैं और गिर पडते हैं।

अंक ४—यमराज की सभा मे कर्मफल बँटता है। यम के दूत, राजा, मंत्री पुरोहित, एवं साधु गंडकीदास को खूब मारते हुए सभा में लाते हैं। वे शैव एवं वैष्णव का सादर प्रवेश कराते है। मुशी चित्रगुप्त प्रत्येक के कार्य पढकर सुनाता है। राजा अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए कहता है कि मैंने देवता पितर को चढाकर प्रसाद रूप मे सदा मास खाया है और महाभारत मे तो लिखा है कि ब्राह्मणों ने गऊ मांस खाया था। यमदूत राजा की कमर पर कोडे लगाते है और 'अधतमिस्र' नर्क में राजा को भेज देते हैं। पुरोहित अपने बचाव मे वेद पुराणो की दुहाई देता है एव मास खाने के पक्ष मे कई तर्क उपस्थित करता है। दूत पुरोहित की पीठ को भी कोडो से सहलाते है और उसे 'सूची मुख' नर्क मे ठेलते हैं। मत्री के भी कोडे लगते है। वह भरी सभा मे चित्रगुप्त को घूस देना चाहता है। दूत उसे कुम्भीपाक नर्क में डालते है। गंडकीदास की पीठ कैसे कोडों की मार से सुरक्षित रह सकती थी? वह रौरव नर्क भेजा जाता है। शैव एवं वैष्णव को कैलाश एव वैकुंठ का वास दिया जाता है।

विवेचना

शास्त्रीय—

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन है। प्रहसन के लक्षण देते हुए नाट्याचार्य कहते है कि प्रहसन में भाण के समान संधियाँ, सध्यंग, लास्यांग एव अक होते है। इसका अर्थ हुआ कि प्रहसन में मुख एवं निर्वहण सधियां होंगी, इन दोनो सधियों के संध्यंग होंगे, दस लास्याग होंगे एवं एक अक होगा।[1] इसके अतिरिक्त प्रहसन में निंदनीय पुरुषों का चरित्र वर्णित होता है। इसकी कथा कवि कल्पित होती है। इसमें न आरभटी वृत्ति का प्रयोग होता है और न विष्कंभक प्रवेशक का हास्यरस अंगी होता है। वीथ्यग विकल्प से प्रयुक्त हो सकते है।[2] प्रहसन के तीन भेद होते हैं—शुद्ध, विकृत और सकीर्ण।

शुद्ध प्रहसन—साहित्यदर्पणकार शुद्ध प्रहसन में एक नायक की प्रधानता मानते हैं। प्रहसन का नायक, तपस्वी, संन्यासी, ब्राह्मण इत्यादि में से कोई एक हो सकता है। यह नायक, घृष्ठ नायक होगा।[1] दशरूपककार किसी नायक

---

१. दशरूपक ३-५३ २. साहित्यदर्पण ६-२६५

की प्रधानता नही मानता है। दशरूपककार के मत से पाखंडी, ब्राह्मण, नौकर, नौकरानियो से भरा प्रहसन शुद्ध है। ये पात्र चेष्टा, वेष, भाषा एवं वचनो से हास्य उत्पन्न करते हैं।[१] विकृत प्रहसन—नपुसक, कचुकी एव तपस्वी विकृत प्रहसन मे कामुक, वन्दी एव योद्धा के वेष में वाणी का अनुकरण कर हास्य उपजाते हैं।

सकीर्ण प्रहसन—धूर्त व्यक्तियो से भरा प्रहसन सकीर्ण होता है।[३] इसमे एक अंक भी हो सकता है और दो भी हो सकते है। भारतेन्दु जी ने अपने 'नाटक' नामक निवंध में प्रहसन का लक्षण इस प्रकार दिया—यह हास्यरस का मुख्य खेल है। नायक, राजा वा धनी वा ब्राह्मण वा धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति से इसमे एक ही अक होना चाहिए किन्तु अब अनेक दृश्य दिए विना नही लिखे जाते।[४] 'वैदिकी हिंसा' प्रहसन मे सस्कृत नाटकों की परम्परा के अनुसार आरम्भ मे नादी पाठ एव प्रस्तावना है और अन्त मे भरत वाक्य भी है। कथोद्घात[५] नामक प्रस्तावना है क्योकि सूत्रधार के इस वाक्य "जो लोग मास लीला करते है उनकी लीला करेंगे" के अर्थ को ग्रहण करके गृद्धराज का प्रवेश होता है। भरत मुनि एव दशरूपककार ने प्रहसन में केवल एक अक रखने की व्यवस्था दी थी। साहित्य-दर्पणकार ने उसमें सशोधन किया एव दो अंक रखने की छूट दे दी। भारतेन्दु जी ने अपना कदम और आगे वढाया एव कहा कि कई दृश्य हो सकते हैं। दृश्यो से यहा उनका अभिप्राय अको से है। फलत हम उनके प्रहसनो में चार या पाच अक पाते है जो दृश्य भी कहे जा सकते हैं। वैदिकी हिंसा मे चार अक हैं, जो वास्तव में चार दृश्य ही है। भारतेन्दुजी ने १८८३ ई० में लिखे अपने 'नाटक' नामक निवध में सन्धियो की अनिवार्यता का विरोध किया है किन्तु इससे पूर्व के शास्त्रीय दृष्टि से लिखे नाटको मे सधियो एव कही-कही सध्यगो की योजना प्राप्त होती है। धीरे-धीरे उनके इस दृष्टिकोण मे अन्तर आया है और वे सधियों के नियमो को १८८३ तक अनावश्यक मानने लगे थे, विशेषतया नवीन शैली के मिश्रण करने के कारण।

मुख सन्धि—प्रथम दो अको में मुख सधि चलती है। राजा एव पुरोहित के आरभिक सवाद मे "वीज" नामक अर्थ प्रकृति है। पुरोहित कहता है—सदेह होता है तो शास्त्र में क्यो लिखा जाता। हा, विना देवी अथवा भैरव के

---

१. साहित्यदर्पण ६—२६५। २६६
२. दशरूपक—३—५४
३. दशरूपक ३—५६
४. साहित्य दर्पण ६—२६७
५. कथोद्घात—सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ को लेकर जब नाटकीय पात्र प्रवेश करे तो वहाँ कथोद्घात नामक प्रस्तावना होती है।

समर्पण किये कुछ होता हो तो हो भी"। यह वाक्य पूरी कथावस्तु की ओर सकेत करता है। इसके द्वारा पुरोहित तीन बाते कहता है: (१) शास्त्रो से मास खाना सिद्ध है (२) वह देवता को अर्पित करके खाना चाहिए, तब कोई पाप नही लगता और (३) देवता को समर्पित न करके खाने वाले पापी है। अत. यहा 'बीज' माना जाएगा। आगे राजा कहता है "तो कल हम बड़ी पूजा करेगे। एक लाख बकरा और बहुत से पक्षी मगवा रखना"। पुरोहित इसे सुनकर नाचने लगता है और कहता है "अहा हा। बड़ा आनन्द भया। कल खूब पेट भरेगा"। यहा 'आरम्भ' नामक कार्य अवस्था है। द्वितीय अ क में भी मुख सधि मानी जाएगी क्योकि द्वितीय अ क की कार्य-शृखला वही है जो प्रथम अ क मे थी।

नाट्य शास्त्रानुसार प्रहसन मे केवल दो सधियाँ मुख एवं निर्वाह ही होनी चाहिए। किन्तु तीसरे अक मे अल्प मात्रा मे प्रतिमुख सन्धि भी आ जाती है। तीसरा अक पहिले दो अको को आगे बढ़ाता है। पुरोहित आकर आरम्भ मे जो कथन करता है वह विन्दु नामक अर्थ प्रकृति मानी जाएगी। राजा मन्त्री इत्यादि आकर वार्तालाप करते हैं। यह प्रयत्न नामक कार्य-अवस्था है। इस प्रकार प्रतिमुख सन्धि का प्रारम्भ तो हुआ है किन्तु विकास नही हुआ। बीज सामने तो आया परन्तु अदृष्ट नही हुआ।

चतुर्थ अंक मे निर्वहण सन्धि है। यमराज के दूत, राजा, मन्त्री, पुरोहित, गडकीदास, शैव एवं वैष्णव को यमराज की सभा मे लाते हैं। यहाँ कार्य्य नामक अर्थ प्रकृति है। फलागम अन्त मे है जब सबको कर्मानुसार फल मिलता है। शैव एव वैष्णव को कैलाश और बैकुंठ भेज दिया जाता है। इस प्रकार निर्वहण सन्धि का परिपाक होता है।

नेता की दृष्टि से यदि विचार करें तो प्रहसन का कोई एक नायक नही है। यह संकीर्ण प्रहसन है क्योकि इसमे अनेक धूर्त व्यक्तियो का चित्रण किया गया है। यदि राजा को नेता मानें तो प्रहसन दुखान्त सिद्ध होता। कथा में राजा से अधिक महत्त्व मिला है पुरोहित को। वह भी दु.ख पाता है। फल की दृष्टि से शैव एव वैष्णव इसके मुख्य पात्र या नायक हैं जो अन्त मे सुख प्राप्त करते है। ये ही दर्शक या पाठक की सहानुभूति के केन्द्र भी हैं। नाटककार की दृष्टि भी इन्ही पर केन्द्रित है। नाटककार का रूपक लिखने मे भी यही उद्देश्य है कि वह मास-मद से दूर रहने वाले सात्विकी शैव को भव्य रूप में चित्रित करे। राजा, पुरोहित इत्यादि प्रतिनायक माने जायेंगे। शैव एवं वैष्णव पात्रों की दृष्टि से प्रहसन सुखान्त है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रहसन में वीथ्यंगों की भी योजना होनी चाहिए। वैदिकी हिंसा मे कुछ अंगो की योजना हुई है।

प्रपञ्च[1]—राजा और पुरोहित साधु गंडकीदास की प्रशंसा करते हैं। पुरोहित कहता है—गडकीदास जी हमारे बडे मित्र है। यह और वैष्णवों की तरह जजाल मे नही फसे है। यह आनन्द से संसार का सुख भोग करते हैं।

व्याहार[2]—विदूपक—क्यो वेदान्ती जी, आप मास खाते हैं कि नही।

वेदान्ती—तुमको इससे कुछ प्रयोजन है ?

विदूपक—नही कुछ प्रयोजन तो नही है। हमने इस वास्ते पूछा कि आप वेदाती—अर्थात् बिना दाँत के है सो आप भक्षण कैसे करते होगे। (वेदान्ती टेढी दृष्टि से देखकर चुप रह जाता है। सब लोग हस पड़े)।

मृदव[3]—पुरोहित—कितने साधारण धर्म ऐसे है कि जिनके न करने से कुछ पाप नही होना, जैसे—"मध्यान्हे भोजन कुर्यात" तो इसमे न करने से कुछ पाप नही है, वरन् व्रत करने से पुण्य होता है। इसी तरह पुनर्विवाह भी है। इसके करने से कुछ पाप नही होता और जो न करे तो पुण्य होता है। इसमे प्रमाण भी पाराशरीय है—

मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्य्यं व्रतेस्थिता।
सा नारी लभते स्वर्गं यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

इस वचन से, और भी बहुत जगह शास्त्र मे आज्ञा है, सो जो विधवा विवाह करती है उसको पाप तो नही होता पर जो नही करती उनको पुण्य अवश्य होता है और व्यभिचारिणी होने का जो कहो सो तो विवाह होने पर भी जिस को व्यभिचार करना होगा सो करे होगी। जो आपने पूछा वह हमारे समझ मे तो यो आता है परन्तु सच पूछिए तो स्त्री तो जो चाहे सो करे इनको तो दोप ही नही है—

न स्त्री जारेण दुष्यति
स्त्री मुखं तु सदा शुचि
स्त्रिय समस्ताः सकला जगत्सु
व्यभिचारादृतौ शुद्धि।

इनके हेतु तो कोई विधि निपेध है ही नही, जो चाहे करें, चाहे जितना विवाह करें, यह तो केवल एक बखेडा मात्र है।

वाक्केलि[4]—विदूपक—हे भगवान्—इस बकवादी राजा का नित्य कल्याण

---

१. प्रपञ्च—पात्रों द्वारा एक दूसरे की अनुचित प्रशंसा की जाय विशेपतः परस्त्री लोलुपता को दृष्टि में रखकर।
२. व्याहार—हँसी और क्षोभ उत्पन्न करने वाले ऐसे वाक्य का प्रयोग किया जाय जिसका अर्थ कुछ और ही हो।
३. मृदव—दोप को गुण और गुण को दोप बताना।
४. वाक्केलि—दो-तीन उक्तियों से हास्य उत्पन्न करना।

हो जिससे हमारा नित्य पेट भरता है। हे ब्राह्मण लोगों ! तुम्हारे मुख में सरस्वती हंस सहित वास करे और उसकी पूंछ मुख में न अटके। हे पुरोहित, नित्य देवी के सामने मराया करो और प्रसाद खाया करो।

यदि 'मराया करो' शब्द का इस रूप में प्रयोग न होता तो यह विनोद का उत्तम उदाहरण होता। 'पूंछ मुख में न अटके' मे सुन्दर व्यंग्य है। 'बकवादी' के दो अभिप्राय हैं, बातूनी और बगुला मार्गी।

अधिवल[1]—अंक दो में वेदान्ती और बंगाली के कथोपकथन में अधिवल नामक अंग है। दोनों स्पर्द्धावश अपने को श्रेष्ठ एवं दूसरे को निम्न सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार शैव और बंगाली के उत्तर प्रत्युत्तर में 'अधि-बल' है।

असद् प्रलाप—तीसरे अंक में पुरोहित मद पीकर गिरता-पड़ता और नाचता हुआ बहुत से पद्य उर्दू और हिन्दी के पढ़ता है। ये सब असद् प्रलाप के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार का उदाहरण है जब आगे मंत्री मदिरा-मस्त हो राजा का हाथ पकड़, नाचता है एवं अनेक छन्द पढ़ता है।

व्यंग्य—भारतेन्दुजी ने हास्य रसपूर्ण इस प्रहसन को सोद्देश्य लिखा है। इसमें सामूहिक एवं व्यक्तिगत व्यंग्य किये गये हैं। (१) ब्राह्मण लोग मांस खाते हैं इस पर विदूषक का सुन्दर व्यंग्य है—"हे ब्राह्मण लोगो ! तुम्हारे मुख में सरस्वती हंस सहित वास करे और उसकी पूंछ मुख में न अटके।"

(२) जिन हिन्दुओं ने थोड़ी भी अंग्रेजी पढ़ी है—उनकी तो कुछ बात ही नहीं।

(३) मदिरा ही के पानहित, हिन्दू धर्महिं छोड़ि।
बहुत लोग ब्राह्मो बनत, निजकुल सों मुख मोड़ि।
ब्राण्डी को अरु ब्राह्म को, पहिलो अक्षर एक।
तासों ब्राह्मो धर्म में, यामें दोस न एक।
ब्राह्मण सब छिपि-छिपि पियत जामें जानि न जाय।
पोथी के चोंगान भरि बोतल बगल छिपाय।

(४) राजा राजकुमार मिलि बाबू लीने संग।
यार बधुन लै बाग में पीअत भरे उमंग।

(५) दक्षिणा पाय के दीजिये फिर जो कहिये उसी में पंडितजी की सम्मति है।

(६) महाराज ये गुरु लोग हैं, इनके चरित्र कुछ न पूछिये, केवल दंभार्थ इनका तिलक मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दंडवत न किया होगा, पर मन्दिर में जो स्त्रियाँ आईं उनको सर्वदा तकते

---

१. अधिवल—जहाँ स्पर्द्धा से, बढ़-चढ़कर, बात कही जाय।

वैष्णव लोग कहावही कंठी मुद्रा धारि
छिपि-छिपि कै मदिरा पियहि यह जिय मांझ विचारि (ग्रक ३)

(५) आपने चक्र पूजन किया था। (ग्रंक ४)

(६) मन्त्रीजी की कुछ न पूछिये। इसने कभी स्वामी का भला नही किया, केवल चुटकी बजा कर हाँ मे हाँ मिलाया, मुंह पर स्तुति पीछे निन्दा, घूस लेते जन्म बीता, मांस और मद्य के बिना इसने न और धर्म जाने न कर्म जाने—यह मन्त्री की व्यवस्था है, प्रजा पर कर लगाने मे तो पहले सम्मति दी, पर प्रजा के सुख का उपाय एक भी न किया। (ग्रंक ४)

(७) देखिए अँगरेजो के राज्य में इतनी गोहिंसा होती है जब हिन्दू बीफ खाते है। (ग्रंक ४)

(८) हाय-हाय ये दुष्ट दूसरो की स्त्रियो को माँ और वेटी कहते हैं और लम्बा-लम्बा टीका लगाकर लोगों को ठगते है। (ग्र क ४)

(९) प्रहसन मे तर्क ऐसे ही दिये हुए हैं जो उस काल मे दिए जा रहे थे एव इस समय भी दिए जा रहे हैं जैसे (क) मछली खाने के पक्ष मे बगाली ने तर्क दिया है "मत्स्य की उत्पत्ति वीर्य और रज से नही है। इसकी उत्पत्ति जल से है। इस हेतु फलादिक भक्ष्य है" (ग्र क ३)। आज भी इसी प्रकार का तर्क दिया जाता है।

(ख) मास खाने के पक्ष मे पुरोहित तर्क देता है 'यदि मास खाना बुरा है तो दूध क्यो पीते है, दूध भी तो मास ही है और अन्न क्यो खाते हैं अन्न मे भी तो जीव है और वैसे ही सुरापान बुरा है तो वेद मे सोम पान क्यो लिखा' है (ग्र'क ४)। आज भी इसी प्रकार का तर्क दिया जाता है।

(ग) बुद्धिमान पाप से बचने के लिए एक तर्क देता है कि सब कुछ ईश्वर कराता है, पाप भी उसी ने कराया है। गडकीदास ऐसा ही तर्क देता कहता है "मैं क्या उत्तर दूंगा। पाप-पुण्य जो करता है, ईश्वर करता है, इसमे मनुष्य का क्या दोष है।"

ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति.
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। (अक ४)

(१०) छुटे राजकर मेघ समय पै जल बरसावैं
कजरी ठुमरिन सो मोडि मुख सत कविता सब कोई कहै।
(ग्र क ४)

अभिनय –

भारतेन्दुजी ने यह प्रहसन, 'अन्धेर नगरी' की भाँति अभिनयार्थ लिखा था। समर्पण मे वे कहते हैं 'मैं तुम्हे क्या तमाशा दिखाऊँगा।' यह प्रहसन

कानपुर, प्रयाग, बलिया और काशी आदि स्थानों मे मेला भी गया था।[1] यह लोकप्रिय भी बहुत हुआ, १८८४ में दूसरा संस्करण छपा और १८८७ मे तीसरा।[2] नाटककार ने सभी अभिनयांगों का नाटक मे ध्यान रक्खा है। चारों अंकों की दृश्योजना सरल है। केवल चौथे अंक मे 'यमपुरी' का दृश्य है। इसी योजना के लिए उस समय साधारण राजसभा के पर्दे से काम लिया जाता था। केवल पोशाकों में भिन्नता होती थी। स्थान-स्थान पर नाटककार ने दृश्य-योजना, वेशभूषा एव रग-सकेत दिए हैं।

दृश्य-योजना—अंक-१—रक्त से रँगा हुआ राजभवन।

वेशभूषा—

नगे सिर बड़ी धोती पहिने बगाली आता है। (अंक १)

पुरोहित गले मे माला पहिने टीका दिए बोतल लिए उन्मत्त-सा आता है। (अंक ३)

रंग-संकेत—

दीर्घ-रग-मकेत—'राजा दडवत् करके बैठता है।' (अंक १)

'बीच मे चूतर फेर कर बैठ गया।' (अंक २)

'वेदान्ती टेढी दृष्टि से देखकर चुप रह गया। सब लोग हँस पड़े।' (अक २)

'राजा ने उठकर दोनो को बैठाया।' (अंक २)

'गिरता पडता नाचता है।' (अंक ३)

नाचता गाता गिरकर अचेत हो जाता है। मतवाले बने हुए राजा और मन्त्री आते हैं। (अंक ३)

मन्त्री उठकर राजा का हाथ पकड कर गिरता पड़ता नाचता और गाता है। (अंक ३)

एक दूसरे के सिर पर धौल मार कर ताल देकर नाचते हैं। फिर एक पुरोहित का सिर पकड़ता है, दूसरा पैर और उसको लेकर नाचते हैं। (अंक ३)

चारों दूत चारों को पकड़ कर घसीटते और मारते है और चारों चिल्लाते हैं। (अंक ४)

लघु-रंग संकेत—

बैठकर, सब चकित होकर। (अंक १)

आकर, धीरे मे, नेपथ्य मे, सब जाते हैं. (अंक २)

कुछ ठहरकर, सिर पकड़ कर, उठकर गाता है। (अंक ३)

---

१. हरिश्चन्द्र : शिवनन्दन सहाय, पृ० १७१

२. हरिश्चन्द्र : शिवनन्दन सहाय, पृ० १७१

बाहर जाकर आता है, कोड़े मारता है, हाथ से बचा-बचाकर, एक कोड़ा मारकर क्रोध से। (अंक ४)

इस प्रकार अभिनय के सब साधन उपस्थित है। हाँ, एक प्रश्न अवश्य है। संस्कृत श्लोकों की भरमार क्या अभिनय मे दुर्बोधता नही पैदा करती। वास्तव मे थोड़ा-बहुत करती है। भारतेन्दुजी के नाटक लिखने के समय शास्त्रार्थ होते थे, लोग इन शास्त्रार्थों में बड़ा आनन्द लेते थे। फलत प्रहसन मे प्रयुक्त शास्त्रार्थ-प्रणाली उस समय अरुचिकर न थी, आज है। एक बात और ध्यान मे रखने की है। भारतेन्दुजी एव उनके अनेक सहयोगियों के नाटक साहित्यिक, जन-नाटक नही है। ये साहित्यिक नाटक विशिष्ट दर्शकों को रुचिकर थे। साधारण जन तो पारसी नाटको पर लट्टू थे। इन साहित्यिक नाटको को देखने के लिए ऐरा-गैरा समुदाय नही टूटता था। अत इनके अभिनय मे दुर्बोधता की अधिक बाधा उपस्थित न होती थी। सभव है दुर्बोधता हटाने के लिए हिन्दी अनुवाद पढा जाता होगा या हिन्दी अनुवाद उच्चरित होता होगा। यह प्रहसन केवल मनोरजन के लिए नही बना था, वरन् इसके निर्माण का प्रयोजन मद्य-मास-भक्षियो की हँसी उड़ाना था और इसी के लिए इस प्रहसन का अभिनय भी होता था। बीच मे श्लोको की दुर्बोधता रहते हुए भी दर्शक इससे आनन्द उठाते थे। हाँ, आज की भिन्न परिस्थिति मे इसका अभिनय न तो सुबोध होगा और रुचिकर। सब मिलाकर प्रहसन एक सफल प्रहसन है और भारतेन्दुजी की एक नवीन शक्ति का परिचय देता है। वह शक्ति है, विनोद एव व्यग्य की शक्ति जो आगे 'भारत दुर्दशा', 'अधेर नगरी' एव 'प्रेमजोगिनी' के रूप मे प्रस्फुटित हुई। मदिरा सम्बन्धी कुछ कविता भारत-दुर्दशा मे भी पुन सामने आती है। भारतेन्दुजी प्रथम बार तत्कालीन पुरुषो एव प्रवृत्तियो पर कटाक्ष करते हैं जो कटाक्ष आगे अधिक विकसित रूप मे सम्मुख आए।

धनंजय विजय (१८७३)

संस्कृत कवि काचन के धनजय विजय व्यायोग का अनुवाद भारतेन्दुजी ने १८७३ ई० मे किया जो १८७४ ई० मे पुस्तकाकार रूप मे प्रकाशित हुआ। १८८३ ई० मे इसका दूसरा सस्करण और १८८७ मे तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ।

कथा

रूपक मे एक दिन की युद्ध-कथा वर्णित है। पांडवों की अज्ञातवास की अवधि समाप्त हो ही रही थी कि सहसा दुर्योधन ने विराट नगर पर आक्रमण

करके गउओ का अपहरण किया। अर्जुन ने विराट नगर के राजकुमार को सारथी बनाकर भयंकर युद्ध किया एवं गउओं को कौरवों से छुड़ा लिया। बस इसी युद्ध का इस व्यायोग में वर्णन है।

विवेचन

शास्त्रीय—

व्यायोग की कथा इतिहास-प्रसिद्ध होती है। एक अंक होता है। स्त्री-पात्रों की संख्या अत्यन्त अल्प होती है। हास्य, शृगार एवं शान्त के अतिरिक्त कोई भी रस प्रधान (अंगी) हो सकता है। व्यायोग में किसी एक दिन की युद्ध-कथा का चित्रण होता है। यह युद्ध किसी स्त्री के कारण नही होता है। गर्भ एवं विमर्श को छोडकर शेष तीन सन्धियो (मुख, प्रतिमुख एव निर्वहण) का समावेश किया जाता है। नायक कोई प्रसिद्ध धीरोद्धत पुरुष, राजर्षि या दिव्य पुरुष होता है। कौशिकी वृत्ति का प्रयोग नही किया जाता है।[1]

नाट्यशास्त्रों के इन लक्षणो का उत्तम उदाहरण 'धनंजय विजय' व्यायोग है। इसमें एक दिन की युद्ध-कथा का चित्रण है। यह युद्ध किसी स्त्री को लेकर नही हुआ है वरन् दुर्योधन के गऊ हर लेने के प्रश्न को लेकर हुआ है। अर्जुन इसका नायक है जो प्रख्यात पुरुष है। वह धीरोद्धत रूप में सामने आता[2] है। प्रतिनायक दुर्योधन है। कोई भी स्त्री-पात्र इसमे नही है। प्रधान रस वीर है। सात्विकी वृत्ति का प्रयोग हुआ है और उसके चारो अग व्यायोग में उपस्थित है। मुख, प्रतिमुख एव निर्वहण सन्धियाँ मिलती हैं।

मुख सन्धि—अर्जुन के प्रवेश से इन्द्र विद्याधर और प्रतिहारी के प्रवेश तक मुख सन्धि है। अर्जुन रगमच पर प्रवेश करते ही जो पद्यात्मक कथन करता है वही बीज है। आगे वह अमात्य से कहता है—"अब हम लोग गऊ छुडाने जाते हैं। आप नगर मे जाकर गोहरण से व्याकुल नगर-वासियो को धीरज दीजिए" एवं कुमार से कहता है "देखो, गऊ दूर न निकल जाने पावे, घोडो को कसके हाँको" एवं कुमार रथ को आगे बढाता है। यहाँ आरम्भ नामक अवस्था है।

प्रतिमुख सन्धि—इन्द्र एव विद्याधर के प्रवेश से लेकर उनके जाने तक का युद्ध-वर्णन प्रतिमुख सन्धि के अन्तर्गत है। इन्द्र पहले नेपथ्य से एव पुनः रंग-मंच पर आकर जो पद्यात्मक कथन करता है, वहाँ 'बिन्दु' नामक अर्थ-प्रकृति है।

प्रयत्न—विद्या—देव ! देखिए, अर्जुन के पास पहुँचते ही कौरवों में कैसा कोलाहल पड़ गया, देखिये—

---

१. दशरूपक ३-६०।६१ एवं साहित्यदर्पण ६-२३२।२३३

२. डा० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल ने अपने भारतेन्दु नाट्य-साहित्य (पृ० १३२) में अर्जुन को धीरोद्धत के साथ ही साथ प्रशात भी माना है किन्तु धीरोद्धत नायक प्रशान्त नहीं हो सकता। अर्जुन केवल धीरोद्धत रूप में चित्रित है।

प्रति०—देव केवल कोलाहल ही नही वरन् आपके पुत्र के उधर जाते ही सब लोग लडने को भी एक संग उठ दौड़े। देव ! देखिए, अर्जुन ने कान तक खींच-खींच कर जो बान चलाए हैं, उनसे कौरव सेना में किसी के अंग-भग हो गए है, किसी के धनुष के दो टुकडे हो गए हैं, किसी के सिर कट गए हैं, किसी की आँखें फूट गई हैं—बीज सम्मुख आ जाता है जब युद्ध मे अर्जुन जीतता दिखाई पडता है, कभी बीज अलक्ष्य हो जाता है जब लाखों की सख्या में सेना कुंती-नदन को घेर लेती है अथवा जब दुर्योधन का मुकुट गिरते ही अर्जुन घिर जाता है। पुन बीज लक्षित होता है और विद्याधर कहता है "देव, आपके पुत्र ने प्रस्थापनास्त्र चलाया है" "भए अचेत सोए, भई मुरदा सी कुरु सैन।"[1]

निर्वहणसन्धि—

आगे निर्वहण सन्धि प्रारम्भ हो जाती है।

विद्याधर—"एक पितामह छोडि कै सबको नागो कीन।

बाँधि अंधेरी आँख मैं, मूडि तिलक सिर दीन।

अब आगे भागे लखौ, रह्यौ न कोउ खेत।

गोधन लै तुव सुत अबै ग्वालन देखो देत।

शत्रु जीति निज मित्र को काज साधि सानन्द।

पुरजन सो पूजित लखो पुर प्रविसत तुव नन्द।

यहाँ 'कार्य' नामक अर्थप्रकृति है। आगे जहाँ विराट अपनी पुत्री का विवाह कर देता है, वहाँ फलागम है।

नादीपाठ, प्रस्तावना एव भरतवाक्य से व्यायोग सयुक्त है। नादीपाठ मे मूल नाटक के तीन श्लोको मे से केवल पहले का अनुवाद दिया गया है। प्रवृत्तक नामक प्रस्तावना है क्योंकि रवि-आगमन मिस अर्जुन का प्रवेश वर्णित है। अनुवाद सफल एव सरस है। नाटककार ने मूल नाटक के भावो की रक्षा बडी निपुणता से की है। भाषा भी प्रौढ है। अनूदित पद्यो मे मूल का ओज गुण वर्तमान है।

डा० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल ने अपने प्रबन्ध 'भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य' मे इस व्यायोग के अभिनय सम्बन्धी दोष दिखाए है। वे कहते हैं—(क) उक्त संवादों मे रगमचीय अभिनेय उपयोगिता का नितात अभाव है। अभिनय की दृष्टि से कथानक के दृश्य-व्यापार रगमचीय योजना के अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं। (ख) रंगमचीय दृष्टि से प्रस्तुत नाटक भारतेन्दुजी का असफल प्रयास कहा जा सकता है।[1] (ग) रगमचीय दृष्टि से अभिनेय उपयोगिता बढाने वाले गुणो

---

१. भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य, पृ० १२८

की न्यूनता अवश्य खटकती है।[1] (घ) अभिनय की दृष्टि से दो रंगमंचों की आवश्यकता प्रतीत होती है जो नाटकीय दृष्टि से असंगत प्रतीत होती है।[2] ये कथन औचित्य से दूर हैं क्योंकि सम्भवतः विद्वान् आलोचक ने यह सोचा ही नहीं कि धनंजय विजय भारतेन्दुजी का मौलिक नाटक नहीं है, वरन् अनूदित नाटक है। अनूदित नाटक में अभिनय सम्बन्धी गुण-दोष देखना उचित नहीं है। यदि अभिनय सम्बन्धी गुण-दोष अनूदित नाटक में हैं भी तो वह भारतेन्दुजी का 'असफल प्रयास' नहीं होगा, वरन् मौलिक नाटककार का होगा।

मुद्राराक्षस (१८७५)

महाकवि विशाखदत्त-कृत संस्कृत नाटक 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद भारतेन्दु जी ने १८७५ ई० में किया। १८७५ ई० से १८७७ ई० तक यह अनुवाद थोडा-थोडा करके क्रमशः 'बालाबोधिनी' पत्रिका में छपता रहा। पीछे पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इस समय तक भारतेन्दुजी कई नाटकों का अनुवाद कर चुके थे। अतः यह अनुवाद अत्यन्त प्रौढ एवं प्रांजल हुआ है। संस्कृत-साहित्य में 'मुद्राराक्षस' अकेला सबसे प्राचीन राजनीतिक नाटक है। सम्भवतः इसकी अद्वितीयता या एकाकीपन ने ही भारतेन्दुजी को आकर्षित किया एवं उन्होंने इस नाट्यकृति का अनुवाद कर डाला। इस ऐतिहासिक नाटक के अनुवाद द्वारा भारतेन्दुजी ने एक नवीन शैली की स्थापना की जिसका अनुगमन बाद में प्रसादजी ने किया है। यह शैली है, नाटक की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालना। भारतेन्दुजी ने नाटक के आरम्भ में पूर्वकथा रूप में चाणक्य महानंद एवं राक्षस की कथा पर विचार किया है एवं नाटक के अन्त में, अर्थात् उप-संहार में ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में खोजपूर्ण सामग्री दी है। जैसाकि भार-तेन्दुजी ने स्वयं स्वीकार किया है, यह अनुवाद राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की प्रेरणा से हुआ था। राजा साहब को ही भारतेन्दुजी ने अनूदित नाटक समर्पित भी किया है।[3] राजा साहब को यह अनुवाद बहुत पसन्द आया था। फलतः राजा साहब की सहायता से यह अनूदित नाटक पाठ्यक्रम में निर्धारित हो गया था। इससे नाटक की लोकप्रियता बहुत बढ गई। बहुत समय तक यह नाटक कहीं-न-कहीं पाठ्यक्रम में चलता रहा है।

---

१. भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य, पृ० १२६
२. वही, पृ० १३०
३. परम श्रद्धास्पद श्रीयुत राजा शिवप्रसाद बहादुर सी० एस० आई० के चरण कमलों में केवल उन्हीं के उत्साह दान से उनके वात्सल्यभाजन छात्र द्वारा बना हुआ यह ग्रंथ सादर समर्पित हुआ।

कथा

अंक १—इस अंक में चाणक्य अपने गुप्तचरों का जाल राक्षस के चारों ओर पूरता दिखलाई देता है। उसको एक गुप्तचर योगी के वेष में सूचनाओं के साथ राक्षस की मुद्रा देता है। मंत्री राक्षस की इसी मुद्रा के नाम पर नाटक का नाम रखखा गया है। चाणक्य शिष्य शारंगरव को शकटदास के मित्र सिद्धार्थक (जो चाणक्य का ही एक गुप्तचर था) के पास भेजता है कि वह शकटदास से एक पत्र लिखवा दे। क्या लिखवाए, चाणक्य यह भी बतला देता है। राक्षस की ओर से यह पत्र लिखा जाएगा, इस प्रकार "किसी का लिखा कुछ कोई आप ही बाँचे"। चाणक्य ने इस पत्र के लिखवाने में बड़ी चतुरता दिखलाई है। आगे इसी पत्र के द्वारा राक्षस पूर्णतया चाणक्य के चंगुल में फँसता है। यह इस पत्र को राक्षस की मुद्रा से जो उसे योगी-वेष में गुप्तचर द्वारा प्राप्त हुई है, मुद्रित करता है। फिर उस पत्र एवं मुद्रा को चाणक्य शकटदास के मित्र एवं अपने गुप्तचर सिद्धार्थक को कुछ समझाकर दे देता है। इसके बाद चाणक्य राजा चन्द्रगुप्त के पास सूचना भिजवाता है कि मृत पर्वतेश्वर के आभूषणों को मेरे पास भिजवा देना, मैं स्वयं ब्राह्मणों को वितरित करूँगा। वह चन्दनदास जौहरी को बुलाकर धमकाता, फुसलाता, डराता एवं धमकाता है कि तुम राक्षस के कुटुम्ब को मुझे सौंप दो। चन्दनदास के न मानने पर चाणक्य उसे कारागार में डलवा देता है।

अंक २—राक्षस ब्राह्मण नद के मारे जाने से बड़ा दुःखी है। सपेरे के वेष में राक्षस का गुप्तचर 'विराधगुप्त' राक्षस को सूचना देता है कि चन्द्रगुप्त-नाश के आपके सारे उपाय व्यर्थ हो गए। आपकी भेजी विषकन्या से चाणक्य ने पर्वतेश्वर को मार डाला। बढ़ई दारु वर्मा बर्बर, वैद्य अभयदत्त, शयन-प्रबंधक प्रमोदक, सैनिक बीभत्सक आदि मारे गए। पर्वतेश्वर का भाई वैरोधक भी मारा गया। शकटदास को चाणक्य ने सूली दे दी है। तभी शकटदास के साथ सिद्धार्थक आता है। शकटदास राक्षस को बताता है कि मुझे सूली से सिद्धार्थक ने छुड़ा लिया। प्रसन्न होकर राक्षस, कुमार पर्वतेश्वर द्वारा प्राप्त आभूषणों को पुरस्कार-स्वरूप सिद्धार्थक को दे देता है। सिद्धार्थक उन आभूषणों को राक्षस के पास ही छोड़ देता है और कहता है कि जब काम होगा, मैं इन आभूषणों को ले लूँगा। सपेरे के वेष में विराधगुप्त यह भी सूचना देता है कि चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य में कुछ मनमुटाव हो गया है। इस समय मृत पर्वतेश्वर के आभूषण चाणक्य बिकने के लिए भेजता है और शकटदास उन्हें क्रयार्थ राक्षस के पास भेज देता है।

अंक ३—चान्द्रकौमुदी को चाणक्य रोक देता है। चन्द्रगुप्त अपने गुरु

चाणक्य के निर्देशानुसार गुरु से लड़ने का अभिनय करता है। वह चाणक्य को बुलाकर क्रुद्ध होने का अभिनय करता है। चाणक्य भी बिगड़कर चन्द्रगुप्त को छोड़कर चला जाता है।

अंक ४—राक्षस कुछ अस्वस्थ है। पर्वतेश्वर का पुत्र मलयकेतु अपने मित्र भागुरायण (जो चाणक्य का गुप्तचर था) के साथ राक्षस से मिलने आता है। वह धीरे-धीरे कुमार का मन राक्षस की ओर से फेरता है। दोनों छिपकर राक्षस एवं करभक की बातें सुनते हैं और भागुरायण राक्षस की उक्तियों का अर्थ कुछ और लगाकर कुमार के हृदय में राक्षस के प्रति शंका ही नहीं, विरोध जगा देता है। दोनों प्रकट होकर राक्षस के सामने आते हैं। कुमार, राक्षस से जली-कटी बातें करता है और क्रुद्ध होकर वह भागुरायण के साथ प्रस्थान कर जाता है।

अंक ५—मलयकेतु एवं भागुरायण के सामने चाणक्य का गुप्तचर क्षपणक बताता है कि मैं राक्षस का मित्र हूँ। मैंने ही राक्षस के कहने से पर्वतेश्वर पर विषकन्या का प्रयोग किया। इसी समय एक मनुष्य पकड़ा आता है। यह चाणक्य का गुप्तचर सिद्धार्थक है। उसके पास से राक्षस की मुद्रा द्वारा अंकित एक पत्र मिलता है जिसमें गोल-मोल शब्दों में कुछ लिखा था। यही वह पत्र है जिसकी चर्चा पहले अंक में हुई है। सिद्धार्थक के पास से एक पेटी भी मिलती है। इस पेटी में से मलयकेतु ने जो आभरण राक्षस को भेजे थे, प्राप्त होते हैं। राक्षस ने वे आभरण शकटदास की प्राणरक्षा के निमित्त सिद्धार्थक को ही दिए थे। क्षपणक के वेष में सिद्धार्थक उस पत्र का अर्थ बताता है कि आपके साथी जो चित्रवर्मा इत्यादि पाँच राजा हैं उनको राक्षस ने चन्द्रगुप्त की ओर कर दिया है। वे आपका राज्य एवं कोष चाहते हैं। राक्षस आपके विरुद्ध चन्द्रगुप्त से जा मिला है। मलयकेतु राक्षस को बुलाकर उससे स्पष्टीकरण माँगता है। पत्र शकटदास का है यह जानकर राक्षस चुप हो जाता है। फिर राक्षस के शरीर पर मृत पर्वतेश्वर के आभूषण देखकर, जिन्हें तीसरे अंक में चाणक्य का गुप्तचर बेच गया था, कुमार मलयकेतु राक्षस से समाधान पूछते हैं। राक्षस कहता है कि मैंने खरीदे थे। कुमार मलयकेतु, चित्रवर्मा इत्यादि पाँचों राजाओं को मरवा देता है और राक्षस को निकाल देता है।

अंक ६—राक्षस को चाणक्य के शिष्य (गुप्तचर) द्वारा सूचना दी जाती है कि चन्दनदास को फाँसी मिलने वाली है। वह गुप्तचर (शिष्य) अपने को चन्दनदास के मित्र का मित्र बताता है और कहता है कि यदि चन्दनदास को फाँसी मिल गई तो मेरा मित्र अग्नि में प्रवेश करेगा। उसके अग्नि-प्रवेश करते ही मैं प्राणघात कर लूँगा। मित्रता का यह उज्ज्वल उदाहरण देख राक्षस अपने मित्र चन्दनदास को बचाने के लिए चलता है।

अंक ७—दो चांडाल चन्दनदास को फाँसी देना ही चाहते हैं कि राक्षस

आकर कहता है कि चाडालो। जाकर चाणक्य को सूचना दो कि राक्षस शूली-गृह मे उपस्थित हो गया है। तभी चाणक्य आकर राक्षस को प्रणाम करता है। पुनः राजा चन्द्रगुप्त आता है और वह भी चाणक्य की आज्ञा से राक्षस को प्रणाम करता है। चाणक्य, मन्त्रित्व राक्षस को समर्पित करता है। भागुरायण इत्यादि मलयकेतु को वन्दी बनाकर लाते हैं। राक्षस के कहने से वे छोड दिए जाते है,

विवेचन

शास्त्रीय—

नादीपाठ मे भारतेन्दुजी ने आरम्भिक दोहा "भरित नेह नव नीर नित......' अपनी ओर से बढाया है। यह कृष्ण-भक्ति का दोहा आगे अनूदित नाटक कर्पूर मजरी, एव मौलिक नाटिका चन्द्रावली के नादी पाठ मे भी मिलता है। शेष दोनों सवैयो मे सस्कृत के दोनों स्रग्धरा छन्दों का बड़ा सुन्दर अनुवाद दिया गया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नादीपाठ मे ८ से १२ तक पद हो सकते हैं"[1], मूल मे आठ पद थे, अनुवादक ने १२ पद कर दिए हैं। मूल के दोनों संस्कृत श्लोको से अनुवाद के सवैयों को मिलाने से भारतेन्दुजी की अनुवाद शक्ति की प्रौढता का पता चलता है। कथोद्घात[2] नामक प्रस्तावना है क्योंकि सूत्रधार के वाक्यार्थ को पकड कर चाणक्य प्रवेश करता है। सूत्रधार ने कहा—

चद्रबिंब पूरन भए क्रूर केतु हठ दाय...
बल सो करिहै ग्रास कह...

(नेपथ्य मे)

"हैं मेरे जीते-जी चन्द्र को कौन बल से ग्रस सकता है।" यह कहता हुआ चाणक्य रगमच पर प्रवेश करता है।

नाटक की कथा ऐतिहासिक या ख्यात है। नाटक मे सधियों एवं सध्यगों का गुम्फन प्राप्त होता है।

सधियाँ

मुख सधि—प्रथम अक मे आरम्भ से उस स्थान तक मुख सधि है जहाँ चाणक्य का गुप्तचर चाणक्य को पाई हुई राक्षस-मुद्रा देकर चला जाता है।

बीज—अंक के आरम्भ मे रगमच पर प्रवेश करते समय चाणक्य का कथन ही 'बीज' है।

आरम्भ—चाणक्य राक्षस की अगूठी पाता है और अत्यन्त प्रसन्न होता है।

चाणक्य—(अँगूठी लेकर और उसमें राक्षस का नाम बाँचकर प्रसन्न होकर आप ही आप) अहा! मैं समझता हूँ कि राक्षस ही मेरे हाथ

---

१. सा० दर्पण—६-२५

२. कथोद्घात—सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ को ग्रहण कर जब पात्र प्रवेश करता है तब कथोद्घात नामक प्रस्तावना होती है।

लगा। (प्रकाश) यह अँगूठी कैसे पाई? मुझसे सब वृत्तान्त कहो।

चाणक्य की इस उक्ति में औत्सुक्य छिपा है। साथ ही कार्यारंभ की नींव भी पड़ती है। अतः यहाँ 'आरम्भ नामक अवस्था' है।

संध्यंग

उपक्षेप[1]—चाणक्य का प्रवेश करते समय का कथन "बता! कौन है जो मेरे जीतेजी चन्द्रगुप्त को बल से ग्रसना चाहता है—

'सदा दंति के कुम्भ को जो बिदारैं
ललाई नए चंद सी जौन धारैं'

और भी, 'काल सर्पिणी नन्द कुल, क्रोध धूम सी जौन......आदि।

परिक्रिया[2] या परिकर—

चाणक्य—नवनदन को मूल सहित खो दो छन भर मैं।
चन्द्रगुप्त मैं श्री राखी नलिनी जिमि सर मैं।
क्रोध प्रीति सों एक नासि के एक बसायो।
शत्रु-मित्र को प्रकट सबन फल ला दिखलायो।

परिभावना[3]—

चाणक्य—अथवा जब तक राक्षस नहीं पकड़ा जाता तब तक नंदों के मारने ही से क्या और चन्द्रगुप्त को राज्य मिलने ही से क्या? (कुछ सोचकर) अहा! राक्षस की नद वंश मे कैसी दृढ़ भक्ति है।

उद्भेद[4]—चाणक्य—जब तक नंद वंश का कोई भी जीता रहेगा तब तक वह कभी शूद्र का मंत्री बनना स्वीकार न करेगा, इससे उसके पकड़ने मे हम लोगों को निरुद्यम रहना अच्छा नहीं। यही समझ कर तो नन्द वंश का सर्वार्थ सिद्धि विचार तपोवन चला गया तो भी हमने मार डाला।

विलोभन[5]—

चाणक्य—वाह राक्षस मंत्री वाह! क्यों न हो।
वाह मंत्रियों में बृहस्पति के समान वाह!
तू धन्य है।

---

१. उपक्षेप—बीज का वपन उपक्षेप कहलाता है।
२. परिक्रिया—बीज का फैलना ही परिकर या परिक्रिया है।
३. परिभावना—जब पात्र अद्भुत आवेश में आकर कुछ कथन करता है तो वहाँ परिभावना संध्यंग माना जाता है।
४. उद्भेद—किसी छिपी बात के प्रकट करने का नाम उद्भेद है।
५. विलोभन—गुण-कथन का नाम विलोभन है।

भेद[1]—चाणक्य इसी से तो हम लोग इतना यत्न करके तुम्हे मिलाया चाहते हैं कि तुम अनुग्रह करके चन्द्रगुप्त के मंत्री बनो, क्योंकि—

मूरखकातर स्वामि भक्त कछु काम न आवै।
पंडित हूँ बिन भक्ति काज कछु नाहिं बनावै।
निज स्वारथ की प्रीति करै ते सब जिमि नारी।
बुद्धि भक्ति दोउ होय तबै सेवक सुखकारी।

करण[2]—चाणक्य—सो मैं भी इस विषय में कुछ सोता नही हूँ, यथा-शक्ति उसी के मिलाने का यत्न करता रहता हूँ। देखो पर्वतक को चाणक्य ने मारा यह अपवाद न होगा क्योंकि सब जानते है कि चन्द्रगुप्त और पर्वतक मेरे मित्र है। तो मैं पर्वतक को मार कर चन्द्रगुप्त का पक्ष निर्बल कर दूंगा ऐसी शका कोई न करेगा, सब यही कहेगे कि राक्षस ने विषकन्या-प्रयोग करके चाणक्य के मित्र पर्वतक को मार डाला। और भी अनेक देश की भाषा, पहिरावा, चाल-व्यवहार जानने वाले अनेक वेषधारी बहुत से दूत मैंने इसी हेतु चारो ओर भेज रखे हैं।

परिन्यास[3]—वह वहाँ नन्द के मन्त्रियों से मित्रता करके, विशेष करके राक्षस का अपने पर बड़ा विश्वास बढाकर सब काम सिद्ध करेगा, इससे मेरा सब काम बन गया है।

प्रतिमुख संधि—

राक्षस की मुद्रा, चाणक्य को देकर गुप्तचर चला जाता है। इस अ श तक मुखसधि चलती है। कथा यहाँ समाप्त-सी होती दिखाई पडती है। सहसा चाणक्य उस मुद्रा के द्वारा एक पत्र शकटदास से लिखवाने का उपक्रम करता है। यहाँ से प्रतिमुख सन्धि का प्रारम्भ है जो प्रथम अक के अन्त तक चलती है।

बिन्दु[4]—चाणक्य—बेटा ! वैदिक लोग कितना भी अच्छा लिखें तो भी उनके अक्षर अच्छे नही होते। इससे सिद्धार्थक से कहो (कान में कहकर) कि वह शकटदास के पास जाकर यह सब बात यों लिखवाकर और किसी का लिखा कुछ कोई आप ही बाँचे यह सरनामे पर नाम बिना लिखवाकर हमारे पास आवे और शकटदास से यह न कहे कि चाणक्य ने लिखवाया है।

---

१. भेद—मिले हुओं को तोड़ना 'भेद' अंग कहलाता है।
२. करण—वास्तविक कार्य का आरम्भ 'करण' है।
३. परिन्यास—बीज का निश्चित रूप में प्रकट होना 'परिन्यास' है।
४. बिन्दु—जो पुरानी कथा को नवीन शृंखला स्थापित करे वह स्थल बिन्दु कहलाता है।

प्रयत्न[1]—चाणक्य—सुनो, पहिले जहाँ सूली दी जाती है वहाँ जाकर फाँसी देने वालों को दाहिनी आँख दबाकर समझा देना और जब वे तेरी बात समझ कर डर से इधर-उधर भाग जायें तब तुम शकटदास को लेकर राक्षस मंत्री के पास चले जाना। वह अपने मित्र के प्राण बचाने से तुम पर बड़ा प्रसन्न होगा और तुम्हें पारितोषिक देगा, तुम उसको लेकर कुछ दिनों तक राक्षस ही के पास रहना और जब और भी लोग पहुँच जांय तब यह काम करना। (कान में समाचार कहता है)

संध्यंग—

विलास[2]—चाणक्य (लेकर आप-ही-आप) क्या लिखूं? इसी पत्र से राक्षस को जीतना है (प्रतिहारी आती है)

प्रतिहारी—जय हो, महाराज की जय हो।

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) वाह वाह! कैसा सगुन हुआ कि कार्यारंभ ही में जय शब्द सुनाई पड़ा।

परिसर्प[3]—(आप ही आप) पीछे तो यह लिखें पर पहिले क्या लिखें। (सोचकर) अहा! दूतों के मुख से ज्ञात हुआ है कि उस म्लेच्छ सेना में से पाँच राजा परम भक्ति से राक्षस की सेवा करते हैं।... (कुछ सोचकर) अथवा न लिखूं, अभी यह बात योंही रहे (प्रकाश) शारंगरव, शारंगरव!

विधूत[4]—चन्दनदास (आप-ही-आप) यह चाणक्य ऐसा निर्दय है कि यह जो एकाएक किसी को बुलावे तो लोग बिना अपराध भी इससे डरते हैं, फिर कहाँ मैं इसका नित्य का अपराधी, इसी से मैंने धन-सेनादिक तीन महाजनों से कह दिया कि दुष्ट चाणक्य जो मेरा घर लूट ले तो आश्चर्य नहीं—

चाणक्य (देखकर) आइए साहजी, कहिए, अच्छे तो हैं। बैठिए यह आसन है।

चन्दनदास (प्रणाम करके) महाराज! आप नहीं जानते कि अनुचित सत्कार अनादर से भी विशेष दु:ख का कारण होता है इससे मैं पृथ्वी पर ही बैठूंगा।

---

१. प्रयत्न—कुछ बाधा से जहाँ कार्य करने में द्रुत गति आ जाय वहाँ प्रयत्न नामक कार्य-अवस्था होती है।

२. विलास—आनन्ददायक वस्तु की इच्छा 'विलास' है।

३. परिसर्प—बीज दिखाई देकर छिप जाय, तब पुनः उसकी खोज की जाय।

४. विधूत किये हुए अनुनय को स्वीकार न करके, मान या सुख के प्रति अनिच्छा प्रकट करना।

नर्म[1]—कहिए साहजी ! चन्दनदासजी । आपको व्यापार में लाभ तो होता है न ।
पर्युपासना[2]—महाराज । क्यों नही, आपकी कृपा से सब वनज व्यापार अच्छी भाँति चलता है ।
प्रगमन[3]—इससे आगे का चाणक्य एवं चन्दनदास का संवाद ।
वज्र[4]—चाणक्य—सौ बात की एक बात यह है कि राजा के विरुद्ध कामों को छोड़ो ।
चन्दनदास—महाराज वह कौन अभागा है जिसे आप राजविरोधी समझते हैं ।
चाणक्य—उनमें पहिले तो तुम्ही हो ।
उपन्यास[5]—(नेपथ्य में कलकल होता है)
चाणक्य—शारंगरव ! देख तो यह क्या कलकल होता है ?
शिष्य—जो आज्ञा । (बाहर जाकर फिर आता है) महाराज !

राजा की आज्ञा से राजद्वेषी शकटदास कायस्थ को सूली देने ले जाते हैं ।
चाणक्य—राजविरोध का फल भोगे । देखो, सेठजी, राजा अपने विरोधियों को कैसा कड़ा दंड देता है, इससे राक्षस का कुटुम्ब छिपाना वह कभी न सहेगा, इसीसे उसका कुटुम्ब देकर तुमको अपना प्राण और कुटुम्ब बचाना हो तो बचाओ ।

प्रतिमुख संधि में बीज कभी दिखाई पड़ता है, कभी अलक्षित हो जाता है । सिद्धार्थक चाणक्य के निर्देशानुसार शकटदास से पत्र लिखा लाता है । यहाँ बीज लक्षित हुआ । पुनः चाणक्य चिंता करता हुआ कहता है—हाँ ! क्या किसी भाँति यह दुरात्मा राक्षस पकड़ा जाएगा । तभी सिद्धार्थक कार्य पूर्ण करने के लिए जाता है । चन्दनदास राक्षस का कुटुम्ब देने से इन्कार करता है, चाहे उसको सूली क्यों न दे दी जाय । बीज अलक्षित हो जाता है ।
गर्भ सन्धि[6]—द्वितीय अंक के आरम्भ से अन्त तक । इसमें मदारी और राक्षस की कथा पताका कथा है ।
प्राप्त्याशा[7]—मदारी वेष में विरोधगुप्त सूचना देता है कि राक्षस के समस्त

---

१. नर्म—परिहास से भरे वचन ।
२. पर्युपासना—क्रोधी से अनुनय करना ।
३. प्रगमन—बढ़-चढ़कर उत्तर-प्रत्युत्तर ।
४. वज्र—निष्ठुर वचन ।
५. उपन्यास—हेतु या उपाय से बीज को प्रकट करना ।
६. गर्भ संधि में सफलता की आशा घटनाओं के गर्भ में जा छिपती है । बीज की खोज जारी रहती है ।
७. प्राप्त्याशा—आशा और निराशा के बीच झूलती अवस्था में प्राप्त्याशा होती है ।

सहायक सर्वार्थ सिद्धि, पर्वतेश्वर, दारु वर्मा, वैरोधक, वर्बर अभयदत्त, वीभत्सकादि सैनिक इत्यादि मारे गए एवं शकटदास को शूली दी जायेगी। इसके द्वारा चाणक्य की विजय सूचित होती है। आगे विराधगुप्त बताता है कि चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त मे मन-मुटाव हो गया है। राक्षस विराधगुप्त से कहता है कि कुसुमपुर मे स्तनकलश से कहो कि वह चन्द्रगुप्त को चाणक्य से लडा दे। इससे राक्षस की विजय सूचित होती। राक्षस को विचार आता है कि अवश्य चन्द्रगुप्त चाणक्य के विरुद्ध हो जाएगा। यहां बीज तिरोहित-सा हो जाता है। इस प्रकार आशा-निराशा के माध्यम से प्राप्त्याशा कार्य-अवस्था आती है। आशा-निराशा के कुछ उदाहरण—

मदारी—चाणक्य ने लै जदपि बाँधी बुद्धि रूपी डोर सों।
करि अचल लक्ष्मी मौर्य कुल मे नीति के निज जोर सों।
पै तदपि राक्षस चातुरी करि हाथ मे ताकों करैं।
गहि ताहि खींचत आपुनी दिसि मोहि यह जानी।

सो इन दोनो परम नीति चतुर मंत्रियो के विरोध मे नन्दकुल की लक्ष्मी संशय मे पडी है।

दोउ सचिव विरोध सो, जिमि बन जुग गजराय।
हाथिनी सी लक्ष्मी विचल, इत उत भोंका खाय।

अभूताहरण[1]—सकल कुसुम रसपान करि मधुप रसिक सिरताज।
जो मधु त्यागत ताहिलैं होत सबै जगवाज।

मार्ग[2]—विराधगुप्त के राक्षस से कथन।

उदाहरण[3]—चढौ लै सरैं धाइ घेरौ अटाकों।
घरौ द्वार पैं कुंजरं ज्यो घटा को।
कहौ जोधनैं मृत्यु को जीति धावैं।
चलैं संग मैं छाड़ि कैं कीर्ति पावैं॥

संग्रह[4]—शकट०—(सिद्धार्थक को दिखाकर) इस प्यारे सिद्धार्थक ने सूली देने वाले लोगो को हटाकर मुझ को बचाया।

राक्षस—(आनन्द से) वाह सिद्धार्थक! तुमने काम तो अमूल्य किया है, पर भला! तब भी यह जो कुछ है सो लो। (अपने अंग से आभरण उतार कर देता है।)

---

१. अभूताहरण—कपट वचन।
२. मार्ग—सत्य बात प्रकट करना।
३. उदाहरण—उत्कर्षयुक्त वचन।
४. संग्रह—साम दान से युक्त उक्ति।

अधिवल[1]—सिद्धार्थक (लेकर आप ही आप) चाणक्य के कहने से मैं सब करूँगा। (पैर पर गिर के—प्रकाश) महाराज ! यहाँ मैं पहले-पहल आया हूँ, इससे मुझे यहाँ कोई नहीं जानता कि मैं उसके पास इन भूषणों को छोड़ जाऊँ। इससे आप इसी अँगूठी से इस पर मोहर करके अपने ही पास रखें, मुझे जब काम होगा ले जाऊँगा।

उद्वेग[2]—राक्षस (घबड़ाकर) क्या चन्दनदास को मार डाला ?

विराध—नहीं, मारा तो नहीं, पर स्त्री-पुत्र धन समेत बाँधकर बन्दीघर में भेज दिया।

राक्षस—तो क्या ऐसे सुखी होकर कहते हो कि बंधन में भेज दिया ? अरे ! यह कहो कि मन्त्री राक्षस को कुटुम्ब सहित बाँध रखा है।

आक्षेप[3]—प्रिय०—'जय हो महाराज ? शकटदास कहते हैं कि ये तीन आभूषण बिकते हैं, इन्हें आप देखें।'

राक्षस—(देखकर) 'अहा यह तो बड़े मूल्य के गहने हैं ! अच्छा शकटदास से कह दो कि दाम चुकाकर ले लें।'

ये मृत पर्वतेश्वर के आभूषण थे—जो चाणक्य ने राजा चन्द्रगुप्त से प्राप्त किये थे और विक्रय के लिए राक्षस के पास भेज दिये थे।

अवमर्श[4]

प्रकरी चतुर्थ अंक में राक्षस एवं करभेक का संवाद।

नियताप्ति[5]—चन्द्रगुप्त के मार्ग में सबसे बड़ा बाधक प्रतिनायक मलयकेतु है जिसके बल पर राक्षस उछल-कूद रहा था। भागुरायण मलयकेतु के हृदय को राक्षस की ओर से बदल देता है। अतः राक्षस के शब्दों का अर्थ मलयकेतु और कुछ लगा लेता है।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! अब मेरे हाथ चन्द्रगुप्त आवेगा, इसमें इनका क्या अभिप्राय है ?

भागु०—और क्या होगा ? यही होगा कि यह चाणक्य से छूटे चन्द्रगुप्त के उद्धार का समय देखते हैं।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! चाणक्य के तपोवन जाने या फिर प्रतिज्ञा करने में कौन कार्य सिद्धि निकाली है।

---

१. अधिवल—अभिसंधि।
२. उद्वेग—शत्रु से प्राप्त भय।
३. आक्षेप—गर्भस्थ बीज का आगमन।
४. अवमर्श में गर्भसंधि स्थित बीज का विस्तार होता है। किसी दैवी या मानवी कारण से विघ्न उपस्थित हो जाता है।
५. नियताप्ति—विघ्न दूर हों और प्राप्ति का निश्चय होने लगे।

भागु०—कुमार ! यह तो कोई कठिन बात नहीं है, इसका आशय तो स्पष्ट ही है कि चन्द्रगुप्त से जितनी दूर चाणक्य रहेगा उतनी ही कार्य-सिद्धि होगी।

अवमर्श संध्यंग

अपवाद[1]—तृतीय अंक के आरम्भ में कंचुकी का कथन।

संफेट[2]—कंचुकी—क्या कहा ? कि क्या महाराज चन्द्रगुप्त नहीं जानते कि कौमुदी महोत्सव अबकी न होगा ? हुई दइमारो ! क्या मरने को लगे हो ?

द्रव[3]—चन्द्रगुप्त द्वारा चाणक्य का अपमान।

शक्ति[4]—चन्द्रगुप्त—

गुरु आपसु छल सों कलह करिहू जीय डराय
किमि नर गुरु जन सो लरहिं, यहै सोच जिय होय।

द्युति[5]—चाणक्य—रे कृतघ्न !

अतिहि क्रोध करि खोलि के लिखा प्रतिज्ञा कीन।
मो सब देखत भुव करी नव नृपनद विहीन।
घिरी स्वान अरु गीध सो भय उपजावनि हारि।
जारि नद हू नहिं भई सात मसानि दवारि।

प्रसंग[6]—दूसरे वैतालिक का गीत चन्द्रगुप्त की प्रशंसा में।

छलन[7]—चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त का अपमान।

व्यवसाय[8]—चाणक्य—

जिमि हम नृप अपमान सों महा क्रोध अधारि।
करी प्रतिज्ञा नन्द नृप नासन को निरधारि।
सो नृप नन्दहिं पुत्र सहनासि करी हम पूर्ण।
चन्द्रगुप्त राजा कियो करि राक्षस मदचूर्ण।

विरोध[9]—चाणक्य—रे कृतघ्न ! इत्यादि

अतिहि क्रोध करि खोलि कै सिखा प्रतिज्ञा कीन।
सो सब देखत भुव करी नव नृप नन्द विहीन।

---

१. अपवाद—दोष-कथन
२. संफेट—रोष-भरा कथन
३. द्रव—पूज्य पुरुषों का अपमान
४. शक्ति—विरोध शमन सूचना
५. द्युति—तर्जन एवं व्याकुलता प्रकट करना
६. प्रसंग—बड़ों का गुण-गान
७. छलन—अपमान करना।
८. व्यवसाय—अपनी शक्ति की प्रशंसा
९. विरोध—क्रुद्ध पात्रों का कथोपकथन

घिरी स्वान अरु गीध सों भय उपजावनि हारि।
जारि नन्द हू नहिं भई सात मसान दवारि।

चन्द्र—यह सब किसी दूसरे ने किया। इत्यादि

चा०—किसने......

निर्वहण[1] सन्धि

कार्य—पाँचवें अंक में कार्य-सिद्धि के लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं मलयकेतु एवं राक्षस अलग हो जाते हैं।

फलागम—सातवें अंक में राक्षस मन्त्रित्व ग्रहण करता है।

संध्यंग

सन्धि[2]—सिद्धार्थक—अहा हा!

देशकाल के कलश में सिंची बुद्धि बल जौन।
लता नीति चाणक्य की बहुफल देहै तौन।

अमात्य राक्षस की मोहर का, आर्य चाणक्य का लिखा हुआ यह लेख और मोहर की हुई यह आभूषण की पेटिका लेकर मैं पटने जाता हूँ।

विबोध[3]—छठे अंक के आरम्भ में प्रवेशक के बाद फाँसी हाथ में लिये एक पुरुष आता है। उसका कथन विबोध है।

ग्रथन[4]—भागु०

जरा कुल तजि, अपमान सहि, धनरहित परबस होय,
जिन बेच्यो निज प्रान तन, सबै सकत धरि सोय।

पूर्वभाव[5]—चाणक्य—(प्रतिहारी से) विजये, दुर्गपाल से कहो कि अमात्य राक्षस के मेल से प्रसन्न होकर महाराज चन्द्रगुप्त आज्ञा करते हैं कि हाथी, घोड़ों को छोड़कर और सब बन्धुओं का बन्धन छोड़ दो, वा अब अमात्य राक्षस मन्त्री हुए तब हमें हाथी-घोड़ों का क्या सोच है! इससे—

छोड़ौ सब गज तुरग अब कछु मत राखौ बाँधि,
केवल हम बाँधत सिखा निज परतिज्ञा साधि।

उपगूहन[6]—राजा—

मैत्री राक्षस सो भई, मिल्यो अकंटक राज,
नन्द नसे सब अबकहा, या सों बढ़ि सुख साज।

---

१. सब विघ्न शांत होकर अभिलषित फल प्राप्त हो जाता है।
२. सन्धि—बीज का आगमन
३. विबोध—कार्य की खोज (द० १—५१)।
४. ग्रथन—कार्य की चर्चा ५. पूर्वभाव—कार्य का दर्शन।
६. उपगूहन—अद्भुत फल या अद्भुत वस्तु की प्राप्ति

इसमें अद्भुत फल की प्राप्ति का वर्णन है। राक्षस से मित्रता, कंटक रहित राज्य, सब नन्दों का विनाश।

परिभाषा[1]—राक्षस और चाणक्य की बातचीत।

राक्षस—सुनो विष्णुगुप्त ! ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि हम उस योग्य नहीं, विशेष करके जब तक तुम शस्त्र ग्रहण किए हो तब तक हमारे शस्त्र ग्रहण करने का क्या काम है ?

चाणक्य—भला अमात्य ! आपने यह कहाँ से निकाला कि हम योग्य हैं और आप अयोग्य हैं ?

भाषण[2]—राक्षस—

अच्छा विष्णुगुप्त ! मँगाओ खंग "नमस्सर्वं कार्य्य प्रतिपत्ति हेतवे सुहृत्स्ने हाय" देखो, मैं उपस्थित हूँ।

प्रसाद[3]—चाणक्य (राक्षस को खंग देकर हर्ष से) राजन् वृषल ! बधाई है। अब अमात्य राक्षस ने तुम पर अनुग्रह किया।

काव्य संहार[4]—चाणक्य—चन्द्रगुप्त ! अब और मैं क्या तुम्हारा प्रिय करूँ ?

प्रशस्ति[5]—नाटकांत में राक्षस का कथन—इससे बढ़कर और हमारा क्या प्रिय होगा ? पर जो इतने पर भी संतोष न हो तो यह आशीर्वाद सत्य हो—

"वाराही......स्चन्द्रगुप्तः।"

पताकास्थानक

संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार वस्तुविधान में संधियों का स्थान सर्वोपरि है। पर साथ ही यह भी नाट्यशास्त्र की आज्ञा है कि पताकास्थानकों का प्रयोग अवश्य किया जाय।[6] रामचन्द्र-कृत नाट्यदर्पण की टीका करते हुए गुणचन्द्र ने भी यही मत प्रकट किया है कि पताकास्थानक से हीन रूपक की रचना नहीं होनी चाहिए।[7] नाट्यशास्त्रियों का यह भी अभिमत है कि पताका स्थानकों के प्रयोग में बड़ी सावधानी बरती जानी चाहिये।[8] पताकास्थानक क्या है ? जब परिस्थितिवश अथवा श्लिष्ट शब्दों के कारण आकस्मिक अचक चाहप्या संभ्रम उत्पन्न हो जाय तो वहाँ पताकास्थानक माना जाता है। पताका-

---

१. परिभाषा—कार्य-सिद्धि के सम्बन्ध में पारस्परिक बातचीत।
२. भाषण—मान आदि की प्राप्ति।
३. प्रसाद—आनन्द, अनुग्रह, सेवाफल आदि प्राप्ति को 'प्रसाद' कहते हैं।
४. काव्य संहार—वर देने को उद्यत होना।
५. प्रशस्ति—भरतवाक्य या कल्याण-कामना।
६. द० रू० ३-३७
७. एतद् विहीनं रूपकं न कार्यं मित्यर्थः।
८. सा० द० ६—४४

स्थानक के मूल में आकस्मिक संभ्रम है। किसी पात्र के सहसा इष्ट सिद्धि हो जाय अथवा दूसरे पात्र के अनजाने में प्रयुक्त श्लिष्ट शब्दों से संभ्रम उत्पन्न हो जाय तो वहाँ पताकास्थानक माना जायेगा। पताकास्थानक दो रूपों में प्राप्त होता है—(१) परिस्थितिजन्य पताकास्थानक और (२) श्लिष्ट शब्दों से उत्पन्न पताकास्थानक।

परिस्थितिजन्य पताकास्थानक

परिस्थिति ऐसी बन जाय कि पात्र को सहसा इष्ट सिद्धि हो जाय तो वहाँ परिस्थितिजन्य पताकास्थानक होता है। रत्नावली में राजा, वासवदत्ता को फाँसी से बचाता है किन्तु वासवदत्ता के रूप में प्राप्त होती है, प्रेयसी रत्नावली। इसी प्रकार नागानन्द में नायक जीमूतवाहन दो लाल वस्त्र न पाने से क्षुब्ध है, शखचूर्ण उसे नहीं देता है, तभी कंचुकी आकर उसे विवाहोपलक्ष में दो लाल वस्त्र लाकर देता है। मुद्राराक्षस में ऐसा पताकास्थानक नहीं है, वरन् दूसरे प्रकार का प्राप्त होता है।

दूसरे प्रकार का पताकास्थानक 'मुद्राराक्षस' में कई स्थान पर मिलता है। इसमें पात्र अनजाने ही कुछ शब्द कहता है किन्तु प्रसंगवश उसका अर्थ दूसरे पक्ष में लग जाता है, उदाहरण—

१—चाणक्य—(चिन्ता करके आप-ही-आप) हा! किसी भाँति वह दुरात्मा राक्षस पकड़ा जायगा?

सिद्धार्थक—महराज लिया। (अंक १)

२—राक्षस—और भी वह दुष्ट चाणक्य...

दौवारिक (प्रवेश करके) जय-जय।

राक्षस—किसी भाँति मिलाया या पकड़ा जा सकता है?

दौवारिक—अमात्य (अंक ४)।

नेता

'मुद्राराक्षस' में चन्दनदास की स्त्री को छोड़कर कोई भी स्त्री-पात्र नहीं है। इसमें चार पात्र मुख्य हैं—चाणक्य, राक्षस, चन्द्रगुप्त एवं मलयकेतु। पूरे नाटक का सूत्रधार 'चाणक्य' है। सारी कथा चाणक्य के आधार पर घूमती है। पश्चिमी दृष्टि से नाटक का नायक चाणक्य ही ठहरता है, किन्तु पौर्वात्य-दृष्टि से नाटक के आधिकारिक फल का भोक्ता चन्द्रगुप्त है, चाणक्य नहीं। चाणक्य राक्षस को अपनी ओर मिलाकर चन्द्रगुप्त के राज्य को निष्कंटक बनाता है। अत: 'नायक' चन्द्रगुप्त है। वह धीरोदात्त की श्रेणी में ही आएगा, यद्यपि धीरोदात्तता पूर्ण रूप से उसमें नहीं भरी है। धीरोदात्त नायक के लक्षण हैं—अपनी प्रशंसा न करने वाला, क्षमावान्, अतिगंभीर स्वभाव वाला (महासत्त्व), स्थिर प्रकृति का, विनय सहित आत्म-सम्मान की रक्षा करने वाला,

दृढ़व्रती और अपनी आन का पूरा पुरुष धीरोदात्त कहलाता है।[1] ये लक्षण चन्द्रगुप्त में हैं, किन्तु नाटक में इन गुणों का पूर्ण विकास नहीं दिखलाया गया है। इसका कारण है कि नाटककार का ध्यान प्रधानतः चाणक्य पर केन्द्रित है। नाटक का प्रतिनायक है, मलयकेतु।

नाटक का संघर्ष चाणक्य एवं राक्षस के बीच चलता है। नाटक में बाह्य संघर्ष आरम्भ से अन्त तक गतिमान है। अन्त संघर्ष भी कहीं-कहीं है, विशेषतया राक्षस के हृदय में।

"जाहि तपोवन, पै न मन शांत होत सह क्रोध।
प्रान देहि रिपु के जियत यह नारिन को बोध॥" (अंक ५)

चाणक्य और राक्षस के चरित्र-चित्रण मे कवि ने अपनी कला प्रदर्शित की है।

राक्षस बड़ा स्वामिभक्त, वीर बुद्धिमान और धैर्यवान् है। चाणक्य जैसा शत्रु भी उसकी प्रशंसा करता है—

(क) अहा! राक्षस की नन्द वंश मे कैसी दृढ़ भक्ति है। जब तक नन्द वंश का कोई भी जीता रहेगा तब तक वह कभी शूद्र का मन्त्री बनना स्वीकार न करेगा...वाह राक्षस मन्त्री वाह! क्यों न हो! वाह मन्त्रियों मे बृहस्पति के समान वाह! तू धन्य है, क्योंकि—

जबलौं रहै सुख राज को तबलौं सबै सेवा करें।
पुनि राज बिगड़े कौन स्वामी? तनिक नहिं चित में धरें।
जे बिपति हूँ में पालि पूरब प्रीति काज सँवारहीं।
ते धन्य नर तुम सारिखे दुरलभ अहैं संसय नहीं।

(ख) जिस महात्मा ने—

बहु दुख सों सोचत सदा जागत रैन बिहाय।
मेरी मति अरु चन्द्र की सैनहि दई पकाय।

राक्षस नन्द वंश के नाश से दुखी होकर आँसू बहाता रहता है।

राक्षस (ऊपर देखकर आँखो में आँसू भरकर) हाँ, बड़े कष्ट की बात है—

गुन नीति बल सों जीति अरि जिमि आयु जादव गन हयो।
तिमि नंद का यह विपुल कुल विधि बाम सौं सब नसि गयो।
एहि सोच मे मोहि दिवस अरु निसि नित्य जागत बीतहीं।
यह लखौ चित्र विचित्र मेरे भाग के बिनु भीतहीं॥

अथवा

बिनु भक्ति भूले, बिनहि स्वारथ हेतु हम यह पन लियो।
बिनु प्रान के भय, बिनु प्रतिज्ञा—लाभ सब अब लौं कियो॥

---

१. साहित्य दर्पण ३—३२

सब छोड़ि के परनागता एहि हेत निज प्रति हम करैं।
जो स्वर्ग मैं हू स्वामि मम निज दास हमसो गुन भरैं॥

समय पड़ने पर वह हाथ में तलवार लेकर युद्ध के लिए भी तैयार हो जाता है। वह कुसुमपुर को घिरा सुनकर झट से आह्वान करता है—

चढ़ो लै गरे धार पैरी कटा कों।
घरो द्वार पै गूँजरे ज्यों घटा कों।
कहो जोधनै मृत्यु को जीति धावैं।
चलैं संग मैं छोड़ि कै कीर्ति पावैं।

इन्हीं गुणों के कारण राजा नन्द ने राक्षस को बड़ा मान दिया था। राक्षस स्वयं कहता है—

है जहँ झुंड गंड गज मेघ के सजा करौ तहँ राक्षस जाय कै।
त्यों ये तुरग अनेकन हैं, तिनहूँ के प्रबंधहि राखौ बनाय कै॥
पैदल ये सब तेरे भरोसे हैं, काज करौ निज को चित लाय कै।
यों कहि एक हमैं तुम मानत हे, निज काज हजार बनाय कै॥

और इन्हीं गुणों के कारण दर्शक या पाठक की राक्षस के प्रति सहानुभूति हो जाती है। इतने सद्गुणों के रहते हुए भी जीत चाणक्य की ही होती है। क्यों? इसलिए नहीं कि गुणों में चाणक्य, राक्षस से बढ़कर था? इसलिए भी नहीं कि राक्षस ने साहस छोड़ दिया और कायरता को अपना लिया था, इसलिए भी नहीं कि राक्षस बुद्धिहीन हो गया था। चाणक्य की जीत हुई दो कारणों से—राक्षस की तीन निर्बलताओं और चाणक्य की तीन सबलताओं के कारण।

राक्षस की एक बड़ी निर्बलता है कि वह अपनी असफलता को दैव के मत्थे मढ़ कर सन्तोष कर लेता था, उदाहरण—

(क) वह घोर भाग्यवादी था। नन्द वंश का नाश भी वह दुर्भाग्य का खेल ही मानता है—

गुन नीति बल सौं जीति अरि जिमि आयु जादव गन हयो।
तिमि नन्द का यह विपुल कुल विधि वाम सों सब नसि गयो॥
एहि सोच में मोहि दिवस अरु निसि नित्य जागत बीत ही।
यह लखौ चित्र विचित्र मेरे भाग के बिनु भीत ही।

(ख) विराधगुप्त राक्षस से बताता है कि बर्बर मारा गया और दारुवर्मा ने चन्द्रगुप्त के धोखे तपस्वी वैरोधक को हथिनी ही पर मार डाला। राक्षस इस पर दुखी हो सकता है—हाय! दोनों बात कैसे दुःख की हुई कि चन्द्रगुप्त तो काल से बच गया और दोनों बिचारे बर्बर और वैरोधक मारे गए (आप-ही-आप) दैव ने इन दोनों को नहीं मारा हम लोगों को मारा![1] आगे विराधगुप्त कहता है कि शयन-प्रबन्धक प्रमोदक ने आपके धन के बल पर बड़ा ठाट-बाट

फैलाया। चाणक्य ने उसे मरवा दिया। राक्षस सुनकर बोला—हाँ! दय ने यहाँ भी उलटा हमी लोगों को मारा!

इस अटूट भाग्यवादिता ने राक्षस के विचारों में दुर्बलता ला दी थी, भले ही वह मौखिक रूप में विराधगुप्त से कह देता है कि "मैं प्रारब्ध के सहारे नहीं हूँ।" वह एकांत में बैठा चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त पर चलाए अपने दाँवों की विवेचना कर रहा है। वह मन में कह रहा है कि मैंने चन्द्रगुप्त का नाश करने के लिए शकटदास को छोड़ दिया है। जीवसिद्धि इत्यादि मेरे मित्र चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य के क्षय का पूर्ण उद्योग कर रहे हैं। उसे अपने इन साधनों पर कुछ देर प्रसन्नता तो होती है परन्तु सफलता का पूर्ण विश्वास नहीं है। वह सोचता है कि मैं सफल तो हो सकता हूँ यदि भाग्य मुझे धोखा न दे दे—

विष-वृक्ष अहिमुत सिंह पोत समान जा दुखरास कौं।
नृप नन्द निज सुत जानि पाल्यौ सकुल निज अनु नास कौं॥
ता चन्द्रगुप्तहिं बुद्धि सर मम तुरत मारि गिराइहै।
जो दुष्ट दैव न कवच बनिकैं अमह आड़े आइहै॥

उसकी दूसरी दुर्बलता है उसमें कार्य्य-कुशलता का अभाव। इसी कारण वह मदारी को देखकर भूल जाता है कि इसे किस काम से भेजा था। उसकी तीसरी निर्बलता है कि वह झटपट किसी पर भी विश्वास कर लेता था। यह उसका अत्यन्त सीधा स्वभाव था। इसी कारण वह जीवसिद्धि इत्यादि चाणक्य के गुप्त-चरों को अपना मित्र समझता था और वे उसे जाल में फँसा लेते थे।

इसके विपरीत चाणक्य अपने पुरुषार्थ पर अटल विश्वास करता है। उसका पूर्ण विश्वास था कि जो मैं करना चाहूँगा वैसा ही होगा। वह जिसे मारना चाहता है वह अवश्य मार कर रहेगा। मलयकेतु की सेना के पाँच प्रधान राजाओं को उसने मारने की सोची। सोचते ही वह कहता है—

अब चित्रगुप्त इन नाम को मेटहिं हम जब लिखहिं हूनि।

चन्द्रगुप्त ने जब कहा कि नन्द वंश का नाश 'दैव' ने किया तो—चाणक्य उत्तर देता है—दैव तो मूर्ख लोग मानते हैं।

चाणक्य की दूसरी विशेषता है कि उसमें प्रखर बुद्धि है जिसके कारण कार्य्य-कुशलता आई और सफलता प्राप्त हुई। इसी का नाम है उसकी 'नीति'। उसके गुप्तचर एक-दूसरे को नहीं जानते। वह प्रत्येक कार्य को बड़ी सावधानी से करता है। वह चन्द्रगुप्त के नगर प्रवेश के समय सब द्वारों की जाँच कराता है। जब वैद्य अभयदत्त ने औषधि में विष दिया तो चाणक्य पहले औषधि की परीक्षा करता है और वही औषधि वैद्य अभयदत्त को बलात् खिलाता है। शयन-प्रबन्धक प्रमोदक के ठाट-बाट देख उसको संदेह पैदा हो जाता है और वह शयन-कक्ष की जाँच करता है। दीवार पर चलती चींटी के मुख में अन्न कण देखकर वह समझ लेता है कि कुछ दाल में काला है।

उसकी तीसरी विशेषता है कि वडा त्यागमय जीवन बिताता है। एक ओर राक्षस अलंकार पहनने का शौकीन है तो महामात्य राजगुरु चाणक्य की गृह-समृद्धि यह है—

> कहुँ परे गोमय शुष्क, कहुँ सिल परी सोमा दै रही।
> कहुँ तिल, कहुँ जवरासि लागी बटुन जो भिक्षा लही॥
> कहुँ कुस परे कहुँ समिध सूखत भार सों ताके भयो।
> यह लखौ छप्पर महा जरजर होइ कैंगो भुकि गयो॥

महामात्य चाणक्य सारा सघर्ष इसीलिए रचता है कि अपना मन्त्रिपद, राक्षस को दे सके। यही एक ऐसा गुण है जो चाणक्य की कुटिलता को छिपा लेता है और चाणक्य सबसे प्रभावशाली व्यक्ति सिद्ध हो जाता है।

अनुवाद

भारतेन्दुजी मुद्राराक्षस के अनुवाद में अत्यन्त सफल हुए हैं। अनुवाद शाब्दिक हुआ करता है और यह अनुवाद शाब्दिक ही है। नाटककार ने मूल के भावो की यथासाध्य रक्षा की है और कही-कही तो अनुवाद मूल से अधिक चमक उठा है। कुछ उदाहरण देखिए—

(१) मूल में राक्षस कहता है—

> कर्णेनेव विषागनैक पुरषव्यापादिनी रक्षिता।
> हन्तु शक्ति रिवार्जुन बलवती या चन्द्रगुप्तं मया।
> सा विष्णोरिव विष्णुगुप्तहतकस्यात्यन्तिक श्रेयसे।
> हैडिम्बेयमिवेत्य पर्वतनृप तद्वध्यमेवावधीत्॥ (२-१५)

भारतेन्दुजी का अनुवाद बड़ा स्पष्ट और सरस है—

> जो विषमयी नृप चन्द्रवध हित नारि राखी लाय कै।
> तासों हत्यो पर्वत उलटि चाणक्य बुद्धि उपाय कै।
> जिमि करन शक्ति अमोघ अर्जुन हेतु धरी छिपाय कै।
> पै कृष्ण के मत सो घटोत्कच पै परी घहराय कै॥

(भारतेन्दु ग्र थावली, प्र० मा०, पृ० १६४)

(२) मूल—विराधगुप्त—आत्मविनाशा.
अनुवाद—उसने सब चौका लगाया।
'चौका लगाना' कैसा उपयुक्त व्यजनात्मक मुहावरा प्रयुक्त किया गया है।
(भा० ग्रं०, पृ० १६७)

(३) राक्षस—भद्र! अथाग्नि प्रवेशे तव सुहृद. को हेतु।
किमौषध पथातिगैरुपहतो महाव्याधिभिः॥
पुरुष—अज्ज! णहि-णहि (आर्य, नहि-नहि)
राक्षस.—किमग्नि विषकल्पया नरपतेर्निरस्त कुधा?

पुरुष :—अज्ज ! सन्तं पावं, सन्तं पावं। चन्दउत्तस्स
जणपदेसु अणि संसा पडिवक्षी (आर्य शान्तं पापं,शान्तं पापं, चन्द्र गुप्तस्य जनपदेष्वनृशंसा प्रतिपत्ति)

राक्षस :—अलभ्यमनुरक्तवान् किमयमन्यनारी जनम् ?

पुरुष :—(कर्णौपिधाय) अज्ज ! सन्तं पावं, सन्तं पावं। अभूमीक्खु एसो विणअणि घाणस्स सेट्ठि जणस्स, बिसेसदो जिण्णु दासस्स (आर्य ! शान्तं पाप, शान्त पापं। अभूभिः खल्वेष विनय निधानस्य वणिग्जनस्य विशेषतो जिष्णुदास्य)

राक्षस :—किमस्य भवतो यथा सुहृद एव नाशो ?

(विषम् ६-१६)

पुरुष :—अज्ज ! अध इं ? (आर्य ! अथ किम् ?)

अनुवाद—

राक्षस :—भद्र ! तुम्हारे मित्र के अग्नि प्रवेश का कारण क्या है ?
कै तेहि रोग असाध्य भया
कोऊ जाको न औषध नाहिं निदान है ?

पुरुष —नहीं आर्य !

राक्षस—कै विष अग्निहु सो बढि कै
नृप कोप महा फँसि त्यागत प्रान है।

पुरुष— राम-राम। चन्द्रगुप्त के राज्य में लोगों को प्राण-हिंसा का भय कहाँ ?

राक्षस—कै कोउ सुदरी पै जिय देत
लग्यो हिय माँहि वियोग को बान है ?

पुरुष —राम-राम। महाजन लोगों की यह चाल नहीं, विशेष करके साधु जिष्णु-दास की।

राक्षस—तौ कहुँ मित्रहि को दुख वाहू के
नास को हेतु तुम्हारे समान है।

पुरुष —हाँ, आर्य

(भा. ग्र., प्र. भाग, पृ० २२३)

हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार शान्त पाप का अनुवाद 'राम-राम' में किया गया है जो बड़ा समुचित जान पड़ता है।

(४) इह हि रचयन्, साध्वी शिष्य. क्रिया न निवार्यते
त्यजति तु यदा मार्गमोहात् तदा गुरु रङ्कुशः
विनय रुचयस्तस्मात् सन्तः सदैव निरङ्कुशाः
परतरमतः स्वातन्त्र्येभ्यो वय हि पराङमुखः ॥ (३-६)

अनुवाद—

जब लौं बिगारै काज नहिं तब लौं न गुरु कछु तेहि कहै।
पै शिष्य जाइ कुराह तौ गुरु सीस अंकुस ह्वै रहै॥
तासों सदा गुरु वाक्य वश हम नित्य पर आधीन हैं।
निर्लोभ गुरु से सन्त जन हीं जगत में स्वाधीन है॥

(भारतेन्दु ग्रंथावली, प्र० भा० पृ० १७५)

अनुवाद करने में नाटककार ने सरलता, भाषा की प्रवृत्ति, सुबोधता, स्पष्टता और प्रवाह का बराबर ध्यान रक्खा है। पाटलीपुत्र का अनुवाद इसी कारण पटना कर दिया है, यद्यपि इससे देश-काल-दोष आ जाता है। एक स्थान पर पद्य (मूल ७-२) का अनुवाद गद्य मे किया है। अनुवाद करना प्राय मूल पुस्तक लिखने से कठिन होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण 'मुद्राराक्षस' है। भारतेन्दुजी इस समय तक अनुवाद करने मे निपुणता पा चुके थे और यह अनुवाद बड़ा सफल अनुवाद है। तथापि अनुवाद मे थोड़ी-बहुत त्रुटियाँ भी रह गई है। हाँ, है वे अल्प ही। उदाहरण—

(१) नाटककार ने मूल के भाव या शब्द छोड़ दिए है। इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि नाटककार शाब्दिक अनुवाद इन स्थानो पर नही कर पाया है।

मूल —ऐश्वर्य्यादनपेतमीश्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते
त गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाऽऽशया
भर्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासगेन नि.सगया।
भक्त्या कार्य्यं धुरा वहन्ति कृतिनस्ते दुर्लभास्त्वादृशा.॥

(१-१४)

इसका अर्थ है—लोगों की प्रवृत्ति है कि अर्थेच्छा से धनवान् प्रभु की सेवा करते है। धनवान् प्रभु यदि विपत्ति मे पड़ जाता है तो वे लोग उस प्रभु को छोड़ते नही, वरन् उसका अनुगमन करते हैं। क्यों ? इस आशा से कि इसके दिन फिर कभी फिरेंगे। किन्तु स्वामी के मर जाने पर पहले उपकारों का ध्यान करके निःस्वार्थ भाव से स्वामी के कार्यभार मे सहायता देने वाले आप-जैसे पुण्यात्मा पुरुष दुर्लभ ही हैं।

अनुवाद—

जब लौं रहे सुख राज को तब लौं सबै सेवा करै।
पुनि राज बिगड़े कौन स्वामी ? तनिक नहिं चित में धरै।
जे बिपत्ति हूँ मे पालि पूरब प्रीति काज सँवारहीं।
ते धन्य नर तुम सारिसे दुरलभ अहै संसय नहीं।

अनुवाद शुद्ध और ठीक अनुवाद नहीं है। अनुवाद में स्वामी के मरने की अवस्था को छोड़ दिया है और 'विपत्ति पड़ने पर भविष्य की आशा से साथ लगे

रहते हैं' (गच्छन्त्यनु तत्प्रतिष्ठाऽऽज्ञया) भी छोड़ दिया गया है। परिणामतः अनुवाद का भाव कुछ बदल गया है।

राक्षस —

(२) यत्रैषा मेघनीला चलति गजघटा राक्षस स्तत्र यायात्—
 देतत् पारिप्लवाम्भाप्लुति तुरगबलं वार्य्यतां राक्षसेन।
 पत्तीनां राक्षसोऽन्तं नयतु बलमिति प्रेषयन्मह्यमाज्ञा-
 मज्ञासीः स्नेहयोगात् स्थितमिह नगरे राक्षसानां सहस्रम्॥ (२-१४)

अनुवाद—

 हैं जहँ झुंड खड़े गज मेघ के अज्ञा करी तहाँ राक्षस जाय कै।
 त्यों ये तुरंग अनेकन है, तिनहूँ के प्रबन्धहिं राखी बनाय कै।
 पैदल ये सब तेरे भरोसे हैं काज करो तिनको चित लाय कै।
 यों कहि एक हमैं तुम मानत हो, निज काज हजार बनाय कै।

(भा० ग्रं० भाग १, पृ० १६४)

अनुवाद, शुद्ध अनुवाद नहीं है। मूल मे घुड़सेना को रोकने का आदेश है (तुरगबलं वार्य्यतां) किन्तु अनुवाद में "प्रबन्ध करवाया गया है" (तिनहूँ के प्रबंध राखी बनाय कै)। इसी प्रकार मूल की अन्तिम पंक्ति (अज्ञासीः स्नेह योगात् स्थितमिह नगरे राक्षसानां) का अनुवाद—निजकाज हजार बनाय कै— ठीक नहीं है।

(३) तीक्ष्णादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न सन्तिष्ठते।
 मूर्खान् द्वेष्टि, न गच्छति प्रणयितामत्यल्पविद्वत्स्वपि।
 शूरेभ्योऽप्यधिकं बिभेत्युपहसत्येकान्त भीरु न हो,।
 श्रीर्लब्धप्रसरे व वेशवनिता दु दोपचर्या मृगम्॥ (३-५)

अनुवाद—

 क्रूर सदा भाखत पियहि चंचल सहज सुभाव।
 नर गुन औगुन नहिं लखति सज्जन खल सम भाव।
 डरति सूर सों भीरु कहँ गिनति न कछु रति हीन।
 बार नारि अरु लच्छमी कहो कौन बस कीन॥

(भा० ग्रं०, पृ० १७५)

मूल का संस्कृत छन्द अत्यन्त स्पष्ट और मार्मिक है जिसमें लक्ष्मी और वार-वनिता की समानता भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में बतलाई गई है। मूल का अर्थ है— तेज से घबड़ाती है, कोमल के पास भी नहीं बैठती है, इस भय से कि वह अनादर पा सकता है, मूर्खों से द्वेष करती है, वह विद्वानों के पास भी प्रेमपूर्वक नहीं जाती है, पराक्रमियों से डरती है, डरपोकों का वह उपहास करती है। इस प्रकार लक्ष्मी प्राप्त वार-वनिता के सदृश बड़ी कठिनता से वश में आती है। अनुवाद में नाटककार ने आरम्भिक दो चरणों में और ही भाव रखा हैं।

अनुवाद—

जब लौं बिगारैं काज नहिं तब लौं न गुरु कछु तेहि कहै।
पै शिष्य जाइ कुराह तौ गुरु सीस अंकुस हवै रहै॥
तासों सदा गुरु वाक्य बस हम नित्य पर आधीन हैं।
निर्लोभ गुरु से सन्त जन ही जगत में स्वाधीन हैं॥

(भारतेन्दु ग्रंथावली, प्र० भा० पृ० १७५)

अनुवाद करने मे नाटककार ने सरलता, भाषा की प्रवृत्ति, सुबोधता, स्पष्टता और प्रवाह का बराबर ध्यान रक्खा है। पाटलीपुत्र का अनुवाद इसी कारण पटना कर दिया है, यद्यपि इससे देश-काल-दोष आ जाता है। एक स्थान पर पद्य (मूल ७-२) का अनुवाद गद्य मे किया है। अनुवाद करना प्राय: मूल पुस्तक लिखने से कठिन होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण 'मुद्राराक्षस' है। भारतेन्दुजी इस समय तक अनुवाद करने मे निपुणता पा चुके थे और यह अनुवाद बड़ा सफल अनुवाद है। तथापि अनुवाद मे थोडी-बहुत त्रुटियाँ भी रह गई हैं। हाँ, हैं वे अल्प ही। उदाहरण—

(१) नाटककार ने मूल के भाव या शब्द छोड दिए है। इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि नाटककार शाब्दिक अनुवाद इन स्थानों पर नहीं कर पाया है।

मूल —ऐश्वर्य्यादनपेतमीश्वरमय लोकोऽर्थत सेवते
त गच्छन्त्यनु ये विपत्तिपु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाऽऽशया
भर्त्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासगेन नि:सगया।
भक्तया कार्य्य धुरा वहन्ति कृतिनस्ते दुर्लभास्त्वादृशा:॥

(१-१४)

इसका अर्थ है—लोगों की प्रवृत्ति है कि अर्थेच्छा से धनवान् प्रभु की सेवा करते है। धनवान् प्रभु यदि विपत्ति मे पड जाता है तो वे लोग उस प्रभु को छोडते नही, वरन् उसका अनुगमन करते हैं। क्यों ? इस आशा से कि इसके दिन फिर कभी फिरेंगे। किन्तु स्वामी के मर जाने पर पहले उपकारो का ध्यान करके नि:स्वार्थ भाव से स्वामी के कार्यभार मे सहायता देने वाले आप-जैसे पुण्यात्मा पुरुष दुर्लभ ही है।

अनुवाद—

जब लौं रहे सुख राज को तब लौं सबै सेवा करैं।
पुनि राज बिगडे कौन स्वामी ? तनिक नहिं चित मे धरैं।
जे विपत्ति हूँ मे पालि पूरब प्रीति काज सँवारही।
ते धन्य नर तुम सारिखे दुरलभ अहै संसय नहीं।

अनुवाद शुद्ध और ठीक अनुवाद नही है। अनुवाद मे स्वामी के मरने की अवस्था को छोड दिया है और 'विपत्ति पड़ने पर भविष्य की आशा से साथ लगे

रहते हैं' (गच्छन्त्यनु तत्प्रतिष्ठाञ्छाया) भी छोड़ दिया गया है। परिणामतः अनुवाद का भाव कुछ बदल गया है।

राक्षसः—

(२) यत्रैषा मेघनीला चलति गजघटा राक्षस स्तत्र यायात्—
    दैतन् पारिप्लवाम्भाप्लुति तुरगबलं वार्यतां राक्षसेन।
    पत्तीनां राक्षसोऽन्तं नयतु बलमिति प्रेषयन्मह्यमाज्ञा-
    मज्ञासीः स्नेहयोगात् स्थितमिह नगरे राक्षसानां सहस्रम्॥ (२-१४)

अनुवाद—

    हैं जहँ झुंड खड़े गज मेघ के प्रज्ञा करी तहाँ राक्षस जाय कै।
    त्यों ये तुरंग अनेकन हैं, तिनहूँ के प्रबन्धहिं राखौ बनाय कै।
    पैदल ये सब तेरे भरोसे हैं काज करो तिनको चित लाय कै।
    यों कहि एक हमैं तुम मानत हो, निज काज हजार बनाय कैं।

(भा० ग्रं० भाग १, पृ० १६४)

अनुवाद, शुद्ध अनुवाद नहीं है। मूल में घुड़सेना को रोकने का आदेश है (तुरगबलं वार्यतां) किन्तु अनुवाद में "प्रबन्ध करवाया गया है" (तिनहूँ के प्रबंध राखौ बनाय कैं)। इसी प्रकार मूल की अन्तिम पंक्ति (अज्ञासीः स्नेह योगात् स्थितमिह नगरे राक्षसानां) का अनुवाद—निजकाज हजार बनाय कैं—ठीक नहीं है।

(३) तीक्ष्णादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न सन्तिष्ठते।
    मूर्खान् द्वेष्टि, न गच्छति प्रणयितामत्यन्तविद्वत्स्वपि।
    शूरेभ्योऽप्यधिकं बिभेत्युपहसत्येकान्त भीरुन हो,।
    श्रीर्लब्ध प्रसरे व वेशवनिता दु दोषचर्या भृशम्॥ (३-५)

अनुवाद—

    कूर सदा भाखत पियहिं चचल सहज सुभाव।
    नर गुन औगुन नहिं लखति सज्जन खल सम भाव।
    डरति सूर सों भीरु कहँ गिनति न कछु रति हीन।
    वार नारि अरु लच्छमी कहो कौन बस कीन॥

(भा० ग्रं०, पृ० १७५)

मूल का संस्कृत छन्द अत्यन्त स्पष्ट और मार्मिक है जिसमें लक्ष्मी और वार-वनिता की समानता भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में बतलाई गई है। मूल का अर्थ है— तेज से घबड़ाती है, कोमल के पास भी नहीं बैठती है, इस भय से कि वह अनादर पा सकता है, मूर्खों से द्वेष करती है, वह विद्वानों के पास भी प्रेमपूर्वक नहीं जाती है, पराक्रमियों से डरती है, डरपोकों का वह उपहास करती है। इस प्रकार लक्ष्मी प्राप्त वार-वनिता के सदृश बड़ी कठिनता से वश में आती है। अनुवाद में नाटककार ने आरम्भिक दो चरणों में और ही भाव रखा है।

तीसरे वाक्य का अनुवाद इस प्रकार हुआ है—

चन्द्र०—और विद्वान् लोग भी पढातढा करते हैं ? यह 'पढातढा' क्या बला है ? मूल में है "अविरत्यना भवन्ति" जो स्पष्ट है। अनुवाद स्पष्ट नही है।

(४) मम विमृशतः कार्यारम्भे विधेरविधेयता
सहजकुटिला कौटिल्यस्य प्रचिन्तयतो मतिम्।
अथच विहिते मत्कृत्यानां निकाममुपग्रहे।
कथमिदमिहेत्युन्निद्रस्य प्रयान्त्यनिशा निशाः ॥(४-२)

अनुवाद—

कारज उलटो होत है कुटिल नीति के जोर।
कासी जै सोचत यही जागि होय है भोर।

(भा० ग्रं०, पृ०१८६)

अनुवाद से यह पता नही चलता कि किसकी कुटिल नीति है जबकि यह बात मूल मे स्पष्ट है 'सहजकुटिला कौटिल्यस्य'। साथ ही 'विधेरविधेयता' 'भाग्य का दोष' अनुवाद मे कही नही है।

(५) श्लेषपरक छन्दों मे श्लेष नही आ पाया है। फलत ४-३ एवं ५-३ श्लोको का अर्थ ठीक नही माना जा सकता है। मूल के ४-३ में राक्षस अपने कार्य की समानता नाटककार की कला से करता है। इसमें उपक्षेप, बीज, गर्भ, विमर्श, इत्यादि शब्द नाट्यशास्त्र के है जो अनुवाद में नही आ पाए। इसी प्रकार ५-३ मे भी अनुवाद श्लेषमय न होने से शुद्ध नही है। अनुवाद मे केवल चाणक्य नीति का अर्थग्रहण हुआ है, नाटक की पंच सधियों का नही जो छन्द का प्रधान सौन्दर्य था।

(६) मूल—आवितोऽस्मि प्रिय शत्रोरभिनीय च दर्शित.
अनुभावयितु मन्ये यत्नः सम्प्रति मां विधे.॥ (६-१५)

अनुवाद—

मेरे बिनु अब जीति दल, शत्रु पाइ बल घोर।
मोहि सुनावत हेतु ही कीन्हों शब्द कठोर।

(भा० ग्रं० पृ० २२२),

अनुवाद मे 'विधे.' शब्द को छोड दिया गया है।

मूल मे पात्रो की भाषा मे अन्तर है और सस्कृत और प्राकृत का प्रयोग किया गया है किन्तु अनुवाद मे नाटककार ने एक ही भाषा रक्खी है। नाटक में वीररस प्रधान है। नाटककार ने परिशिष्ट या उपसहार मे गीत दिये हैं। इससे स्पष्ट है कि नाटककार नाटक मे गीतो की अनिवार्यता मान रहा है। भावी नाटको मे गीतों को अधिकाधिक स्थान मिला है।

सत्य हरिश्चन्द्र (१८७५)

सत्य हरिश्चन्द्र की पौराणिक गाथा हमारे देश में प्राचीन काल से प्रसिद्ध रही है। महाभारत मे यह विस्तार से कही गई है। पुराण-प्रसिद्ध इस कथा को आधार बनाकर संस्कृत में दो नाटक लिखे गए, (१) आर्य्य क्षेमीश्वर-कृत 'चंड कौशिक' एवं (२) रामचन्द्र-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटकम्।' भारतेन्दुजी ने अपने नाटक के उपक्रम मे केवल 'चण्ड कौशिक' की चर्चा की है। इससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने 'चण्ड कौशिक' नाटक देखा था, 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटकम्' नही। पं० रामचन्द्र शुक्ल अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में कहते हैं "सत्य हरिश्चन्द्र मौलिक समझा जाता है पर हमने एक पुराना बंगला नाटक देखा है जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है।"[1] दुःखद आश्चर्य है कि आचार्य शुक्ल न नाटक का नाम देते है, न नाटककार का और न उस बंगला नाटक का परिचय। डा० दशरथ ओझा का मत है कि सम्भवत: वह बंगला नाटक मनमोहन बोस-कृत 'हरिश्चन्द्र नाटक' है किन्तु वह भारतेन्दुजी के बाद बना था।[2] भारतेन्दुजी के समकालीन मराठी नाटककार अन्ना साहब किर्लोस्कर का भी हरिश्चन्द्र नाटक १८८० ई० का प्राप्त होता है। यह भी बाद ही का है। भारतेन्दु-युग में इस प्रकार हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती और उर्दू मे हरिश्चन्द्र नाटक बने। डा० दशरथ ओझा का मत है कि सम्भव है भारतेन्दुजी के नाटक की ख्याति ने ही गुजराती, मराठी एवं बंगला के नाटककारों को प्रेरणा दी हो एवं उन्होने सत्य हरिश्चन्द्र को 'रूपान्तरित' कर दिया हो[3] इसके पीछे कोई पुष्ट प्रमाण नही है। इतना अवश्य सिद्ध होता है कि भारतेन्दुजी ने स्वतन्त्र रूप से हरिश्चन्द्र नाटक लिखा था, हाँ, उनके सामने चण्ड कौशिक' अवश्य था जिसकी चर्चा उन्होने स्वयं की है। यदि वे बंगला नाटक से प्रभावित हुए होते या उसकी छाया को लेकर अपने नाटक का निर्माण करते तो 'विद्या-सुन्दर' के 'उपक्रम' की भाँति बंगला नाटक की ओर भी अवश्य संकेत कर देते क्योंकि भारतेन्दुजी में हृदय की स्पष्टता और ईमानदारी थी। क्या यह नाटक 'चंड कौशिक' का अनुवाद या छायानुवाद है? भारतेन्दुजी अपने उपक्रम में कहते हैं उन्ही (बालेश्वरप्रसाद) के इच्छानुसार मैंने यह सत्य हरिश्चन्द्र नाटक रूपक लिखा है एवं आगे पुनः लिखते है "आर्य क्षेमीश्वर कवि ने 'चंड कौशिक' नामक नाटक इन्ही हरिश्चन्द्र के चरित्र में बनाया है।" इन दोनों कथनो से कोई

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, २००२ वि०, पृ० ४००

२. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, प्र० सं० पृ० २१४

३. हिन्दी नाटक : उद्भव एवं विकास, पृ० २१५

स्पष्ट निष्कर्ष नही निकलता है। अतः दोनों नाटकों पर एक दृष्टि डालना प्रासंगिक होगा।

चंड कौशिक की कथा—

प्रथम अंक—राजा हरिश्चन्द्र विघ्न शांति के लिए गुरु-आज्ञा से रात्रि में जागरण करते है। रानी शैव्या उनकी लाल आँखें देख सौत-भावना से मान करती है किन्तु तापस 'शान्ति जल' लाता है। रानी शैव्या संतुष्ट हो जाती है और क्षमा माँगती है। राजा अपने मित्र विदूषक से कहते हैं कि अपने खिन्न हृदय का मनोरंजन कैसे करूँ? तभी बनचर आकर सूचना देता है कि एक विशाल वाराह देखा गया है। अतः राजा मृगयार्थ जाते हैं।

अक २—राजा वाराह के पीछे-पीछे कौशिक (विश्वामित्र) के तपोवन तक पहुँच जाते है। कौशिक तीन विद्याओं को अपने वश में करने के लिए तपस्या कर रहे थे। विघ्नराट उसमे विघ्न डाल रहा था। तीनों विद्याएँ स्त्री रूप मे जोर से आर्त्तनाद करती हैं। राजा स्त्री का चीत्कार सुनकर कौशिक के पास आकर स्त्रियों से कहते हैं कि न डरो, मैंने तुम्हे अभयदान दिया। तुरन्त ही कौशिक मुनि को देख कर कहते हैं—यह कौन शठ है जो मुनिवस्त्रों मे नारी-वध करना चाहता है। इसे इसकी दुर्मति का फल अभी मिलेगा। तीनों विद्याएँ राजा 'हरिश्चन्द्र की जय हो' ऐसा कह कर चली जाती हैं। विश्वामित्र, नेत्र लाल कर क्रोध प्रकट करते हैं, और कहते है—अरे मूढ़, कौशिक के क्रोध का फल पायेगा। राजा पैरो पर गिर कर क्षमा माँगते हैं और कहते हैं कि आप संतुष्ट हों। मैं क्षत्रिय हूँ और मेरा धर्म है, दान देना और रक्षा करना। विश्वमित्र ने कहा—तू क्या दे सकता है? राजा ने उत्तर दिया—सारी पृथ्वी। विश्वामित्र कहते हैं, अच्छा ग्रहण की, अब इसकी दक्षिणा एक लक्ष स्वर्ण-मुद्रा और दे। ये स्वर्ण-मुद्रा तेरी पृथ्वी से बाहर की होनी चाहिए। राजा कहते हैं—काशी, पृथ्वी से बाहर है। वहाँ से धन प्राप्त करूँगा।

अंक ३—प्रवेशक से ज्ञात होता है कि स्त्री-पुत्र सहित विश्वामित्र काशी आ गए हैं। राजा अकेले आते हैं। शैव्या एवं बालक कुछ दूर पीछे थकावट मिटाते रह गए है। राजा 'वाराणसी' का वर्णन करते है। फिर कहते हैं—कोई मुझे खरीद लो। इसी समय शैव्या आकर कहती है—नही, पहले मैं बिकूँगी। फिर पुकारती है—कोई मुझे खरीद लो। बच्चा भी अनुकरण कर कहता है—मुझे भी खरीद लो। एक उपाध्याय आधी लाख स्वर्ण-मुद्रा मे शैव्या को दासी रूप मे खरीद लेता है। शैव्या कहती है कि परपुरुष स्पर्श एवं उच्छिष्ट भोजन को छोड़कर शेष सब सेवा करूँगी। उपाध्याय अपने शिष्य कौडिन्य को आज्ञा देकर जाता है कि दासी को घर ले जा। राजा-रानी दुःख प्रकट करते हुए कुछ सभाषण करते है। बटुक कौंडिन्य शीघ्रता करता है और जब बालक माँ का आंचल पकड़ता है तो उसे धक्का दे देता है। हरिश्चन्द्र शिष्य से क्षमा माँगता

है एवं शैव्या तथा बालक को शिष्य के साथ भेज देता है।

कौशिक आकर क्रोध प्रकट करते हैं कि अभी तक दक्षिणा नही दी। वे आधी दक्षिणा स्वीकार नही करते। तभी धर्म एक चाण्डाल का वेष बनाकर राजा को खरीदने की इच्छा प्रकट करता है। हरिश्चन्द्र कौशिक से कहते हैं कि मैं आपकी सेवा करूंगा, आपका दास बनूंगा और आपकी आज्ञा पालूंगा। किन्तु मुझे इन दुर्गति से बचाइये। कौशिक (विश्वामित्र) कहते हैं—अच्छा तू ने कहा है कि आपकी आज्ञा मानूंगा। सो मेरी आज्ञा है कि तू इस चाडाल का दास बन। कौशिक आधी लाख मुद्रा चांडाल से लेते हैं। चाण्डाल राजा से कहता है—तू मेरा सेवक है। मेरी आज्ञा है कि श्मशान में खड़े होकर वहाँ जलने के लिए आने वाले शवों से कफन वसूल कर।

अंक ४—दो चाण्डालों के साथ राजा दिखाई पडता है। वे उसे श्मशान मे ले जाते है। राजा श्मशान को देखते हैं और उसका वर्णन करते हैं। श्मशान वर्णन बड़ा सुन्दर और वास्तविक है। दोनों चाण्डाल राजा को श्मशान मे छोड़कर चले जाते हैं। राजा पुनः कई श्लोकों में श्मशान वर्णन करते हैं। यह वर्णन वीभत्स रस का प्रभविष्णु उदाहरण है। श्मशान मे तीनों विद्याएँ राजा के पास आकर कहती हैं कि हमें अंगीकार कीजिए। राजा हरिश्चन्द्र कहते है यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो कौशिक के पास जाइये। कापालिक आकर कहता है, मुझे सिद्धि प्राप्त हुई है। मैं रसेंद्र तुम्हें देता हूँ। राजा कहता है—मेरे स्वामी चाण्डाल को दे दीजिए। कापालिक राजा की प्रशंसा करता हुआ चला जाता है।

अंक ५—श्मशान मे खड़ा राजा अपने जीवन पर विचार कर रहा है। यह स्थल बड़ा सुन्दर है। तभी बायाँ नेत्र एवं दाहिनी भुजा फड़कती है। शैव्या मृत पुत्र को लेकर आती है एवं बड़ा विलाप करती है। राजा दुखी होता है कि इस दुखिया का पुत्र मर गया है। सहसा शैव्या कहती है—अरे कौशिक आज तेरी इच्छा पूर्ण हुई है। और यह कहकर रानी मूर्च्छित हो जाती है। इस प्रकार नाटककार राजा को अपने भाव प्रकट करने का अवसर देता है। राजा हरिश्चन्द्र पत्नी एवं पुत्र को देखकर अत्यन्त दुःख प्रकट करते हैं। वे दो बार मूर्च्छित भी होते हैं। इस लम्बे एकान्त कथन में अन्तर्द्वन्द्व, आवेग एवं करुणा का सुन्दर मिश्रण हुआ है। राजा, रानी से जाकर कफन माँगते हैं। रानी मृत पुत्र का कफन खींचती है। वह कफन देते समय हरिश्चन्द्र के हाथ मे चक्रवर्ती लक्षण देखकर पहचान जाती है और, 'आर्य पुत्र, रक्षा करो, रक्षा करो,' कहकर चरणों पर गिरती है। हरिश्चन्द्र दूर हट कर कहते हैं कि मुझे न छुओ, मैं चांडाल हूँ। रानी कहती है—यह क्या आर्य्य ! राजा कहते हैं—कर्मफल है। देवता पुष्प-वृष्टि करते हैं। धर्म आकर आश्वस्त करता है कि मैं ही

चाडाल बना था । वह रोहिताश्व को जिला देता है । रोहिताश्व का अभिषेक होता है ।

भारतेन्दुजी के नाटक सत्य हरिश्चन्द्र की कथा

अंक १—इन्द्र की सभा मे नारद हरिश्चन्द्र के दान एव सत्य की प्रशंसा करता है । इन्द्र जलभुनता है । वह नारद से कहता है—बिना परीक्षा के कैसे पता चले कि वह सच्चा है । नारद समझाते हैं कि बडो को छोटी बातें नही सोचनी चाहिए । विश्वामित्र आते हैं । इन्द्र उनसे हरिश्चन्द्र के सत्य की चर्चा करता है । विश्वामित्र कहते हैं कि मैं परीक्षा लूंगा ।

अंक २—शैव्या एक स्वप्न से दुखी है । उसने स्वप्न में अपने पति एवं पुत्र की दुर्दशा देखी है । गुरू से अभिमन्त्रित जल मँगाया जाता है एवं रोहिताश्व के हाथ मे रक्षा-सूत्र बांधा जाता है, राजा हरिश्चन्द्र आते हैं । रानी से पूछते हैं कि उदास क्यो हो ? रानी अपने स्वप्न की बात बताती है । राजा कहते हैं कि हमने भी एक स्वप्न देखा है जिसमे एक क्रोधी ब्राह्मण विद्याओं को खीच रहा था । मैंने उन विद्या रूपी स्त्रियो को बचाने का प्रयास किया तो वह मुझी मे रुष्ट हो गया है । मैंने उसे सारा राज्य दे दिया । जब मैंने स्वप्न मे राज्य दे दिया तो मेरा उस पर अब कोई अधिकार नही है । राजा मत्री को आज्ञा देता है कि नगर मे घोषणा करा दो कि 'आज से अज्ञातनाम ब्राह्मण राजा है, हरिश्चन्द्र नही ।'

तभी विश्वामित्र लाल नेत्र किये आते है और कहते हैं कि अरे स्वप्न मे तूने मुझे राज्य दान मे दिया था, वह अब दे । उस दान की दस सहस्र स्वर्ण-मुद्रा दक्षिणा भी दे । राजा जब मत्री को स्वर्ण-मुद्रा लाने की आज्ञा देते हैं तो क्रुद्ध हो कर विश्वामित्र कहते हैं कि अब राज्य-कोष पर तेरा क्या अधिकार है ? राजा कहते हैं कि मैं अपने शरीर से आपकी दक्षिणा चुकाऊँगा, एक मास का समय दे दीजिये ।

अंक ३—अंकावतार में पाप घबडाता आता है कि काशी में मेरी कुछ नही चलती, तभी भैरव, आकर कहता है कि मुझे महादेव की आज्ञा हुई है कि जाकर राजा हरिश्चन्द्र की रक्षा करो । तृतीय अंक में राजा काशी पहुँच गये है और काशी और गगा का वर्णन करते है । विश्वामित्र आकर दक्षिणा माँगते हैं । राजा पुकारकर कहते हैं कि नगरवासियो, मुझे खरीद लो । तभी शैव्या आकर कहती है कि पहले मैं बिकूंगी । वह पुकारकर कहती है कि नागरिको, कोई मुझे खरीद लो । बालक भी वैसा ही कहता है । एक उपाध्याय शैव्या को पांच सहस्र स्वर्ण-मुद्रा में खरीद लेता है । वह अपने शिष्य कौडिन्य से कहता है कि तू दासी को लेकर घर जा । बालक रोहिताश्व जाती हुई माँ का आचल पकडता है । वटुक बालक को धक्का देकर गिरा देता है । बाद मे कौडिन्य रानी एवं बालक को लेकर जाता है । राजा पुन. पुकारते हैं कि कोई मुझे खरीद लो ।

धर्म, चाण्डाल रूप में आकर पांच सहस्र मुद्रा में राजा को खरीद लेता है। विश्वामित्र आकर अपनी दस सहस्र मुद्राएँ ले लेते हैं एवं राजा को विलम्ब के लिए क्षमा प्रदान करते हैं।

अंक ४—राजा हरिश्चन्द्र श्मशान का वर्णन करते हैं, अपने भाग्य पर विचार करते हैं। भगवती भैरवी को प्रणाम करते है। भैरवी आशीर्वाद देती है। भूत-पिशाच आकर नाचते एवं गाते है। धर्म, कापालिक के वेष में आकर राजा से कहता है कि हम सिद्धि के लिए साधन करते हैं, तू हमारे विघ्नों को दूर रख। राजा वैसा ही करता है। इसी समय विद्याए आकर कहती है कि महाराज, हमें ग्रहण कीजिये। राजा उन्हें विश्वामित्र के पास भेज देते है। तभी कापालिक आकर कहता है कि मैंने सिद्धि प्राप्त करली है, आप सिद्धि द्वारा प्राप्त रसेन्द्र को ग्रहण कीजिए। इससे आपको अपार धन मिलेगा। राजा कहते हैं कि मेरे स्वामी चाण्डाल को दे दीजिये। कापालिक राजा को प्रशंसा करके चला जाता है। इसके पश्चात् आकाश से महासिद्धि, नवनिधि एवं बारहों प्रयोग इत्यादि देवता आकर कहते हैं कि महाराज आप हमें ग्रहण कीजिए। राजा प्रार्थना करते हैं कि सिद्धि योगियों के, निधि सज्जनों के पास एवं प्रयोग साधकों के पास चले जाएँ। सूर्य नेपथ्य मे सावधान करते है कि अंतिम परीक्षा निकट है। शैव्या सांप-डसे मृत पुत्र को लाती है। वह खूब रोती और बेहाल होती है। राजा पुत्र को पहचान कर कलपते और रोते है। शैव्या मरने के लिये प्रयास करती है तो नेपथ्य से राजा उसे वर्जित करते है। राजा जब आधा कफन मांगते है तो अंतरिक्ष मे देवता प्रशंसा करते हैं। रानी पहचान कर कहती है कि देखिए आपके पुत्र की क्या दशा है। तब भी राजा कफन मांगते हैं। रानी जैसे ही फाड़ कर देना चाहती है भगवान् नारायण आते हैं। भगवान् रोहिताश्व को जिला देते है। महादेव, पार्वती, भैरव, धर्म, सत्य, इन्द्र एवं विश्वामित्र भी आते हैं। विश्वामित्र एवं इंद्र राजा से क्षमा मांगते हैं। महादेव एवं पार्वती राजा रानी को आशीर्वाद देते हैं। भगवान् राजा हरिश्चन्द्र को वरदान देते हैं।

तुलना

विद्वानों ने इस पर मतभेद प्रकट किया है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक मौलिक रचना है अथवा अनूदित (रूपान्तरित)। डा० सोमनाथ[1] एवं डा० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल[2] ने इसे रूपान्तरित रचना स्वीकारा है तो बाबू श्याम सुन्दरदास इसे मौलिक कृति मानते हैं।[3] डा० दशरथ ओझा का मत है कि

---

१. हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, पृ० ४८

२. भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य, पृ० १६३

३. भारतेन्दु नाटकावली की प्रस्तावना, पृ० ५३

(ख) नारद—उसकी बड़ाई का यह भी तो एक बड़ा प्रमाण है कि आप ऐसे लोग उससे बुरा मानते हैं। क्योंकि जिससे बड़े-बड़े लोग डाह करें, पर उसका कुछ बिगाड़ न सकें, वह निस्सन्देह बहुत बड़ा मनुष्य है।

(ग) नारद—जिसका भीतर-बाहर एकसा हो, और विद्यानुरागिता, उपकारप्रियता आदि गुण जिसमें सहज हों, अधिकार में क्षमा, विपत्ति में धैर्य, संपत्ति में अनभिमान और युद्ध में जिसकी स्थिरता है, वह ईश्वर की सृष्टि का रत्न है।

(घ) नारद—और इन गुणों पर ईश्वर की निश्चला भक्ति उसमें ऐसी है जो सबका भूषण है।

(ङ) नारद—कैसी भी विपत्ति या संकट पड़े और कैसी ही हानि या लाभ हो पर न्याय न छोड़े, वही धीर और वही राजा।

(च) नारद—फिर भला जिनके शुद्ध हृदय और सहज व्यवहार हैं वे क्या यश या स्वर्ग की लालच से धर्म करते हैं।

(छ) नारद—ईश्वर ने आपको बड़ा किया है, तो आपको दूसरों की उन्नति और उत्तमता पर संतोष करना चाहिए। ईर्षा करना तो छुद्राशयों का काम है। महाशय वही है जो दूसरों की बड़ाई से अपनी बड़ाई समझे।

(ज) नारद—अहा! बड़ा पद मिलने से कोई बड़ा नहीं होता। बड़ा वही है जिसका चित्त बड़ा है। अधिकार तो बड़ा है, पर चित्त में सदा क्षुद्र और नीच बातें सूझा करती है, वह आदर के योग्य नहीं है।

(झ) नारद—इतना निश्चय रहे कि सज्जन को दुर्जन लोग कष्ट देते हैं, उतनी ही उसकी सत्य कीर्ति तपाए सोने की भांति और चमकती है।... अधिकार पाकर कष्ट देना यह बड़ों की शोभा नहीं, सुख देना शोभा है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतेन्दुजी ने अपनी हार्दिक भावना को व्यक्त करने के ही लिए यह अंक लिखा है। यही मौलिकता कही जा सकती है।

इस अंक निर्माण का दूसरा उद्देश्य था कि तत्कालीन पारसी रंगमंच की शौकीन जनता भी इससे संतुष्ट हो जाय। यह 'इन्द्रसभा' नाटक की ख्याति का प्रभाव है। पारसी रंगमंच ने इन्द्रसभा शैली को आत्मसात कर लिया था। इन्द्र सभा शैली बहुत लोकप्रिय हो गई थी। नाटकों में इन्द्रसभा लाना उस युग में एक लोकप्रिय दृश्य माना जाता था, यही कारण है कि भारतेन्दु-युग के कई नाटकों में 'इन्द्रसभा' का दृश्य देखा जाता है। नजीरबेग के हरिश्चन्द्र नाटक, रामभजन मिश्र स्वतन्त्र के हरिश्चन्द्र नाटक, हाफिज मुहम्मद अब्दुल्ला के शकुन्तला नाटक एवं रामभजन मिश्र स्वतंत्र के प्रह्लाद नाटक में इन्द्र की सभा जुड़ती है। हाँ, इन इन्द्रसभाओं में गाना-बजाना होता है जो भारतेन्दुजी ने नहीं रक्खा है। परन्तु इन्द्रसभा दृश्य की लोकप्रियता का अनुमान तो हो ही जाता है।

तीसरा उद्देश्य विश्वामित्र के दोष को बढ़ाकर चित्रित करना भी है। इस दृश्य के द्वारा नाटककार स्पष्ट करता है कि विश्वामित्र ने उकसाने पर ही राजा हरिश्चन्द्र को कष्ट दिया। 'चण्ड कौशिक' मे राजा हरिश्चन्द्र अपराध करता है अत. उस पर विश्वामित्र क्रोध करते हैं। यहाँ दूसरे के उकसाने पर ही विश्वामित्र राजा हरिश्चन्द्र के शत्रु बनते है। अंग्रेज़ जिलाधीश भी उकसाने पर भारतेन्दु के विरोधी बन गये थे।

'चंड कौशिक' के दूसरे अंक और 'सत्य हरिश्चन्द्र' के दूसरे अंक में समानताएँ एवं भिन्नताएँ दोनों हैं। समानताएँ ये हैं (१) सत्य हरिश्चन्द्र के दूसरे अक मे शिष्य मंत्रपूत जल एवं रक्षाबंधन लाता है। यह कार्य चंड कौशिक के प्रथम अंक मे हुआ है (२) विश्वामित्र राजा हरिश्चन्द्र से राज्य लेकर दक्षिणा माँगते हैं। दोनों में राजा अपने कोष से मंत्री को देने के लिए कहते हैं। दोनों मे विश्वामित्र कहते है कि राज्य तो मेरा हो चुका, तू कहाँ से दक्षिणा देगा। इस पर दोनों मे राजा कहते है कि काशी, त्रिश्व से बाहर है। मैं वहाँ से दूँगा। (३) चंड कौशिक के २-२४ एवं २-२५वें श्लोक 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे उद्धृत किये गए हैं।

भिन्नताएँ—(१)'चंडकौशिक' मे राजा वाराह के पीछे विश्वामित्र के तपोवन मे पहुँचते हैं। वहाँ स्त्रियों का आर्त्तनाद सुनकर विश्वामित्र के पास जा पहुँचते हैं। वहाँ देखते हैं कि एक मुनि तीन स्त्रियों को कष्ट दे रहा है। राजा स्त्रियों को छुड़ा देते हैं एवं मुनि को न पहचान कर डाँटते है। विश्वामित्र को पहचान कर राज्य दान करते हैं। विश्वामित्र एक लाख स्वर्ण-मुद्रा दक्षिणा माँगते हैं। राजा काशी जाने को कहते है। यह घटना प्रत्यक्ष रूप मे घटित होती है। राजा ने अपराध किया है। उसने विश्वामित्र की विद्याओं को भगाया। साथ ही उसने विश्वामित्र को कठोर शब्द भी कहे। अत. विश्वामित्र का क्रोध स्वाभाविक था। दान की परिस्थिति का तार्किक वातावरण बनाया गया है। राजा कहता है—युद्ध, रक्षा और दान क्षत्रियों का धर्म है। (२-२६)

विश्वामित्र बोले—तो मेरे योग्य दान दे।

राजा ने कहा—मैं सर्वस्व दे सकता हूँ, समस्त पृथ्वी भी।

विश्वामित्र बोले—ठीक है, पृथ्वी तूने दान कर दी,

अच्छा इसकी दक्षिणा भी दे।

'सत्य हरिश्चन्द्र' मे रानी ने दु.स्वप्न देखा है। वह बड़ी खिन्न है। राजा हरिश्चन्द्र आकर उदासी का कारण पूछते है। रानी कहती है कि बुरा स्वप्न देखा है। तब राजा कहते हैं—तुम वीरकन्या, वीरपत्नी और वीरमाता हो। तब दु स्वप्न से चिंता क्यों? फिर अपना स्वप्न सुनाते हैं "मैंने यह देखा है कि कोई क्रोधी ब्राह्मण विद्या साधन करने को सब दिव्य महा-विद्याओं को खींचता है और जब मैं स्त्री जानकर उनको बचाने गया हूँ तो वह मुझी से रुष्ट हो

गया है और फिर जब बड़े विनय से मैंने उसे मनाया है तो उसने मुझ से मेरा सारा राज्य माँगा है, मैंने उसे प्रसन्न करने को अपना सब राज्य दे दिया। राजा मंत्री को आज्ञा देता है कि मुनादी करा दे कि आज से मेरे स्थान पर अज्ञातनाम ब्राह्मण राजा है। नाटककार ने अपने नायक की सत्यवादिता का बड़ा उत्कर्ष यहाँ दिखाया है। स्वप्न में भी दिये राज्य को वह जागने पर दान कर देता है। ऋषि विश्वामित्र तभी आकर कहते हैं कि स्वप्न में दिये राज्य को ला। राजा दे देते है। राजा की सत्यवादिता यहाँ चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है। इस प्रकार नाटककार ने मानव को देवत्व के आसन पर बिठा दिया है। राजा स्वप्न में दिये वचन को सत्य कर दिखाते हैं। आदर्श की दृष्टि से यहाँ राजा हरिश्चन्द्र के चरित्र मे चार चाँद लग गए हैं। किन्तु स्वाभाविकता जाती रही है। (१) रानी के स्वप्न पर तो राजा ने रानी की हँसी उड़ाई किन्तु स्वयं स्वप्न को सत्य मान 'अज्ञातनाम ब्राह्मण' को राज्य देने की घोषणा करता है।

(२) विद्याओं रूपी स्त्रियों को बचाने मे स्वप्न मे विश्वामित्र रुष्ट हो गए और राज्य माँग बैठे। राज्य माँगने एवं देने की समुचित पृष्ठभूमि नहीं बन पाई है।

(३) विश्वामित्र आकर कहते है कि स्वप्न मे मैंने राज्य माँगा था और राजा पहचान कर राज्य दे देते हैं। प्रथम तो स्वप्न का परिचय बहुत क्षीण एवं सूक्ष्म होता है। फिर विश्वामित्र को कैसे ज्ञान हुआ कि मैंने स्वप्न मे राज्य माँगा था। जब यह लिखा है तो यह भी नाटककार को लिखना था कि स्वप्न भी विश्वामित्र ने पैदा किया था।

दूसरी भिन्नता है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे विश्वामित्र एक लाख के स्थान पर दस सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ दक्षिणा मे माँगते हैं। नाटककार ने यह अन्तर क्यों किया इसका कुछ पता नही चलता।

तीसरी भिन्नता है कि दूसरे अंक के अन्त मे भारतेन्दुजी आकाश से फूलों की वृष्टि और बाजे के साथ 'जय-जय' की ध्वनि कराते हैं। यह अन्तर तत्कालीन रंगमंच की दृष्टि से किया गया है।

तीसरे अंक के आरम्भ में 'चंड कौशिक' में एक प्रवेशक है जिसमें पाप और भृंगी आकर कुछ कथन करते है। भारतेन्दुजी ने तीसरे अंक के आरम्भ में इसका नाम 'अंकावतार' रखा है। इसमें भी पाप एवं भैरव (भृंगी के स्थान में) आकर लगभग वे ही बातें कहते हैं जो 'चण्ड कौशिक' में हैं। केवल 'पाप' के कथन को दूसरे अंक की दृष्टि मे रखकर बढ़ाया गया है। भैरव का कथन तो बिलकुल वही है जो चंड कौशिक में भृंगी का है। चंड कौशिक के श्लोक का अनुवाद भारतेन्दुजी ने गद्य में करके भैरव के मुख मे रख दिया है।

भारतेन्दुजी ने न जाने क्यों 'प्रवेशक' का नाम अंकावतार दिया है।

'चन्द्रावली' में भी यही किया है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार अंकावतार अंक के आरम्भ में नहीं आता है।[1] इस थोड़े से अन्तर को छोड़ कर दोनों नाटकों के पात्रों में अन्तर नहीं है और न पात्रों के कथनों में बहुत अधिक भिन्नता है।

अनुवाद

भारतेन्दुजी ने 'चंड कौशिक' के तीसरे, चौथे तथा पाँचवें अंकों को अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के तीसरे और चौथे अंकों में समाहित किया है और अधिकांशतः अनुवाद रूप में रखा है। यह अनुवाद कई रूपों में प्राप्त होता है—

(१) छन्दों का अनुवाद गद्य में हुआ है। 'चंड कौशिक' के तीसरे अंक के छन्दों १६, १८, १६, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २६, ३०, ३१, ३४, चौथे अंक के छन्दों २, ४, ५, ६, ८, १०, १३, १४, १८, १६, २०, २१, ३० ३३ एवं पाँचवें अंक के छन्दों ३, ७, १६ का अनुवाद गद्यात्मक रूप लिये हुए है। अनुवाद में कहीं-कहीं कुछ साधारण-सा परिवर्तन भी किया गया है।

उदाहरण—

'चंड कौशिक' में विश्वामित्र विश्वदेवताओं को श्राप देते हुए कहते हैं—

पञ्चानामपि वो जन्म क्षत्रयोनी भविष्यति तत्रापि ब्राह्मणो द्रौणिः कुमारान् वो हनिष्यति॥

सत्य हरिश्चन्द्र में इसका गद्यात्मक अनुवाद यह है—

तुम अभी विमान से गिरो और क्षत्रिय के कुल में तुम्हारा जन्म हो और वहाँ भी लड़कपन ही में ब्राह्मण के हाथ मारे जाओ।

भारतेन्दुजी ने 'द्रौणि' शब्द छोड़ दिया है जो बहुत महत्वपूर्ण था। अनुवाद का एक और उदाहरण देखिये। उपाध्याय, हरिश्चन्द्र को देखकर कहता है—वृषस्कन्ध मन द्विरदवर पीनायत भुज वपुर्व्यूढोरस्क तनु भुवन रक्षा क्षममिदम् तृणं मौलौ चूडामणि ममुहिते किंविदमहोतरं वामारम्भः कमिव न विधाता प्रहरति। (३-२२)

अनुवाद—अरे यह विशाल नेत्र, प्रशस्त वक्षस्थल और संसार की रक्षा करने योग्य लम्बी-लम्बी भुजा वाला कौन मनुष्य है, और मुकुट के योग्य सिर पर तृण क्यों रखा है।

(१) 'चंड कौशिक' के गद्यस्थलों का पद्यात्मक अनुवाद हुआ है। एक उदाहरण देखिए।

धर्मः—(संस्कृत) अरे, दक्षिणश्मशानं गत्वा मृतक चीरहारकेण भूत्वा अहोरात्रं जागरितव्यम्॥

---

१. दशरूपक १-६२

अनु०—धर्म—

जावो अभी दक्खिनी मसान। लेव वहाँ कफ्फन को दान।

जो कर तुमको नहीं चुकावे। सो किरिया करने नहिं पावे॥

भारतेन्दुजी के अनुवाद की सुघडता का पता निम्न उदाहरण से लगेगा। भारतेन्दु अनुवाद को जोड़-तोड कर अपना व्यक्तित्व प्रदान कर देते हैं। धर्म कहता है (संस्कृत) सर्वश्मानाधिपतिर्गुल्मस्थानाधियाना प्रत्ययित·

वध्यस्थाननियुक्तश्चण्डाल—महत्तर खल्वहम्॥ (३-३३)

हिन्दी रूपान्तर—

हम चौधरी डोम सरदार। अमल हमारा दोनो पार।

सब मसान पर हमरा राज। कफन माँगने का है काज॥

इससे आगे अपनी ओर से कुछ बढा देते है—

फूलमती देवी के दास। पूजैं सती मसान निवास।

धनतेरस औ रात दिवाली। बलि चढाय के पूजें काली॥

(३) गद्य के स्थान पर गद्य और पद्य के स्थान पर पद्य रखकर भी अनुवाद हुआ है। एक बात ध्यान रखने की है कि अनुवाद होते हुए भी भारतेन्दुजी भाव को बढाते-घटाते है। अन्य अनूदित नाटको मे भी यह प्रवृत्ति प्राप्त होती है 'कर्पूर मजरी' तो शुद्ध अनूदित नाटक है, उसमे भी ऐसा ही किया गया है। सत्य हरिश्चन्द्र के कुछ उदाहरण देखिए—

(क) भारतेन्दुजी के श्मशान वर्णन की बडी प्रशसा की गई है और इस वर्णन को मौलिक माना गया है। किन्तु यह 'चण्ड कौशिक' का अनुवाद है, हाँ तराशा हुआ।

उदाहरण—

भारतेन्दुजी का वर्णन है—

हाय हाय, कैसा भयकर श्मशान है! दूर से मडल बांध-बांध कर चोच बाए, डैना फैलाए, कगालो की तरह मुर्दो पर गिद्ध कैसे गिरते हैं और कैसा मांस नोच-नोच कर आपस मे लडते और चिल्लाते हैं। इधर अत्यन्त कर्ण-कटु अमगल के नगाडे की भाँति एक के शब्द की लाग से दूसरे सियार कैसे रोते हैं। उधर चिर्राइन फैलाती हुई चट-चट करती चिताएँ कैसी जल रही है, जिनमे कही से मास के टुकडे उडते है, कही लोहू वा चरबी बहती है। आग का रग मास के सम्बन्ध से नीला-पीला हो रहा है, ज्वाला घूम-घूम कर निकलती है, कभी एक साथ धधक उठती है, कभी मद हो जाती है। धुआँ चारो ओर छा रहा है। (आगे देखकर आदर से) अहा! यह बीभत्स व्यापार भी बडाई के योग्य है। शव! तुम धन्य हो कि इन पशुओ के इतने काम आते हो, अतएव कहा है—

मरनो भलो विदेस को, जहाँ न अपुनो कोय।
माटी खाँय जनावराँ, महा महोच्छव होय॥

अहा देखो!

सिर पै बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनंद उर धारत।
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि के मास उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि कै खात विचारत।
बहु चील नोचि लै जात तुच मोद मढ्यो सबको हियो।
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आजु भिखारिन कहँ दियो।

अहा, शरीर भी कैसी निस्सार वस्तु है!

सोई मुख सोई उदर, सोई कर पद दोय,
भयो आजु कछु और ही, परसत जेहि नहिं कोय।
हाड़ मास लाला रकत, बसा तुचा सब सोय।
छिन्न भिन्न दुर्गन्धमय, मरे मनुस के होय।
कादर जेहि लखि कै डरत, पंडित पावत लाज।
अहा! व्यर्थ संसार को, विषय-वासना साज॥

(सत्य हरिश्चन्द्र)

'चण्ड कौशिक' में हरिश्चन्द्र—

अहो! बीभत्स रौद्रता श्मशानस्य। तथाहि-
इमा मूर्च्छन्त्यन्तः प्रतिरवभृत कर्णकटवः
शिवा क्रूराक्रन्दरासिव—पट हाडम्बर—रवा.।
ज्वलन्त्येते ताप स्फुटित—नृकरोटी—पुरदरी—
लसन्मस्तिष्काक्ता स्तिमित जटिलाग्रा हुत भुज.। (४-८)
अग्रतोऽवलोक्य सश्लाघम्) अहो!
बीभत्समपि स्पृहणीयमिद वर्तते। कुणप!
सर्वस्व ग्राहिमि. प्रणयिमिश्च श्वापद गणै—
यथेष्टमुपभुज्य मानो धन्यस्त्वमसि। तथा हि—
मिनत्यक्षणोर्मुद्रा शिरसि चरणौ न्यस्य करटः
शिवा सृक्कोपान्ते भ्रमति रसनाग्रं विलुठितम्
छिनत्ति श्वा मूढ प्रथयति च गृध्रोऽत्र विवर
यथेष्ट व्यापारास्त्वयिकुणप यच्छ्वापद गणा. (४-९)
अहो नि सारता शरीराणाम्—
तन्मध्यं तदुरस्तदेव वदनं ते लोचने ते भुवौ
जातं सर्वमेध्य-शोणित-वसा-मासास्थि लालामयम्

भीरूणां भयदं श्रयाम्पद मिदं विद्याविनीनाम्मना
तन्मूर्द्धः विगते वृथा विवधिमि धूतोऽभिमान यह ।। (४-१०)
(चंड कौशिक)

इससे आगे भारतेन्दुजी ने अपनी एक लम्बी कविता "सोई मुत जेहि चन्द बखान्यो" जोड़ी है। इसके बाद पुनः 'चण्ड कौशिक' के श्लोकों एवं गद्य का रूपान्तर करके श्मशान का वर्णन किया गया है। आगे के पूरे श्मशान वर्णन में तीन कविताएँ (१ सूरजकुल बिना की चिता २ हैं भूत प्रेत हम घोर ३ चपला की चमक) भारतेन्दुजी की अपनी हैं। नहीं तो, 'चण्ड कौशिक' के वर्णन को उठाया है।

(ग) सवादात्मक अनुवाद देखिये—

शैव्या—(आकाशेकर्णं दत्वा) (नस्कृत में)आर्य्याः किं भणत ! कीदृशोन्ते समय इति। परपुरुष पर्युपासनपरोच्छिष्ट भोजनं परिहृत्य सर्वकर्मकारिणीति ईदृशो मे समय। किं भणत ? कम्चाम् अनेन समयेन क्रयणीति ? तत् गच्छत, प्रसीदत, किं युष्माकम् अनेन प्रयोजनम् द्विजवरो दीन जनानुकम्पी अन्यो वा कोऽपि साधुर्मां क्रेष्यति।

(तत्र प्रविशति उपाध्यायो वटुश्च)

उपा०—वत्स कौण्डिन्य ! सत्य मेवापणे दासी विक्रीयते ?

वटु०—किमलीकमुपाध्यायो विज्ञाप्यते ? (संस्कृत)

उपा०—(दृष्ट्वा साश्चर्यम्) कथमिय सा ? भवति। कीदृशस्ते समयः ?

शैव्या (संस्कृत रूपान्तर) परपुरुष पर्य्युपासन परोच्छिष्टभोजनं परिहृत्य सर्वं कर्म कारिणीति।

उपा०—(सहर्षं) सुष्ठु सत्वयन्ते समय।
तदमुनैव समयेनास्मद्गृहे विश्रम्यताम्।
पत्नी ममाग्नि परिचर्य्यापराधीनतया न।
सम्यक गृहवेशा क्षमा। तत् गृह्यता सुवर्णम्।

शैव्या (सहर्षम्) संस्कृत रूपान्तर) अनुगृहीताऽस्मि
यदार्य्य. आज्ञापयतिइति। (चण्ड कौशिक, तृतीयोऽङ्क)

शैव्या—(ऊपर देखकर) क्या कहा ? 'क्या क्या करोगी' ? पर-पुरुष से संभाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़ कर और सब सेवा करूँगी। (ऊपर देखकर) क्या कहा ? इतने मोल पर कौन लेगा ? आर्य ! कोई साधु ब्राह्मण महात्मा कृपा करके ले ही लेंगे।

(उपाध्याय और वटुक आते हैं)

उपा०—क्यो रे कौडिन्य, सच ही दासी बिकती है ?

वटु०—हाँ गुरुजी, क्या मैं झूंठ कहूँगा ? आप ही देख लीजिएगा।

उपा०—पुत्री ! कहो तुम कौन-कौन सेवा करोगी ?"

शैव्या०—परपुरुष से संभाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़कर और जो-जो कहिएगा, सब सेवा करूंगी।

उपा०—वाह ठीक है ! अच्छा लो यह सुवर्ण।

हमारी ब्राह्मणी अग्निहोत्र की अग्नि की सेवा से घर के कामकाज नहीं कर सकती सो तुम सम्हालना।

शैव्या (हाथ फैलाकर) महाराज ! आपने बड़ा उपकार किया।

(सत्य हरिश्चन्द्र, तीसरा अंक)

इससे स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि भारतेन्दुजी ने 'चंड कौशिक' का छायानुवाद किया है। यह छायानुवाद वैसा ही है जैसा कि 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्, का छायानुवाद नेवाज ने किया है। हाँ, नेवाज का छायानुवाद केवल पद्यात्मक है। नेवाज ने भी अंक घटाए हैं, कथा-क्रम मे परिवर्तन किया है और कुछ कथा अपनी ओर से बढ़ाई है। भारतेन्दुजी ने भी वही किया है। हाँ, नेवाज से कुछ अधिक स्वतन्त्रता बरती है। छायानुवाद करने मे भारतेन्दुजी ने कुछ त्रुटियाँ भी कर दी है—

(१) चंड कौशिक मे वाराणसी एवं श्मशान-वर्णन कथोपकथनो के रूप मे है। वहाँ दो चाडाल एवं हरिश्चन्द्र वार्त्तालाप करते है। अत. श्मशान-वर्णन अत्यधिक विस्तृत नही होता। भारतेन्दुजी ने दोनो चाण्डालों को हटाकर पूरा श्मशान-वर्णन स्वगतकथन के रूप मे रख दिया है जो अभिनय की दृष्टि से अरुचिकर भी हो गया है।

(२) चण्ड कौशिक मे रात्रि मे श्मशान का वर्णन है। भारतेन्दुजी ने पावस की रात्रि मे श्मशान-वर्णन किया है। धधकती चिता, पृथ्वी पर रक्त की बूंदें, पेड़ के खम्भे में लोहू के थापे, इत्यादि का वर्णन किया है किन्तु बरसात मे तो लोहू के धब्बे मिट जायेंगे। मूल का वर्णन स्वाभाविक है।

(३) भारतेन्दुजी, चण्ड कौशिक के आधार पर ही प्रात.काल का वर्णन करते है किन्तु आगे अनुवाद करने में एक अस्वाभाविकता ले आते है। प्रात.-कालीन वर्णन के बाद चण्ड कौशिक मे चौथा अंक समाप्त हो जाता है। पाँचवें मे वे रानी के विषय मे सोचते कहते हैं—शोचन्ती रजनीषु दैन्य-विधुरा नूनं कृशांगी मया। कर्त्तव्य किल चिन्तयत्यनुदिनं सा निष्क्रियचेतसा। बडा स्वाभाविक वर्णन है। राजा सोचता है कि दिनभर तो प्रिया कार्य मे अत्यन्त व्यस्त रहती होगी। हाँ, वह कृशांगी रात्रि मे शोच करती होगी। भारतेन्दुजी चौथे अंक मे पाँचवाँ अंक मिला देते हैं। प्रात.काल का वर्णन करने के बाद वे हरिश्चन्द्र से कहलाते है—

"हा प्रिये ! इन बरसात की रातों को तुम रो-रो के बिताती होगी।"
प्रात काल के समय राजा को सोचना चाहिए था कि प्रिया, बर्तन मांजती होगी गोबर लीपती होगी। तभी रात्रि का ध्यान आ जाता है। फिर रात को ही क्यों रोती होगी ? दिन मे क्यो नही ? एक सुन्दर भाव अवश्य है कि पावस की रात्रि विरहाधिक्य करने वाली होती है। किन्तु प्रात काल वर्णन के बाद रात्रि की कल्पना की सरसता का ह्रास हो जाता है।

शास्त्रीय विवेचन

आरम्भ में नांदीपाठ एव प्रस्तावना है और अन्त मे भरतवाक्य। सत्य हरिश्चन्द्र का नादीपाठ या मगलाचरण बड़ा चमत्कारपूर्ण है। नादीपाठ मे शिवजी, हरिश्चन्द्र, कृष्ण, चन्द्रमा एव कवि हरिश्चन्द्र की जय-जयकार की गई है। प्रस्तावना भी महत्त्वपूर्ण है। कवि हरिश्चन्द्र, अपने विषय में भी कुछ कहलाता है। नटी कहती है (लम्बी सांस लेकर) "हा प्यारे हरिश्चन्द्र का ससार ने कुछ भी गुण-रूप न समझा" इत्यादि। यह 'प्ररोचना' है। प्रस्तावनान्त मे 'कथोद्घात' है क्योंकि सूत्रधार के शब्दार्थ को ग्रहण कर इन्द्र प्रवेश करता है।

वस्तुविधान (सन्धि समावेश) मुख सधि—प्रथम अक

सत्य हरिश्चन्द्र की स्थिति मुख सधि की दृष्टि से विचित्र है। मुख सधि मे प्राय: मुख्य कथा प्रारम्भ हो जाती है। नाट्यदर्पणकार का मत है—

मुख प्रधानवृत्तांश बीजोत्पत्ति रसाश्रय ॥ (ना० द० १-३८)

मुख सन्धि मे प्रधान कथाश रहता है और रस के साथ बीज की उत्पत्ति होती है। प्रधान कथा से अभिप्राय "आधिकारिक कथा" से ग्रहण किया गया है। सस्कृत नाटको में प्राय. इसका अनुगमन भी हुआ है। रत्नावली, वेणीसहार, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, उत्तररामचरितम्, मालती माधवम्, मृच्छकटिक, नागानन्द, मालविकाग्निमित्र की यही स्थिति है। इन नाटकों में नायक या नायिका प्रथम अंक मे प्रवेश कर जाती है। किन्तु मुद्राराक्षस में चाणक्य की कथा से नाटक का प्रारम्भ होता है। चाणक्य नायक का प्रधान सहायक या पताका नायक है और चाणक्य नायक से आगे बढ गया है जिसके बिना न नायक खडा हो सकता है और न नाटक। अतः यह भी प्रधान कथा ही है। 'प्रतिनायक' की कथा भी मुख्य कथा का अश ही है क्योंकि नायक प्रतिनायक पर विजय पाता है। 'प्रसन्नराघव' मे प्रतिनायक रावण की कथा से नाटक का प्रारम्भ है। यही स्थिति है 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के प्रथम अंक मे प्रतिनायक और उसके प्रेरक इन्द्र की कथा है। अत. यह भी 'प्रधान कथाश' मानी जायेगी, विष्कंभक नही क्योंकि विष्कभक मे सूचना मात्र दी जाती है जबकि इस अक में कथा को अग्रसर करने वाला कार्यव्यापार व्याप्त है।

बीज—प्रथम अंक के प्रारम्भ मे राजा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा सुनकर इन्द्र द्वेषवश परीक्षा लेने की ठानता है। उसकी समय नारदजी का आगमन होता है।

इन्द्र का परीक्षा लेने की इच्छा करना ही बीज है जिसका विकास आगे होता है। नारद की प्रशंसा से इन्द्र का द्वेष भड़कता है और इन्द्र विश्वामित्र को षड्-यन्त्र में फँसा लेता है।

इन्द्र—यहाँ सत्यमय एक के कांपत सब सुरलोक।
यह दूजो हरिश्चन्द्र को, करन इन्द्र उर सोक॥

द्वारपाल—महाराज ! नारदजी आते हैं।

इन्द्र—आने दो, अच्छे अवसर पर आये हैं।

द्वार०—जो आज्ञा !

इन्द्र—(आप-ही-आप) नारदजी सारी पृथ्वी पर इधर-उधर फिरा करते हैं, इनसे सब बातों का पक्का पता चलेगा। हमने माना कि राजा हरिश्चन्द्र को स्वर्ग लेने की इच्छा न हो, तथापि उसके धर्म की एक बेर परीक्षा तो लेनी चाहिए।

आरम्भ[1]—

इन्द्र—तो भला जिसे जो देने को कहेगा वा जो करने को कहेगा वह करेगा ?

नारद—क्या आप इसका परिहास करते हैं ? किसी बड़े के विषय में ऐसी शंका ही उसकी निन्दा है। क्या आपने उसका यह सहज साभिमान वचन नहीं सुना है ?

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिश्चन्द्र को टरै, न सत्य विचार॥

इन्द्र—(आप-ही-आप) तो फिर इसी सत्य के पीछे नाश भी होंगे, हमको भी अच्छा उपाय मिला।

संध्यंग

उपक्षेप[2]—इन्द्र का आरम्भिक कथन।

परिकर[3]—इन्द्र पूछता है कि आपका आना कहाँ से हो रहा है ?
नारद उत्तर में बताते हैं कि अयोध्या से और साथ ही हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता की प्रशंसा करते हैं। यहाँ बीज विस्तार पाता है।

विलोभन[4]—महाराज ! सत्य की तो मानो हरिश्चन्द्र मूर्ति है। निस्सन्देह ऐसे मनुष्यों के उत्पन्न होने से भारत-भूमि का सिर केवल इनके स्मरण से उस समय भी ऊँचा रहेगा जब वह पराधीन होकर हीनावस्था को प्राप्त होगी।

---

१. आरम्भ—फल प्राप्ति की ओर उत्सुकता।
२. उपक्षेप—बीज का रखा जाना उपक्षेप है।
३. परिकर—बीज का विस्तार परिकर कहलाता है।
४. विलोभन—गुण-कथन।

परिन्यास[1]—

इन्द्र—तो भला वह जिसे जो देने को कहेगा या जो करने को कहेगा वह करेगा ?

नारद—क्या आप उसका परिहास करते हैं ? किसी बड़े के विषय में ऐसी शंका ही उसकी निन्दा है। क्या आपने उसका यह सहज साभिमान वचन नहीं सुना है ?

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिश्चन्द्र को, टरै न सत्य विचार॥

समाधान[2]—

विश्वामित्र—मैं अभी देखता हूँ न। जो हरिश्चन्द्र को तेजोभ्रष्ट न किया तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं। भला मेरे सामने वह क्या सत्यवादी बनेगा और क्या दानीपने का अभिमान करेगा।

परिभाव[3]—

नारद—वाह ! भला जो ऐसे हैं उनके आगे स्वर्ग क्या वस्तु है ? क्या बड़े लोग धर्म स्वर्ग पाने को करते हैं ? करते हैं ? जो अपने निर्मल चरित्र से संतुष्ट है उनके आगे स्वर्ग कौन वस्तु है ? फिर भला जिनके शुद्ध हृदय और सहज व्यवहार है, वे क्या यश या स्वर्ग की लालच से धर्म करते हैं ? वे तो आपके स्वर्ग को सहज में दूसरे को दे सकते हैं और जिन लोगों को भगवान् के चरणारविन्द में भक्ति है वे क्या किसी कामना से धर्माचरण करते हैं ?

विधान[4]—इन्द्र—(आप-ही-आप) "हाँ, इनसे यह काम न होगा। अच्छे अवसर पर आए। जैसा काम हो वैसे ही स्वभाव के लोग भी चाहिए।"

इन्द्र ने देखा—नारद से काम नहीं बनेगा। इस कारण वह दुखी होता है। विश्वामित्र के आने से उसे प्रसन्नता है।

करण[5]— विश्वामित्र का इन्द्रसभा में आना और परीक्षा लेने का प्रण करना।

भेद[6]— इन्द्र—महाराज ! सिपारसी लोग चाहे जिसको बढ़ा दें, चाहे जिसको घटा दें, भला सत्यधर्मपालन क्या हँसी-खेल है ! यह आप ऐसे महात्माओं ही का काम है, जिन्होंने घरबार को छोड़ दिया है। भला राज करके और घर में रहके मनुष्य क्या धर्म का हठ करेगा ? और फिर कोई परीक्षा लेता तो मालूम पड़ती।

---

१. परिन्यास—बीज की पुष्टि।
२ समाधान—बीज का आगमन।
३. परिभाव—अद्भुत आवेश।
४. विधान—सुख-दुख का भाव।
५. करण—वास्तविक कार्य का आरम्भ।
६. भेद—उत्साह दिलाना 'भेद' है।

प्रतिमुख संधि—

प्रतिमुख संधि द्वितीय अंक में है। प्रतिमुख संधि में बिन्दु अर्थप्रकृति एवं प्रयत्न नामक कार्य-अवस्था का संयोग होना है। प्रतिमुख संधि में बीज कभी दिखाई पड़ता और कभी अलक्षित हो जाता है। रानी बुरा स्वप्न देखती है। गुरुजी आमन्त्रित जल भेजते हैं। स्वप्न द्वारा बीज का अलक्षित होना दिखाया गया है। राजा आते हैं अपने दान देने की बात कहते हैं। बीज लक्षित हुआ। विश्वामित्र आकर राज्य माँग लेते हैं और राजा हरिश्चन्द्र सब कुछ दे देते हैं। बीज अलक्षित हुआ। राजा प्रण करता है कि अपना वचन सत्य करूँगा बीज पुनः लक्षित हुआ।

बिन्दु—रानी और सखी का संवाद प्रथम अंक की कथा को नवीन घटना से बाँध देता है। रानी भावी आपत्ति के लिए स्वप्न के द्वारा तैयार की जाती है।

प्रयत्न[1]—हरिश्चन्द्र—(चिन्ता करके) पर अब मैं क्या करूँ? अच्छा। प्रधान! नगर में डौंडी पिटवा दो कि राज्य को सब लोग आज से अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण का समझें, उसके अभाव में हरिश्चन्द्र उसके सेवक की भाँति उसकी थाती समझ के राजकार्य्य करेगा और दो मुहर राज-काज के हेतु बनवा लो, एक पर अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण महाराज का सेवक हरिश्चन्द्र और दूसरे पर राजाधिराज अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण महाराज खुदा रहे और आज से राजकाज के सब पात्रों पर भी यही नाम रहे। देश के राजाओं और बड़े-बड़े कार्याधीशों को भी आज्ञापत्र भेज दो कि महाराज हरिश्चन्द्र ने स्वप्न में अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण को पृथ्वी दी है, इससे आज से उसका राज्य हरिश्चन्द्र मन्त्री की भाँति सँभालेगा।

विधूत[2]—रानी—अरी! आज मैंने ऐसे बुरे-बुरे सपने देखे है कि जब से सोके उठी हूँ कलेजा काँप रहा है।

सखी —महाराज के पुण्य प्रताप से सब कुशल ही होगा, आप कुछ चिन्ता न करें। भला क्या सपना देखा है, मैं भी सुनूँ?

रानी —महाराज को तो मैंने सारे अंग में भस्म लगाए देखा है और अपने को बाल खोले और (आँखों में आँसू भरकर) रोहिताश्व को देखा है कि उसे साँप काट गया है।

शम[3]— राजा हरिश्चन्द्र आकर रानी को धीरज देते हैं—

हरिश्चन्द्र—प्रिये! यद्यपि स्त्रियों का स्वभाव सहज ही भीरु होता है, पर तुम

---

१. प्रयत्न—फल को सामने न देखकर कार्य-व्यापार में द्रुतगति का आना 'प्रयत्न' है।
२. विधूत—रति अर्थात् आनन्द का अभाव ही विधूत है।
३. शम—उद्वेग या चिन्ता की शांति।

तो वीर कन्या, वीर पत्नी और वीर माता हो, तुम्हारा स्वभाव ऐसा क्यों ?

रानी— नाथ ! मोह से धीरज जाता रहता है।

हरि०—तो गुरुजी से कुछ शांति करने को नही कहलाया।

रानी —महाराज ! शांति तो गुरुजी ने कर दी है।

हरि० —तब क्या चिन्ता है ? शास्त्र और ईश्वर पर विश्वास रखो, सब कल्याण होगा।

प्रगमन[1]—हरि०—महाराज ! पधारिए, यह आसन है।

विश्वा०—बैठे, बैठे, बैठ चुके, बोल, अभी तैंने मुझे पहिचाना कि नही ?

हरि०—(घबड़ाकर) महाराज, पूर्व-परिचित तो आप ज्ञात होते हैं !

विश्वा०—(क्रोध से) सच है रे क्षत्रियाधम ! तू काहे को पहिचानेगा ! सच है रे सूर्य्यकुल कलंक ! तू क्यों पहिचानेगा, धिक्कार है तेरे मिथ्या-धर्माभिमान को, ऐसे ही लोग पृथ्वी को अपने बोझ से दबाते हैं। अरे दुष्ट, तू भूल गया, कल पृथ्वी किसको दान दी थी ? जानता नही कि मैं कौन हूँ ?

जातिस्वय ग्रहण दुर्ललितं वविप्रं
दृप्यद्वशिष्ठ सुतकानन धूमकेतुम् ।
सर्गान्तराहरणभीतजगत्कृतान्त
चाण्डाल याजिन मवैपि न कौशिकं माम् ॥

परिसर्प[2]—हरि०—स्वप्न तो कुछ हमने भी देखा है। (चिन्तापूर्वक स्मरण करके) हाँ, यह देखा है कि एक क्रोधी ब्राह्मण विद्यासाधन करने को सब दिव्य महाविद्याओं को खींचता है और जब मैं स्त्री जान कर उनको बचाने गया हूँ तो वह मुझी से रुष्ट हो गया है और फिर जब बड़े विनय से मैंने उसे मनाया है तो उसने मुझसे मेरा सारा राज्य मांगा है, मैंने उसे प्रसन्न करने को अपना सब राज्य दे दिया।

रानी—नाथ ! आप एक साथ ऐसे व्याकुल क्यों हो गए ?

हरि०—मैं यह सोचता हूँ कि अब मैं उस ब्राह्मण को कहाँ पाऊँगा और बिना उसकी थाती उसे सौंपे भोजन कैसे करूँगा ?

पर्युपासन[3]—हरि०—(हाथ जोड़कर विनय से) महाराज, ठीक है। खजाना अब सब आपका है, मैं भूला, क्षमा कीजिए। क्या हुआ खजाना नही

---

१. प्रगमन—उत्तरोत्तर वाक्यों की शृंखला का बँधना ही प्रगमन है।
२. परिसर्प—देखे बीज का छिपना और उसका अनुसरण करना।
३. पर्युपासन—क्रोधी की अनुनय-विनय।

है तो मेरा शरीर तो है।

वज्र[1]—विश्वा०—(क्रोध से) सच है रे पाषंड, मिथ्या दानवीर ! तू क्यों न मुझे "राज प्रति ग्रह पराङ्मुख" कहेगा, क्योंकि तैंने तो कल सारी पृथ्वी मुझे दान दी है, ठहर-ठहर, देख इस झूठ का कैसा फल भोगता है। हा ! इसे देखकर क्रोध से जैसे मेरी दाहिनी भुजा शाप देने को उठती है वैसे ही जाति स्मरण सस्कार से बायीं भुजा फिर से कृपाण ग्रहण किया चाहती है।

उपन्यास[2]—हरिश्चन्द्र—प्रिये ! हरिश्चन्द्र की अर्द्धांगिनी होकर तुम्हें ऐसा कहना उचित नही है। हाँ, भला तुम ऐसी बात मुंह से निकालती हो। स्वप्न किसने देखा है ? मैंने न ? फिर क्या ? स्वप्न-संसार अपने काल मे असत्य है, इसका कौन प्रमाण है ? और जो असत्य कहो, तो मरने पीछे तो यह ससार भी असत्य है, फिर उसमे परलोक के हेतु लोग धर्माचरण क्यो करते है।

गर्भसन्धि

गर्भसन्धि में प्राप्त्याशा तथा विकल्प से पताका का सन्निवेश माना गया है। विकल्प का अर्थ है कि पताका हो भी सकते है, और नही भी। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के तीसरे अंक में गर्भसन्धि दिखलाई पड़ती है जिसमें प्राप्त्याशा है, पताका नही।

प्राप्त्याशा[3]—अंकावतार मे भैरव का कथन—कि "मुझको भी आज्ञा हुई है कि अलक्षत रूप से तुम सर्वदा राजा हरिश्चन्द्र की रक्षा करना" आशा की किरण का द्योतक है। राजा और रानी के बिक जाने पर अपाय (निराशा) दिखाई पड़ती है। विश्वामित्र अपना धन पाकर कहता है "स्वस्ति (आप ही आप) बस अब चलो बहुत परीक्षा हो चुकी" मे भी कल्याण-संकेत है।

गर्भसंधि[4]—राजा हरिश्चन्द्र पर सकट का मेघ मंडराता है। वह विक्रय के लिए प्रस्तुत है कि रानी शैव्या सामने आकर उसे रोकती है और स्वय बिक जाती है। वह उपाध्याय से एक शर्त रखती है कि वह

---

१. वज्र—कठोर वचन।
२. उपन्यास-सतर्क वचन।
३. प्राप्त्याशा-आशा (उपाय) और निराशा (अपाय) के झोंकों में जब प्राप्ति की आशा की किरण दिखाई दे तो वहां 'प्राप्त्याशा' नामक कार्य-अवस्था होती है।
४. गर्भसन्धि-गर्भसन्धि में बीज दिखाई देकर तिरोहित हो जाता है। उसका अन्वेषण किया जाता है।

सेविका तो बनेगी किन्तु पर पुरुष सभाषण तथा उच्छिष्ट भोजन का त्याग करेगी। उसकी यह शर्त स्वीकृत होती है। यहाँ भी कष्टो के मध्य आशा की क्षीण किरण सकेतित है क्योकि वह पर-पुरुष के सम्पर्क मे नही आयेगी, न पुरुष संघर्ष सामने आयेगा। धर्म चाण्डाल के वेश मे आकर राजा को खरीदता है। धर्म के आगमन से भी रक्षा का संकेत है। अत. नष्ट होता बीज दिखाई पडता है। इस प्रकार तीसरे अंक मे गर्भसधि व्याप्त दिखाई देती है।

गर्भसधि के अग—

अभूताहरण[1]—भैरव—मुझको आज्ञा भी हुई है कि अलक्ष रूप से तुम सर्वदा राजा हरिश्चन्द्र की अग रक्षा करना, इससे चलूँ मैं भी वेष बदल कर भगवान् की आज्ञा पालन मे प्रवृत्त होऊँ।

यहाँ भैरव का कपट वेश धारण करने का कथन अभूताहरण अग के अन्तर्गत है।

मार्ग[2]—पाप—मरे रे मरे ! जले रे जले ! कहाँ जायँ सभी पृथ्वी तो हरिश्चन्द्र के पुण्य मे ऐसी पवित्र हो रही है कि कही हम ठहर ही नही सकते। सुना है कि राजा हरिश्चन्द्र काशी गए हैं, क्योकि दक्षिणा के वास्ते विश्वामित्र ने कहा है कि सारी पृथ्वी तो हमको तुमने दान दे दी है, इससे पृथ्वी मे जितना धन है सब हमारा हो चुका और तुम पृथ्वी मे कही भी अपने को बेचकर हमसे उऋण नही हो सकते, यह बात जब हरिश्चन्द्र ने सुनी तो बहुत ही घबराए और सोच-विचार कर कहा कि बहुत अच्छा महाराज, हम काशी मे अपना शरीर बेचेगे, क्योकि शास्त्रो मे लिखा है कि काशी पृथ्वी के बाहर शिव के त्रिशूल पर है।

तोटक[3]—विश्वामित्र— हुई प्रणाम्। बोल तैने दक्षिणा देने का क्या उपाय किया ? आज महीना पूरा हुआ। अब मै एक क्षणभर भी न मानूंगा। दे अभी, नही तो (श्राप के वास्ते कमण्डल से जल हाथ मे लेते है)।

उद्वेग[4]—विश्वामित्र—क्यो रे ! आज महीने मे कै दिन बाकी हैं ? बोल कब दक्षिणा देगा ?

---

१. अभूताहरण—कपट-वचन 'अभूताहरण' है।
२. मार्ग—तत्वार्थ कथन को 'मार्ग' नाम दिया गया है।
३. तोटक—क्रोधयुक्त वचन।
४. उद्वेग—शत्रु का भय।

हरिश्चन्द्र—(घबड़ाकर) अहा ! महात्मा कौशिक भगवान् ! प्रणाम करता हूँ।

'संभ्रम'[1]—हरिश्चन्द्र—विश्वामित्र को पृथ्वी दान करके जितना चित्त प्रसन्न नहीं हुआ उतना अब बिना दक्षिणा दिए दुखी होता है। हा ! कैसे कष्ट की बात है, राजपाट, धनधाम, सब छूटा, अब दक्षिणा कहाँ से देंगे। क्या करें ? हम सत्य धर्म कभी छोड़ेंगे नहीं और मुनि ऐसे क्रोधी हैं कि बिना दक्षिणा लिये शाप देने को तैयार होंगे और जो वह शाप न भी देंगे तो क्या ? हम ब्राह्मण का ऋण चुकाये बिना शरीर भी तो नहीं त्याग सकते। क्या करें ? कुबेर को ही जीत कर धन लावें ? पर कोई शस्त्र भी तो नहीं है।...तो क्या किसी से माँग कर दें ? पर क्षत्रिय का तो धर्म नहीं कि किसी के आगे हाथ पसारे ! हा। देखो तो, काशी में आकर लोग संसार के बंधन से छूटते है, पर हमको यहाँ भी हाय-हाय, मची है। हा ! पृथ्वी तू फट क्यों नहीं जाती कि मैं अपना कलंकित मुँह फिर किसी को न दिखाऊँ··· हमारी तो इस समय कुछ बुद्धि ही काम नहीं करती क्या करें ? हमें तो संसार सूना दिखाई पड़ता है।

आक्षेप[2]—हरिश्चन्द्र (लेकर हर्ष से आप ही आप)

ऋण छूट्यो पूर्यो वचन, द्विजहु न दीनो साप।
सत्य पालि चंडाल हू, होइ आज मोहिं दाप।

(प्रगट विश्वामित्र से) भगवान्, लीजिए यह मोहर। विश्वामित्र—(लेकर) स्वस्ति (आप ही आप) बस अब चलो, बहुत परीक्षा हो चुकी।

अवमर्श सन्धि

अवमर्श सन्धि में गर्भसन्धि की बाधाओं में लुप्त हुआ बीज सामने आता है। यद्यपि बाधाओं की आँधी चलती है, किन्तु उसकी समाप्ति का संकेत भी प्रकट होने लगता है। अवमर्श सन्धि में क्रोध, शोक, शाप, दैवी आपत्ति इत्यादि से बाधा भी आकर खड़ी होती है। रोहिताश्व को सर्प ने ग्रसा, यह दैवी आपत्ति है। अवमर्श सन्धि चतुर्थ अंक में नारायण के प्रकट होने तक व्याप्त है।

इस सन्धि में प्रकरी नामक अर्थप्रकृति तथा नियताप्ति नामक कार्य-अवस्था का संयोग होता है। प्रकरी का होना अनिवार्य नहीं है। नाटककार चाहे तो

१. संभ्रम—शंका और भय।
२. आक्षेप—गर्भस्थित बीज का सम्मुख आना आक्षेप या क्षिप्ति है।

उसे स्थान दे, चाहे न दे। चतुर्थ अंक में कोई प्रकरी नहीं है। भूत-प्रेतों का गाना-नाचना हरिश्चन्द्र के सम्मुख होता है तथा श्मशान के वर्णन का अंग है, साथ ही यह कथा में कोई गाँठ नहीं जोड़ता है। अतः यह वर्णन भी प्रकरी नहीं माना जा सकता है। नियताप्ति का रहना आवश्यक है और वह यहाँ दिखलाई पडती है। बाधाओं के दूर हो जाने के संकेत से जब फल की प्राप्ति निश्चित हो जाय वहाँ नियताप्ति नायक कार्य-अवस्था मानी जाती है।

नियताप्ति—

सूर्य नेपथ्य से सावधान करते हैं और हरिश्चन्द्र कहते हैं कि पित. मैं सावधान हूँ। सब दुखों को फूल की माला की भाँति ग्रहण करूँगा।

संध्यंग

द्रव[१]—शैव्य—इस स्तुति से क्या है? शास्त्र सब असत्य है, नहीं तो आर्यपुत्र से धर्मी की यह गति हो। यह केवल देवताओं और ब्राह्मणों का पाखंड है।

अपवाद[२]—हरिश्चन्द्र—निस्सन्देह मुझसे अधिक अभागा कौन होगा? न जाने हमारे किस जन्म के पाप उदय हुए हैं। जो कुछ हमने आज तक किया, वह यदि पुण्य होता तो हमें यह दुख न देखना पडता। हमारा धर्म का अभिमान सब झूठा था, क्योंकि कलियुग नहीं है कि अच्छा करते बुरा फल मिले। *निस्सन्देह मैं महा अभागा और बड़ा पापी । हूँ*

विद्रव[३]—नेपथ्य में दूसरे स्वर से—हाँ, तक्षक को आज्ञा दे। अब और कोई उपाय नहीं है।

प्रसग[४]—देवता—धन्य राजर्षि हरिश्चन्द्र! तुम्हारे बिना ऐसा कौन होगा जो घर आई लक्ष्मी का त्याग करे! इत्यादि।

छलन[५]—(एक स्वर से) तो अप्सराओं को भेजें (दूसरे स्वर से) छि.मूर्ख जिनको अष्टसिद्धि नवनिधियों ने नहीं डिगाया उसको अप्सरा क्या डिगावेगी।

व्यवसाय[६]—

(१) हरिश्चन्द्र—इन्द्रकाल हू सरिस जो आयसु लाँघै कोय।
यह प्रचंड भुजदंड मम प्रतिभट ताको होय।

---

१. द्रव—पूज्यों का तिरस्कार।
२. अपवाद—दोष का कथन।
३. विद्रव—वध-बन्धन इत्यादि।
४. प्रसग—बड़ों का कीर्ति गान।
५. छलन—अपनी हीनता।
६. व्यवसाय—अपनी शक्ति का बखान।

प्ररोचना—[1]

नेपथ्य से सूर्य की उक्ति—

पुत्र हरिश्चन्द्र सावधान ! यही अंतिम परीक्षा है । तुम्हारे पुरखा इक्ष्वाकु से लेकर त्रिशंकु पर्यन्त आकाश में नेत्र भरे खड़े एकटक तुम्हारा मुख देख रहे हैं । आज तक इस वंश में ऐसा कठिन दुख किसी को नहीं हुआ था । ऐसा न हो कि इनका सिर नीचा हो । अपने धैर्य का स्मरण करो ।

विचलन[2]—

धर्म—हम प्रतच्छ हरि रूप जगत हमरे बल चालत ।
थल-थल नभ थिर मम प्रभाव मरजाद न टालत ।। आदि ।

निर्वहण सन्धि

चौथे अंक मे भगवान् विष्णु के प्रकट होने से अंत तक ।

कार्य—भगवान् प्रकट होकर आशीर्वाद एवं रोहिताश्व को जीवन देते है ।

फलागम—

विश्वामित्र—महाराज ! यह केवल चन्द्र-सूर्य तक आपकी कीर्ति स्थिर रखने के हेतु मैंने छल किया था, सो क्षमा कीजिए और अपना राज्य लीजिए ।

श्री महादेव—पुत्र हरिश्चन्द्र ! भगवान् नारायण के अनुग्रह से ब्रह्मलोक पर्यन्त तुमने पाया, तथापि मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी कीर्ति जब तक पृथ्वी है तब तक स्थिर रहे और रोहिताश्व दीर्घायु, प्रतापी और चक्रवर्ती हो ।

निर्वहण सन्धि के अंग

सन्धि[3]—भगवान्—बस महाराज बस । धर्म और सत्य सबकी परमावधि हो गई । देखो, तुम्हारे पुण्य-भय से पृथ्वी बारम्बार कांपती है ।

ग्रथन[4]—

भगवान् (शैब्या से) पुत्री ! अब सोच मत कर । धन्य तेरा सौभाग्य कि मुझे राजर्षि हरिश्चन्द्र ऐसा पति मिला । वत्स रोहिताश्व, उठो । देखो तुम्हारे माता-पिता देर से तुम्हारे मिलने को व्याकुल हो रहे हैं (रोहिताश्व उठ खड़ा होता है) ।

---

१. प्ररोचना—सिद्ध पुरुष द्वारा भावी घटना की सूचना ।
२. विचलन—आत्मश्लाघा ।
३. सन्धि—बीज का सामने आना ।
४. ग्रथन—कार्य का उपसंहार ।

भाषण[1]—

महादेव—मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी कीर्ति जब तक पृथ्वी है तब तक स्थिर रहे।

पार्वती—पुत्री शैब्या! तुम्हारे पति के साथ तुम्हारी कीर्ति स्वर्ग की स्त्रियाँ गावें।

पूर्वभाव[2]—

विश्वामित्र—यह केवल चन्द्र-सूर्य तक आपकी कीर्ति स्थिर रखने के हेतु मैंने छल किया था, तो क्षमा कीजिए और अपना राज्य लीजिए।

उपगूहन[3]—

(फूल बरसते है और भगवान् नारायण प्रकट होकर हरिश्चन्द्र का हाथ पकड लेते है)

भगवान्—बस महाराज बस! धर्म और सत्य सब की परमावधि हो गई। देखो, तुम्हारे पुण्य-भय से पृथ्वी बारम्बार कांपती है, अब त्रैलोक्य की रक्षा करो। (नेत्रों से आंसू बहते है)

आनन्द[4]—

हरिश्चन्द्र—(प्रणाम करके गद्गद स्वर से) प्रभु! आपके दर्शन से सब इच्छा पूर्ण हो गई, तथापि आज्ञानुसार यह मागता हूँ कि मेरी प्रजा भी मेरे साथ बैकुंठ जाय और सत्य सदा पृथ्वी पर स्थिर रहे।

काव्यसहार[5]—

भगवान्—इतना ही देकर मुझे सन्तोष नही हुआ, कुछ और भी मांगो। मैं तुम्हे क्या दूं? क्योंकि मैं तो अपने ही को तुम्हे दे चुका तथापि मेरी इच्छा यही है कि तुमको और कुछ वर दूं।

प्रशस्ति[6]—

हरिश्चन्द्र—भगवान्! मुझे अब कौन इच्छा है? मैं और क्या वर मांगू? तथापि भरत का यह वाक्य सुफल हो—

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होंइ, हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटैं, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै।
बुध तजहि मत्सर, नारि नर सम होंहि, सब जग सुख लहै।
तजि नाम कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै।

---

१. भाषण—मानादि की प्राप्ति।
२. पूर्वभाव—कार्य का दर्शन।
३. उपगूहन—अद्भुत का सम्मुख आना।
४. आनन्द—अभिलाषा की पूर्ति।
५. काव्यसंहार—वर की प्राप्ति।
६. प्रशस्ति—राजा या नायक के द्वारा कल्याण-कामना।

इससे सिद्ध होता है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाट्यशास्त्र की दृष्टि से एक सफल नाटक है। इसका प्रधान कारण है कि इसमें 'चंड कौशिक' का अनुसरण किया गया है। जो प्रथम अंक मौलिक रूप में लिखा गया है वह भी शास्त्रीय दृष्टि से सफल है।

नेता

महाराज हरिश्चन्द्र धीरोदात्त नायक हैं। धीरोदात्त नायक में गुण होने चाहिए—अपने मुंह मियाँ मिट्ठू न बनने वाला, क्षमाशील, अत्यन्त गम्भीर प्रकृति वाला, काम-क्रोध इत्यादि के वेग को सहने वाला, स्थिर बुद्धि वाला, विनयी, परन्तु विनय के साथ अपना व्यक्तित्व रखने वाला और अपनी बात का पक्का—ये सब गुण राजा हरिश्चन्द्र में हैं। शैव्या नायिका है जो स्वकीया है। पतिव्रता एवं दृढ़ चरित्र वाली है। प्रतिनायक विश्वामित्र है जो क्रोधी और निष्ठुर हैं। भारतेन्दुजी ने इन्द्र को भी प्रतिनायकत्व दे दिया है। क्योंकि इन्द्र के ही उकसाने पर विश्वामित्र जी पग-पग पर बाधा देते हैं। तब भी विरोध का उत्तरदायित्व विश्वामित्र पर ही पड़ा है। अतः विश्वामित्र ही प्रतिनायक माने जायेंगे।

रस—राजा हरिश्चन्द्र दान वीर हैं। अतः प्रधान रस वीर रस है। सहायक रस हैं—करुण, वीभत्स एवं रौद्र।

भाषा-शैली—भाषा इसकी पुष्ट है। सत्य एवं धर्म की बातचीत बनारसी बोली में है (अंक ३)। पद्य से अधिक गद्य को स्थान मिला है। गीत एक ही है, वह भी भूत-प्रेतों का। प्रस्तावना एवं प्रथम अंक में देश-काल सम्बन्धी संकेत पाए जाते हैं जिनकी चर्चा हो चुकी है।

देशकाल-दोष—

प्रायः अनेक आलोचकों ने भारतेन्दु पर देशकाल सम्बन्धी एक दोष लगाया गया है। उनका[1] कथन है कि भारतेन्दुजी ने 'गंगा-वर्णन' क्यों दिया। किन्तु यह देशकाल-दोष भारतेन्दुजी के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता है, क्योंकि 'चण्ड कौशिक' में भी गंगाजी की चर्चा है। राजा मृत्युपुत्र को शैव्या के हाथों में देखकर अत्यन्त दुःख करता है और प्राण त्याग की बात सोचकर कहता है "भवतु भागीरथी तटोपान्तेषु सुत शोकाग्नि दह्यमानमात्मानं निर्वापयामि"। सो यह देशकाल-दोष 'चण्ड कौशिक' में भी है क्योंकि भागीरथी वहाँ भी उपस्थित है।

---

१. (क) गंगा भगीरथ द्वारा लाई गई थी। अतः इस वर्णन में देशकाल दोष है।

—डा० प्रेमनारायण शुक्ल-कृत भारतेन्दु की नाट्यकला, पृ० १७२

(ख) काल दोष तो इसमें मानना ही पड़ेगा। महाराज हरिश्चन्द्र गंगावतरण कराने वाले भगीरथ के पूर्वज हैं—डा० दशरथ ओझा कृत हिन्दी नाटक : उद्भव एवं विकास, पृ० २१७

जबकि चंड कौशिक भागीरथी का संकेत मात्र है, भारतेन्दुजी ने विस्तृत वर्णन दिया है। यह देशकाल-दोष तो है ही और भारतेन्दुजी इसे बचा सकते थे किन्तु वे वाराणसी की गंगा का वर्णन न देते यह कैसे संभव था। अतः 'चंड कौशिक' का संकेत लेकर विस्तृत वर्णन दे देते है। 'चंड कौशिक' में श्मशान का विस्तृत वर्णन है जो 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे और पैर पसार कर सुशोभित है।

अभिनय

'सत्य हरिश्चन्द्र' मे नाटककार ने अभिनय का बड़ा ध्यान रक्खा है। इसके कई प्रमाण उपलब्ध है।

(१) पात्रो की वेशभूषा पादटिप्पणियो मे दी गई है।

(क) सूत्रधार हरे वा नीले रंग की साट का कामदार जाँघिया पहने, उसके आगे पटुके की तरह कमरबन्द के दोनों किनारे नीचे-ऊपर लटकते हुए, गले मे चुस्त सामने बुताम की मिरजई, ऊपर माला वगैरह और सब गहने, सिर पर टिपारा, पैर मे घुँघरू, हाथ मे छडी, सिर पर मुकुट।

(ख) नटी—महाराष्ट्री वेष, कमर पर पेटी कसे वा मर्दाना कपडा पहने पर जेवर सब जनाने।

(ग) इन्द्र—जामा, श्रीट, कुंडल और गहने पहने हुए, हाथ मे वज्र (कदं फल का छोटा भाला) लिए हुए।

(घ) द्वारपाल—छज्जेदार पगडी, घेरदार पाजामा पहने, कमरबन्द कसे और आसा लिए हुए।

(२) दृश्य-योजना भी दी गई है—

(क) इन्द्रसभा—बीच मे गद्दीतकिया धरा हुआ, घर सजा हुआ।

(ग) दक्षिण श्मशान—नदी, पीपल का बडा पेड, चिता, मुरदे, कौए, सियार, कुत्ते, हड्डी इत्यादि। कम्वल ओढे और एक मोटा लट्ठ लिए हुए राजा हरिश्चन्द्र दिखाई पडते हैं।

(३) उस समय पारसी नाटको मे चमत्कारपूर्ण दृश्यो की योजना हो रही थी। भारतेन्दुजी ने भी नाटक मे चमत्कारपूर्ण दृश्य योजना की है—

(क) आकाश से फूल की वृष्टि और बाजे के साथ जयध्वनि।

(अंक दो के अंत मे)

(ख) पिशाच और डाकिनी-गण परस्पर आमोद करते और गाते बजाते हुए आते हैं।

पिशाच और डा०—'हैं भूत-प्रेत हम डाइन हैं छमा छम छम
हम सेवैं मसानशिव को भजैं बोलैं बम बम बम।'

पि०—'हम कड़ कड़ कड कड़ कड़ कड हड्डी को तोड़ेंगे'
हम भड़ भड़ धड़ धड पड पड सिर सबका फोड़ेंगे।'

हा०—'हम घुट घुट घुट घुट घुट घुट लोहू पिलावेंगी।
हम चट चट चट चट चट चट ताली बजावेंगी।'

सब—'हम नाचें मिल कर थेई थेई थेई कूदें धम धम धम,

यह गान और नाच, पारसी अभिनय के अनुकरण का अच्छा उदाहरण है।

(ग) रानी, मृत पुत्र रोहिताश्व का कंबल फाड़ा चाहती है कि रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है, तोप छूटने का-सा बड़ा शब्द और बिजली का-सा उजाला होता है। नेपथ्य में बाजे के साथ धन्य धन्य और जय जय का शब्द होता है, फूल बरसते है और भगवान नारायण प्रकट होकर हरिश्चन्द्र का हाथ पकड लेते हैं।

(घ) नेपथ्य का अधिक प्रयोग भी चमत्कार उत्पादन की दृष्टि से है।

(ङ) इसका अभिनय बलिया, कानपुर, प्रयाग, काशी, डुमराव इत्यादि अनेक स्थानों पर हुआ था। बलिया मे अभिनय के समय स्वयं भारतेन्दुजी उपस्थित थे। अभिनय बड़ा सफल रहा था।

उद्देश्य

भारतेन्दुजी ने अपने मित्र बाबू बालेश्वरप्रसादजी बी० ए० के कहने से लड़कों के पढ़ने-पढाने के लिए यह नाटक लिखा था। अत: आदर्श का रंग गहरा करने के लिए 'चंड कौशिक' का शृंगार छोड़ दिया एवं स्वप्न मे राज्य दान दिला कर उस आदर्श को और ऊँचा बनाया। साथ ही भारतेन्दुजी ने इस-नाटक के व्याज से अपना जीवन उसी प्रकार व्यक्त किया है जैसे कि अपनी भक्ति-भावना 'चन्द्रावली' मे व्यक्त की है एवं अपने राजनैतिक विचार 'भारत-दुर्दशा' मे दिए हैं। प्रस्तावना में नाटककार नटी सूत्रधार के कथोपकथन से इस ओर स्पष्ट संकेत देता है।

सूत्र०—सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचन्द।
जिमि सुभाव दिन रैन को, कारन नित हरिचन्द।

नटी—और फिर उसके मित्र पंडित शीतलाप्रसादजी ने इस नाटक के नायक से उसकी समता भी की है इससे उनके बनाए नाटकों मे भी सत्य हरिश्चन्द्र ही आज खेलने को जी चाहता है।

सूत्र०—कैसी समता, मैं भी सुनूं ?

नटी—जो गुन नृप हरिचंद मे, जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचंद मे, लखहु प्रतच्छ सुजान।

दोनों हरिश्चन्द्रों के जीवन की समानताएँ अद्भुत हैं।

(१) दोनों के साथ काशी नगरी का जीवन जुड़ा है।

(२) राजा हरिश्चन्द्र से देवराज जैसे बड़े देवता को ईर्षा हुई। कवि

हरिश्चन्द्र के जीवन से भी तत्कालीन कुछ बड़े आदमी राजा शिव प्रसाद जैसे ईर्षा करते थे और सरकार से उनकी निंदा करते थे। भारतेन्दुजी प्रथम अंक मे कहलवाते है—

"सिपारसी लोग चाहे जिसको बढ़ादें, चाहे घटा दें ये सिपारसी लोग बड़े आदमी है और जो जितने बड़े हैं उनकी ईर्षा उतनी ही बडी है।"

इन बड़े पदाधिकारियो को शत्रु उतना सताप नही देते जितना दूसरों की सम्पत्ति और कीर्ति। किन्तु भारतेन्दुजी इससे घबराने वाले न थे। क्यो ? ईश्वर की निश्चला भक्ति उसमे ऐसी है जो सबका भूषण है। अत वे कष्ट से घबराते न थे। उनका विश्वास था "सज्जन को दुर्जन लोग जितना कष्ट देते है, उतनी ही उनकी सत्य कीर्ति तपाए सोने की भांति चमकती है।"

(३) चौथे अक मे भारतेन्दुजी ने अष्टसिद्धि, नवनिधि एव बारहो प्रयोग का प्रसग बढाया है। इसके पीछे भी नाटककार का उद्देश्य है। राजा हरिश्चन्द्र इन देवताओ से प्रार्थना करते है "यदि हम पर आप लोग प्रसन्न हो तो महासिद्धि योगियो के, निधि सज्जनो के और प्रयोग साधको के पास जाओ"। कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी राजा हरिश्चन्द्र की तरह अपनी निधि सज्जनों को दी एव लेख, काव्य, नाटक के प्रयोग साधको को समर्पित कर दिए।

(४) राजा हरिश्चन्द्र का जीवन बाह्य एवं आतरिक सघर्ष से भरा है। बाह्य सघर्ष तो दूसरे अक से चौथे अक तक स्पष्ट है। चौथा अक आतरिक संघर्ष से भी सम्पन्न है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जीवन भी इसी प्रकार बाह्य एव आतरिक सघर्षो से भरा है। बाह्य सघर्ष उन्हे राजा शिवप्रसाद इत्यादि तत्कालीन बडे मनुष्यो मे करना पडा। आतरिक सघर्ष भी उन्हे जीवन-भर करना पडा है। पग-पग पर इसके अवसर आए। नानी ने कहा कि मैं तुम्हे सम्पत्ति मे एक भाग भी नही देती। भारतेन्दुजी ने अपने हृदय पर विजय पाई। बन्धुओ एव इष्ट-मित्रों ने 'माधवी' से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने के लिए साम, दाम, दड, भेद दिखाया। हृदय मे सघर्ष हुआ किन्तु अन्त मे हृदय की ही जीत हुई।

(५) सतयुग राजा हरिश्चन्द्र के दान एव सत्य का अनुकरण कलियुगी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन मे प्राप्त होता है।

सत्य हरिश्चन्द्र भारतेन्दुजी की अत्यन्त प्रौढ रचना है। भारतेन्दुजी के अनुकरण पर हिन्दी मे और भी कई हरिश्चन्द्र नाटक लिखे गए किन्तु भारतेन्दु जी की अद्वितीयता को आज तक कोई नहीं प्राप्त कर सका है। यह नाटक अत्यन्त लोकप्रिय हुआ भी।

प्रेमजोगिनी (१८७५)

'प्रेमजोगिनी' नाटिका के प्रथम अंक के केवल चार गर्भांक प्राप्त होते हैं। इसके प्रथम दो अंक 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में काशी के छायाचित्र या भले-बुरे फोटोग्राफ नाम से छपे थे। फिर दो गर्भांक और लिखे गए। पता नहीं क्यों कवि ने शेष नाटिका को सम्पूर्ण नहीं किया ?

फलतः प्रेमजोगिनी अपूर्ण नाटिका है। वर्तमान रूप में इस नाटिका के चार असम्बद्ध दृश्यों में एक कथा-सूत्र नहीं है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि भारतेन्दुजी ने इसे नाटिका नाम क्यों दिया है? भारतेन्दुजी की प्रसिद्ध नाटिका 'चन्द्रावली' है। चन्द्रावली को सम्मुख रखकर विचार किया जाय कि क्या प्रेमजोगिनी को भी नाटिका कहना उचित है? नाटिका में स्त्री-पात्रों की प्रधानता होती है। उसमें दो नायिकाएँ होती हैं। छोटी नायिका बड़ी नायिका के भय से नायक से एकाकार नहीं हो पाती है। कौशिकी वृत्ति, चार अंक एवं चार संधियाँ होती हैं। नायक धीरललित होता है। ऐसे ही लक्षणों से युक्त रूपक को नाटिका की संज्ञा दी जाती है। 'प्रेमजोगिनी' नाटिका का नायक रामचन्द्र धीरललित ही प्रतीत होता है—

माखन०—"अभईं कल्हौ हम ओ रस्ते रात के आवत रहे तो तबला ठनकत रहा। बस रात दिन हा-हा ठी-ठी, बहुत भवा।
दुई चार कवित्त बनाए लिहिन बस होय चुका"

बालमु०—"कभी इनके साथ मसाल, कभी उनके, मुझ को अवसर करके जब मैं जाता हूँ, तब वह नहाकर आते रहते हैं।

छक्कूजी—मसाल काहे ले जायँ मेहरारून का मुँह देखें के ?

इन चार दृश्यों से स्पष्ट होता है कि नायक रामचन्द्र गुणी एवं कलाकार है। गाने-बजाने में रुचि रखता है। कार्तिक स्नान नियम से करता है। सुधाकर जैसे सद्पुरुषों को आश्रय देता है। इस प्रकार वह धीरललित होने का संकेत देता है।

किन्तु नाटिका के लिए एक गानवती एवं अनुरागिनी नायिका का होना आवश्यक है। चारों दृश्यों में एक सुन्दर युवती विधवा की चर्चा होती है जो पंडों के बीच पिता के साथ रह रही है—

महाश—यह यजमान पाप नगर में रहता है। इसे एक कन्या है, वह विधवा है पर उसके सिर पर केश हैं। तीर्थस्थान में आकर और करना

आवश्यक है पर क्षौर करने से कन्या की शोभा चली जायगी इसलिए जो कोई ऐसी शास्त्रोक्त व्यवस्था दे तो उसका एक हजार रुपये की सभा करने का विचार है (दृश्य ४)

ऐसा अनुमान होता है कि यदि नाटिका पूर्ण हो जाती तो यही सुन्दरी विधवा कन्या नायिका बनती। सभा में नायक रामचन्द्र एवं सुधाकर सिद्ध करते कि केश कटाना अनिवार्य नहीं है। अनुमान होता है कि पाप नगर के पडे कन्या को अपहृत करते, नायक रामचन्द्र इसकी रक्षा करता, कन्या का प्रेम नायक से होता और अन्त में यह प्रेमयोगिनी बनती।

नाटिका की प्रस्तावना भी नाट्यशास्त्र के अनुसार है। आरम्भ में आठ पद वाला 'नांदीपाठ' है। मध्य में विस्तृत प्ररोचना है, जिसमें नाटककार अपने विषय में बहुत कुछ कहता है, और अन्त में प्रस्ताव होता है कि 'प्रेमजोगिनी' नाटक का अभिनय किया जाय।

इन तथ्यों की ओर देखने से यह अनुमान होता है कि सम्भवतः यह नाटिका भी 'चन्द्रावली' के समान नाट्यशास्त्र के लक्षणों वाली नाटिका बनती। किन्तु इस निष्कर्ष के विरोध में भी कई तर्क सामने आते हैं। प्रस्तुत चारों दृश्यों में कोई गुंफित कथा नहीं है। किसी भी रूपक का सबसे बड़ा और सबसे प्रथम आधार है सम्बद्ध कथानक। गुंफित कथा के अभाव में यह कहना सरल नहीं है कि यह नाटिका शास्त्रीय लक्षणों से सम्पन्न नाटिका होती। चारों दृश्यों में न कोई एक विशेष पात्र (नायक) उभरा है, न किसी स्त्री-पात्र का प्रयोग हुआ है। फलतः यह निष्कर्ष स्पष्टतया निकलता है कि यह नाटिका 'चन्द्रावली' के समान शास्त्रीय लक्षणसम्मत नाटिका न बनती।। तब प्रश्न होता है कि इसे भारतेन्दुजी ने नाटिका नाम क्यों दिया है?

प्रस्तावना में पारिपार्श्वक कहता है कि "यह नाटक भी नई-पुरानी दोनों रीति मिल कै बना है।" सचाई यही निहित है। भारतेन्दुजी की इसी नाटिका के सदृश अन्य नाटककारों की नाटिकाएँ उस काल में निर्मित हुईं। जैसे ललिता नाटिका, प्रेम नाटिका, श्यामानुराग नाटिका, जो नाटिका के शास्त्रीय लक्षणों से सम्पन्न नहीं है। ये नाटिकाएँ वस्तुतः छोटे प्रेम-नाटक हैं अतः नाटिका कह दिया गया है। ऐसा अनुमान होता है कि भारतेन्दुजी प्रेम-प्रधान एक छोटा सा नाटक लिखने जा रहे थे। छोटा होने के कारण वे उसे नाटिका कहते हैं। इस नाटिका में वे कुछ लक्षण संस्कृत नाटक के रखते और कुछ पश्चिमी नाटकों के। सम्भवतः तत्कालीन समाज एवं धर्म का यथार्थ चित्रण इसमें होता। यही पश्चिमी दृष्टिकोण रहता। साथ ही स्त्री-प्रधान न होकर यह नाटक पुरुष-प्रधान होता। पूर्वी नाट्यशास्त्र के अनुसार इसमें प्रस्तावना है ही, नायक धीर ललित दिखलाई पड़ता ही है। आगे चलकर नाटककार इसे शृंगार के दोनों पक्ष संयोग एवं वियोग से पूर्ण दिखलाता। इस

प्रकार यह छोटा-सा नाटक पूर्व एवं पश्चिमी लक्षणों से युक्त बनता। भारतेन्दु जी का ऐसा ही दूसरा नाटक 'भारत दुर्दशा' है जो नाट्यरासक के लक्षणों से युक्त नही है। वास्तव में भारतेन्दुजी ने उसे भी पूर्व एवं पश्चिमी शैलियो के समन्वय से बनाया है। उसको उन्होंने नाट्यरासक या लास्यरूपक कहा है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि यह लास्यरूपक है किन्तु प्राचीन संस्कृत नाट्यशास्त्र का यदि कोई नाम ही इसे देना है तो इसे नाट्यरासक कहेंगे। इसी प्रकार की यह नाटिका होती। इसमे भारत-दुर्दशा के समान दो एक लक्षण पूर्वी होते और तीन-चार पश्चिमी।

'प्रेमजोगिनी' यथार्थवादी सामाजिक नाटिका है। 'भारत-दुर्दशा' के समान नाटककार ने इस अपूर्ण नाटिका में अपने समय के काशी-समाज का वास्तविक चित्र खीचा है। काशी में तीन वर्ग प्रमुख हैं—ब्राह्मण वैश्य एवं साधु। इनमें से प्रथम दो के विविध चित्र इन चारो दृश्यो मे आ गए है। ब्राह्मण वर्ग मे पडा, न्योताखाऊ ब्राह्मण एवं गोसाइयों का तत्कालीन रूप प्रतिबिंबित है। दूसरे दृश्य मे पंडों और भडेरियों की पोल खोली गई है, चौथे में न्योताखाऊ ब्राह्मणों के हथकंडो का वर्णन है तो पहले दृश्य में माल और महरारू दोनों को भोगने वाले गोसाइयों के कारनामों पर प्रकाश पडा है। साथ ही पर-धन और पर-वनिताओ की टोह मे रहने वाले धनदास और वनितादास की मलीन मानसिक वृत्तियो का भी उद्घाटन किया गया है। इसी पहले दृश्य में छक्कूजी, माखनदास, बालमुकुन्द और मलजी जैसे पाखंडी बनियों के जीवन को भी सामने उघाड़ कर रक्खा गया है जो दरस परस और गंगा स्नान को ही धर्म मान बैठे हैं, मंदिर मे परनिंदा को पूजते है और नवीन प्रकाश मे चलने वाले सामाजिक सुधारकों की हँसी उड़ाते हुए उन्हे बुरा-भला कहते हैं। द्वितीय दृश्यों में भगड़ भूरीसिंह बनारसी गुंडा है जो अश्लील शब्दों के उच्चारण मे तनिक भी नही लजाता और मारने-मरने को सदा उतारू बैठा है। रामचन्द्र के रूप मे स्वयं भारतेन्दुजी सामने आते हैं। तीसरे दृश्य मे काशी की प्रशंसा है—तीर्थों, शिक्षा-स्थानों, मंदिरों, प्रसिद्ध व्यक्तियों एव साधुओ की। सुधाकर साढ़े पाँच पृष्ठों की लगभग १६० पंक्तियों मे अकेला बोलता चला जाता है। चन्द्रावली मे यमुना-वर्णन भी इसी ढंग का है। यदि कही यह नाटिका पूर्ण हो गई होती तो 'भारत दुर्दशा' की भाँति भारतेन्दु-कालीन नाटकों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान होता। हम भारतेन्दुजी, तत्कालीन व्यक्तियों और तत्कालीन समाज के विषय में बहुत कुछ जान पाते।

भारतेन्दुजी ने भाषा के सम्बन्ध में इस नाटक में बडी स्वतंत्रता बरती है। 'पाखड-विडंबन' में दिगंबर मारवाड़ी भाषा बोलता है किन्तु हिन्दी-मिश्रित होने से दिगंबर दर्शको के लिए दुर्बोध नही बनता है। जब वह कहता है—

(क) या मल रूपी देह मों कसी जलारी गुद्धि ।
आतम विमल स्वभाव छैं यह रिपियाँ रि बुद्धि ।

(ख) जो न करो परनाम दें मिष्ट योग सतकार ।
तौ बैरहु तिनसों न कर जदपि रमत रिपदार ।

(ग) अरे वहे छन निवाग वाला मतवारी तें री कगा व्रत छैं।

(घ) अरे थोरी बुद्धि के, अरे जो वाही के क्हेगुं सर्वज्ञना होनी होय तो
हे भी कहूँ छूं मेंहूँ सर्वज्ञ छूं, और हूँ भले जानू छूं···

किन्तु जब 'प्रेमजोगिनी' के तीसरे दृश्य में ठेठ मराठी का प्रयोग होता है तो दर्शक साफ नही समझ पाता और निम्नलिखित पात्र-कथन उसे सर्वथा दुर्बोध प्रतीत होते हैं—

महाश—दीक्षितजी ! आज ब्राह्मण ची मनी मारामार झाली कि मी माही
सागूं शक्त नाही—कोण तो पचड़ा ।

कुमु०—खरे, काय मारा मार झाली ? अच्छा ये तर बैठ कँन
पण आलेरीस आमचे तहाची काय व्यवस्था ?
ब्राह्मण आणलेस की नाही ? कोंहात हलवीतच आलास।

यह अवश्य है कि चौथे दृश्य के बाद इन मराठी अंशों की हिन्दी दी गई गई है। यह पाठक के लिए है। अभिनय में तो अभिनयकर्त्ता मराठी बोलेंगे और पूरा चौथा दृश्य दुर्बोध बना रहेगा। इससे तो अच्छा था कि भारत दुर्दशा के पाँचवें अक के बगाली कथनो की ही भाँति हिन्दी का भी मिश्रण कर दिया जाता ।

विषस्य विषमौषधम् (१८७६)

१८७० ई० मे मल्हारराव, बडौदा के राज्यसिंहासन पर बैठे । तीन वर्ष के ही राज्यकाल मे उन्होंने जनता एव अंग्रेजी सरकार की आंखो मे अपने को गिरा दिया । उनके कुप्रबन्ध से सब असन्तुष्ट हो गए । अंग्रेजी सरकार ने जाँच-पड़ताल के लिए एक सरकारी कमीशन बैठाया । उस समय बडौदा के रेज़िडेंट थे कर्नल रौबंट फेग्रर । उन्होंने महाराजा के कुप्रबन्ध की शिकायत की थी। मल्हारराव ने रेजीडेट राबर्ट फेअर को विप देने का प्रयास किया । महाराजा विलासी एव कामुक प्रवृत्ति के पुरुष थे। राज्य के कोप-बल पर यह

विलासिता बढती गई। महाराज ने अंग्रेज आया के साथ दुर्व्यवहार किया।[1] प्रजा की बहू-बेटियों पर कुदृष्टि डाली, नगर के अमीरों के घर जाते थे ताकि जान सकें कि सुन्दर स्त्री कौन है और फिर अपने हथकंडों से उन चन्द्रमुखियों को हस्तगत करें। महाराज का सिद्धान्त था "बावगल में माहताब हो या आफताब, या साकी हो या शराब।[2] एवं सौभाग्यवती के विवाहों की परिपाटी महाराज मल्हारराव चला रहे थे। भारतवर्ष के इतिहास में तीन रंगीले हुए, एक मुहम्मदशाह, दूसरे वाजिदअली शाह और तीसरे महाराज मल्हारराव। तीनों की क्या गति हुई? "मुहम्मद शाह के जमाने में नादिरशाही हुई, वाजिदअली-शाह से लखनऊ ही छूटा" और "मल्हारराव को १८७५ ई० में गद्दी से उतार दिया गया"।

भारतेन्दु बाबू अंग्रेजी सरकार के इस कृत्य से प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी प्रसन्नता, अपने पत्र 'कवि वचन सुधा' द्वारा भी प्रकट की थी।[3] इसी घटना को लेकर भारतेन्दुजी ने 'विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण लिखा। भारतेन्दु बाबू ने अपनी प्रसन्नता अपने भाण में कई स्थानों पर व्यक्त की है और अंग्रेजी सरकार के इस कृत्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

(क) वा यह तो बुद्धि का प्रभाव है और यह तो इनके सुशासन और बल का फल है।

(ख) अहा! धन्य है सर्कार! यह बात नहीं है। दूध का दूध पानी का पानी। और कोई बादशाह होता तो राज जप्त हो जाता। यह इन्हीं का कलेजा है। हे ईश्वर जब तक गंगा-यमुना में पानी है तब तक इनका राज स्थिर रहे।

(ग) धन्य अंग्रेज! राम और युधिष्ठिर का धर्मराज्य इस काल में प्रत्यक्ष कर दिखाया।

(घ) अंगरेजन को राज ईस इसथिर करि थापैं।

एक प्रश्न तुरन्त उठ खड़ा होता है कि क्या भारतेन्दुजी का यह कृत्य उचित है? एक विदेशी सरकार ने एक भारतीय राजा को राज्य से हटा दिया। क्या भारतेन्दुजी को इस पर हर्ष प्रकट करना चाहिए था? यदि उन्होंने ऐसा किया है तो क्या वे देश-प्रेमी कहे जा सकते हैं? एक ओर वे अंग्रेजी सरकार की प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर भारतीय राजा के हटाए जाने पर हर्ष प्रकट

---

१. हमको यहाँ तक तो मालूम है कि पहले एक कमीशन आया था और फिर कुछ आया के आया-जाया की गड़बड़ सुनी थी। (विषस्य विषमौषधम्।)

२. जब महाराज शहर के अमीरों के घर में जाते थे तो उनके डर के मारे औरतें कुएँ में उतारी जाती थीं। (विषस्य विषमौषधम)

३. "कवि वचन सुधा, नाम का कोई अखबार सोने के और लाल टाइप में उस दिन छपा था जिस दिन महाराज उतारे गए।" (विषस्य विषमौषधम्)

करते हैं। फिर उन्हें देश-प्रेमी क्यों कहा जाय? भारतेन्दुजी ने अंग्रेजों की और अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा सर्वत्र की है। इसके पांच प्रमुख कारण हैं—

१. उस काल में अंग्रेजों का विरोध उग्र रूप में नहीं होता था जैसा कि आगे १६१६ के बाद हुआ। प्रारम्भिक कांग्रेस अधिवेशनों के सभापतियों के भाषण इसके पुष्ट प्रमाण हैं। इन भाषणों में जहाँ एक ओर शासन के दोष दिखाए गए हैं—वहाँ प्रशंसा भी की गई है। कांग्रेस का जन्म १८८५ ई० में हुआ। इस तथ्य से १८७६ ई० की भावनाओं का अनुमान किया जा सकता है।

२. विक्टोरिया का राज्य कुरान था। अंग्रेजी राज्य की सूनी श्रृंखला विक्टोरिया के बाद ही क्रमश: बँधी थी। भारतेन्दुजी एवं तत्कालीन अन्य नाटककार (अविकादत्त व्यास, चौधरी प्रेमघन इत्यादि) विक्टोरिया-युग के थे। फलत वे अंग्रेजों की प्रशंसा भी करते थे और बुराई भी।

३. मुसलमानी शासन-काल की अपेक्षा विक्टोरिया का राज्य बहुत सुन्दर था। उस काल के अनेक वृद्ध पुरुष जो मुसलमानी शासन के काले कारनामे या तो पिताओं से सुन चुके थे या स्वय देख चुके थे। मुस्लिम शासन की स्मृति टूटे विश्वनाथ के मंदिर में भारतेन्दुजी प्रतिदिन देखते थे। अंग्रेजों का शासन शांति, इहलौकिक सुख-सुविधा एव धर्म में हस्तक्षेप न करने की दृष्टि से श्रेयस्कर था। अत भारतेन्दुजी ने अंग्रेजी शासन की प्रशंसा की।

४ वे धनी एवं राजभक्त घराने मे सम्बन्धित थे।

५ भारतेन्दुजी जिन अंग्रेजो के सम्पर्क मे आए थे वे ऊँचे चरित्र वाले विद्वान् एव ईमानदार व्यक्ति थे।

राष्ट्रीयता का यह अर्थ कदापि नही होता कि अनाचारो को सहन किया जाय। महात्मा गाधी ने एक बार कहा था कि राष्ट्र मेरे लिए बहुत बडा है किन्तु उससे भी बडा है 'सत्य'। यह ठीक है कि राष्ट्र के लिए सर्वस्व त्याग करना चाहिए। किन्तु यदि राष्ट्र का एक अग गल जाय तो उस पर नश्तर लगाना ही पडेगा। फिर महाराज मल्हारराव यदि अंग्रेजो का विरोध करते, देश के लिए सघर्षरत होते और तब राज्य च्युत करने पर भारतेन्दुजी मल्हार-राव की बुराई करते, तब उनका कृत्य देश-विरोधी कहा जाता। यहाँ तो बात ठीक उलटी है। राजा स्वयं भारतीयो को, अपनी प्रजा को सता रहा था। ऐसी अवस्था मे भारतेन्दुजी ने यदि उसके कृत्य की निंदा की तो क्या अनुचित किया?

जहाँ भाण मे भारतेन्दुजी ने अंग्रेजो की प्रशंसा की है वहाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उनकी निंदा भी खूब की है। उदाहरण—

(क) प्रत्यक्ष निंदा—ए भाई कुछ कहना भी तो झख मारना है। 'पासा पड़े सो दाव, राजा करे सो न्याव।' 'कहे जो लोग बस उसको बजा बजा कहिए।' और फिर राजनीति रक्षा भी तो इसीसे

होती है। पर ऐसे ही मारे भारतवर्ष की प्रजा का सरकार ध्यान नही रखती। रामपुर मे दुर्दन्त यवन हिन्दुओं को इतना दुख देते हैं, पूजा नही करने देते, शंख नही बजता, पर सर्कार इस बात की पुकार नही सुनती।

(ख) परोक्ष निन्दा—पर भाई एचिसन साहब ने अपने अहदनामो मे लिखा है कि खडेराव और मल्हारराव के सिवाय पीलजी गायकवाड के असली और नकली वंश में और कोई नहीं है, तब मल्हारराव का वश राज पर बैठने मे रोका जाय यह तनिक अनुचित मालूम होता है।

(क) मल्हारराव के राज्यगद्दी से उतारे जाने पर व्यंग्य करते हुए नाटककार कहता है "हाय बहुत बुरा हुआ बुढ़िया मरने का डर नहीं, जम परचने का डर है। 'परचल गोह करौंदा खाये।' नाटककार कहता है कि कही अंग्रेजी सरकार इसी अस्त्र को अन्य राजाओं पर न चला दे, यही भय है।

(ख) अंग्रेजी सर्कार पर ऐसा ही तीखा व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—
घन्य है ईश्वर! सन् १५९९ ई० में जो लोग सौदागरी करने आये थे वे आज स्वतंत्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते है।

(ग) हाँ फत्तेसिंह ने कुछ गडबड़ किया था उस पर वर्नन गाड ने हुमाय का शहर से लिया था

व्याजस्तुति अलंकार का सहारा लेकर नाटककार ने भारतीयो को बुरा-भला कहा है। क्योंकि भारतीयों मे व्यक्तित्व न रहा था और राजा लोग नपुंसक एवं भीरु बन गए थे। नाटककार की तीखी शैली दूर तक मार करती है।

उदाहरण—

साढ़े सत्रह सौ के सन में जब आरकाट में क्लाइव किले में बंद था तो हिन्दुस्तानियो ने कहा कि रसद घट गई है सिर्फ चावल है सो गोरे खायें हम लोग मांड पीकर रहेंगे।

बडौदा एवं अन्य राजाओं पर कैसी मीठी मार की है देखिए—

(क) सन् १६१७ मे सर्कार से जब मरहट्टे बिगड़े तब सिर्फ बडौदे वाले साथ थे।

(ख) कलकत्ते के प्रसिद्ध राजा अपूर्व कृष्ण से किसी ने पूछा था कि आप लोग कैसे राजा हैं तो उन्होंने उत्तर दिया जैसे शतरज के राजा, जहाँ चलाइए वहाँ चलें।

ऊपर लिखे उदाहरणों से भारतेन्दुजी की भाषा-शैली पर भी प्रकाश पडता है। भाण, आरम्भ से अन्त तक व्यंग्यात्मक शैली से भरा है। भाषा बड़ी सरल और मुहावरों से जड़ी हुई है। उदाहरण—

(क) अरे वह तो इसी बात पर न आई थी कि महाराज की भेड़ियाँ उससे अच्छी तरह नहीं चराई जाती तो फिर इससे क्या ? अपनी नाक ठहरी चाहे जिधर फेर दिया।

(ख) कुछ मल्हारराव ही पुरुषार्थी नहीं है। गोबिन्दराव के समय से यह बात है। क्योंकि वह चार औरस और सात दासी-पुत्र छोड़ गए थे।

(ग) हम तो जानते है कि जब मल्हारराव ने लक्ष्मीबाई से विवाह किया तभी से उसकी बड़ी बहिन दरिद्राबाई भी इनके ताक में थी और समय पाकर अपनी बहिन के पास आ गई। शास्त्रों मे लिखा है कि लक्ष्मी दरिद्रा दोनों बहिन हैं। पर भाई ! यह कन्या फली नहीं, मुद्राराक्षस की विषकन्या हो गई। अन्त भी तो बड़ी भई।

(घ) हाय ! मुहम्मदशाह और वाजिदअली शाह तो मुसलमान होके छूटे पर *मल्हारराव का कलंक हिन्दुओं से कैसे छूटेगा। विधवा विवाह सब* कराया चाहते हैं पर इसने सौभाग्यवती विवाह निकाला।

(ङ) इसी शैली मे वे अपने विषय मे एवं राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द जैसे खुशामदियों के विषय मे व्यग्य करते हुए कहते हैं—"राजा ने तीसरे से भी पूछा तुम खुशामद कर सकोगे ? बोला, गरीबपरवर क्या मजाल, भला मेरी ताक़त है कि हुजूर की खुशामद कर सकूँ।" बादशाह ने कहा —हाँ यह पक्का खुशामदी है। ठीक वही हाल है। और निबाह भी इसी से है, हजार जान दे मरो, सिफारिश नहीं तो कुछ भी नहीं। जान भी तो बादशाह ही न था। पर भाई सिफारिशियों का कल्याण है, 'तो *'हमहुं कहब अब ठकुर सोहाती।' 'हँसब ठठाइ फुलाउब गालू'* पर हमसे न होगा। भला कहाँ हिन्दुस्तानी सिफारिशी दरबार, कहाँ हम से।"

शास्त्रीय विवेचन

विषस्य विषमौषधम् भाण है। भाण के लक्षण हैं—भाण मे एक अंक होना है। सध्यगो सहित भाण मे दो ही सन्धियाँ होती हैं—मुख एवं निर्वहण। इसका कथानक कल्पित होता है। एक ही पात्र 'विट'[1] रंगमच पर आरम्भ से अन्त तक आकाशभाषित शैली से बोलता है। वह ऊपर मुख करके कहता है—अच्छा, यह पूछते हो या अच्छा, यह कहते हो, और फिर स्वत. उत्तर देने लगता है। यही आकाशभाषित शैली है। भाण मे शौर्य एवं सौंदर्य के वर्णनों द्वारा वीर एवं शृगार रस की सूचना दी जाती है। भारती वृत्ति का प्रयोग किया जाता है किन्तु बीच-बीच मे कौशिकी वृत्ति का आश्रय भी लिया जाता

---

१. विट राजसेवक होता है। वह धूर्त, नृत्यगान प्रिय, मधुरभाषी, चतुर और निपुण होता है। वह वेश्योपचार में निपुण होता है। (मा० द० ३—४१)

है। लास्य के दसो अंगों का प्रयोग भी किया जा सकता है।[1] भारतेन्दुजीने भाण के ये लक्षण दिए हैं—"भाण मे एक ही अंक होता है। इसमें नट ऊपर देखकर जैसे किसी से बात करे, आप ही सारी कहानी कह जाता है। बीच में हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना इत्यादि आप ही दिखलाता है। इसका उद्देश्य हँसी, भाषा उत्तम और बीच-बीच में संगीत भी होता है।"[2]

तुलना करने पर ज्ञात होता है कि भारतेन्दुजी संस्कृत नाट्यशास्त्रियों के अधिकांश लक्षणो को स्वीकारते हैं—

(१) अंक, एक ही हो।
(२) शैली, आकाशभाषित हो।
(३) भारतेन्दुजी विट के स्थान पर नट रखते हैं किन्तु भाण से स्पष्ट है कि वे 'विट' रखने के पक्ष में हैं।
(४) भारती वृत्ति के स्थान पर वे 'उत्तम भाषा' का नियम बना देते हैं। यह उचित ही है क्योंकि भारती वृत्ति, हिन्दी में उत्तम भाषा ही का रूप ग्रहण करेगी।
(५) दस लास्यागों के स्थान पर वे हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना इत्यादि की स्थापना करते हैं।
(६) भारतेन्दुजी ने संधियों की चर्चा नहीं की है। 'नाटक' नामक निबन्ध में वे अन्यत्र कहते हैं कि संधियों की स्थापना आवश्यक नहीं है। किन्तु शास्त्रीय लक्षणों से युक्त उनके रूपक-उपरूपकों मे संधियाँ मिल जाती हैं। संभव है वे स्वयं अन्य लक्षणों के साथ आ बैठी हों।
(७) भाण के लक्षणो में उन्होंने शौर्य शृंगार के संकेतो को स्वीकार नहीं किया है। इनके स्थान पर वे कहते हैं कि भाण का 'उद्देश्य' हँसी है।
(८) कथा कैसी हो, इसके सम्बन्ध में भी वे मौन हैं?

भाण के लक्षणों को ढूंढने पर 'विषस्य विषमौषधम्' भाण ही सिद्ध होता है। (१) उसमे एक ही अंक है। (२) इसकी शैली आकाशभाषित है। भंडाचार्य आरम्भ से अन्त तक बोलता है। वह मुख ऊपर करके कुछ पूछता है और फिर उत्तर देता है। (३) भंडाचार्य में विट के कुछ लक्षण हैं। उसे पूरा राजसेवक तो नही कह सकते परन्तु वह राज्याश्रित ब्राह्मण था और उसकी जीविका राज से ही प्राप्त होती थी। विट के अन्य लक्षण भी उसमें हैं। वह बड़ा हँसोड़ है।[3] भाण द्वारा स्पष्ट है कि वह बड़ा वाक्पटु है। भंडाचार्य धूर्त

१. सा० द० ३-२२७ से २३० तक एवं द० रू० ३-४९ से ५१ तक
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—भाग १, पृ० ७१७
३. मजा और क्या चाहेंगे, हमारा भंडपना जारी हो रहा। (विषस्य विषमौषधम्)

भी है। प्रारम्भ में वह राजा का पक्ष लेकर राजा के विनाश को उचित बताता है[1] और अपने को भी राजा के इस कार्य का साक्षी मानता है।[2] किन्तु भंडाचार्य जैसे ही यह जानता है कि राजा को गद्दी से उतार दिया गया है तो उन्हें बुरा-भला कहने लगता है।[3]

(४) भाण की भाषा बड़ी चुभती हुई, सरल, प्रवाहमय और लक्षणा-व्यंजना से युक्त है।

(५) भारतेन्दुजी ने दशो लास्यांग के स्थान पर हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना इत्यादि की स्थापना की है। ये अनुभाव भाण में उपस्थित हैं किन्तु नाटककार ने सकेत चिह्नों में उनका संकेत नहीं किया है। गाने के लिए कविताएँ ही दी गई है, गीत नहीं रखे गए हैं।

हास्यस्थल

(क) देखो पर स्त्री संग से चन्द्रमा यद्यपि लांछित है तो भी जगत् को आनन्द देता है वैसे ही (मोछों पर हाथ फेर कर) हम बड़े कलंकित सही पर इस नगर की शोभा हैं।

(ख) और फिर सुख भी तो हिन्दुस्तान में तीन ही ने किया—एक मुहम्मदशाह ने, दूसरे वाजिदअली शाह ने, तीसरे हमारे महाराज ने।

(ग) क्या कहा? हाँ कुछ बड़ौदा का हाल और भी कहो। सुनो, हम तो इस वंश के पुराने पुरोहित हैं सब शास्त्रोच्चार करें।

क्रोधस्थल

(क) भला दुष्ट बाबा भट्ट क्या हुआ, तुमने हमारा सब भेद खोल दिया, यह भेद खुलने पर भी हमने तुम्हें और कृष्णबाई दोनों को न छराया तो मेरा नाम भडाचार्य नहीं।

(ख) हमारा तो सुनकर जी जल गया कि 'कवि वचन सुधा' नाम का कोई

---

१. हा० अरे वह तो इसी बात पर न आई थी कि महाराज की भेड़ियाँ उनसे अच्छी तरह नहीं चराई जातीं तो फिर इससे क्या? अपनी नाक ठहरी चाहे जिधर फेर दिया.. राजा होता है प्रभु और 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः प्रभुः' यह प्रभु का लक्षण है, फिर उनकी बकरी थी चाहे जिस घाट पानी पिलाया।

२. देखो पर-स्त्री संग से चन्द्रमा यद्यपि लाञ्छित है तो भी जगत् को आनन्द देता है वैसे ही (मोछों पर हाथ फेरकर) हम बड़े कलंकित सही पर इस नगर की शोभा हैं।

३. धन्य भारत भूमि! तुझे ऐसे ही पुत्र प्रसव करने थे। हाय! मुहम्मद शाह और वाजिद अली शाह तो मुसलमान हो के छूटे पर मल्हारराव का कलंक हिन्दुओं से कैसे छूटेगा। विधवा विवाह सब कराया चाहते हैं पर इसने सौभाग्यवती का विवाह निकाला।

अखबार मोने के और लाल टाइप मे उस दिन छपा था जिस दिन महाराज उतारे गए।

रोने का स्थल

(क) हाय हाय ! महाराज ! अरे क्या हुए ? गद्दी से उतारे गए ? हाय ! महा अनर्थ हुआ !

(ख) पर कोई सुने भी। हाय ! कोई सुनने वाला भी तो नही। "प्राण पियारे निहारे बिना कहो काहि करेजो निकामि दिखाऊँ।"

(६) संधियाँ

कथा मे क्रमयुक्त विकास नही है। यदि कथा में संधियो का सम्यक् ध्यान रखा गया होता तो कथानक में कसावट आ जाती। बीच में मल्हारराव के पूर्वजो का इतिहास कथा में बडी बाधा डालता है। तब भी संधियों को ढूंढा जा सकता है। प्रस्तावना मे चार पदी नांदी है। नांदी मे कथा-बीज का आभास मिलता है 'परतिय रत रावन वध्यो' और राम कृष्ण की जय-जयकार की गई है जो रावण और कंस के मारने वाले है।

मुखसंधि

बीज—मंडाचार्य का आरम्भिक कथन—'परनारी पैंनी छुरी' इत्यादि वाला दोहा।

प्रारम्भ—है चला गया, कौन गति हुई, इतना तो हमने भी सुना था कि कुछ दिन हुए एक खबीसन आई थी, क्या जाने कौन साहब मालिक थे...

मुखसंधि—आरम्भ से लेकर जहाँ मंडाचार्य प्राचीन इतिहास समाप्त करता है वहाँ तक मानी जा सकती है। क्योंकि बीज का विस्तार बीच मे नही हुआ, एक ही बात को भिन्न-भिन्न उदाहरणों, प्रसंगों एव घटनाओं से पुष्ट किया गया है। प्राचीन इतिहास को प्रतिमुख संधि मान सकते थे यदि बीज विकसित होकर किसी संघर्ष में पड कर कुछ देर के लिए अलक्षित हो जाता। वास्तव मे प्राचीन इतिहास वाला स्थल कथा के क्रम मे बहुत मेल नही खाता है।

संध्यंग

उपक्षेप— परनारी पैंनी छुरी, नाहि न लाओ संग।
रावन हू को सिर गयो, पर नारी के संग।

परिकर—(ऊपर देखकर) क्या कहा कि इसी उपद्रव से न यह गति हुई। किसकी—किसकी ? महाराज मल्हारराव की ? ए भाई जरा हाल तो कह जाओ।

किया है। किन्तु इस नियम में परिवर्तन भी यत्र-तत्र किया है। गद्य का अनुवाद पद्य में तो बहुत कम हुआ है, केवल दो एक स्थानों पर ही किन्तु पद्य का गद्यात्मक अनुवाद अनेक स्थानों पर दिखलाई देता है।[1] अधिकांशतः अनुवाद सफल, सरस, सुन्दर और शुद्ध है। कुछ उदाहरण देखिए—

(१) पद्य का पद्य में शुद्ध अनुवाद—

(क) परुसा संकिअ बन्धा पाउदबन्धो वि होई सुउमारो

पुरुस महिलाणं जेत्ति अमिहंतर तेत्ति अभिमाण। (१-८)

कठिन संस्कृत अतिमधुर भाषा सरस सुनाय

पुरुष नारि अन्तर सरिस इनमें बीच लखाय।

इसमें अनुवादक ने प्राकृत को भाषा कहा है।

(ग) विचक्षणा —कठम्भि तीअ ठविदो छम्भागि अमोत्ति माणवरहारो (२-१७)

बड़े, बड़े मुक्तान सों गल अति शोभा देत॥

राजा—मेवदना पंतोहि मुहचंद तार आणि असे। (२-१७)

तारागन आए मनों निज पति ससि के हेत॥

(२) पद्य का गद्य में शुद्ध अनुवाद—

(क) कप्पन्त केलि भवणे कालस्स पुराण रुहिर सुरम्।

जअदि पिअन्ती चडी पर मेट्ठिक बालचमएण॥ (४-१६)

अनुवाद—कल्पान्त महा श्मशान रूपी क्रीडा मंदिर में ब्रह्मा की खोपड़ी के कटोरे में राक्षसों का उष्ण रुधिर रूपी मद्यपान कराने वाली काली को नमस्कार है।

(ख) जाणे पकरुहाणणा सिविणए म केलिमज्जागदं वदोहेण तडिति ताडिदुमणा हत्थंतरे सट्ठिदा।

ता कोडेण मए विअत्ति धरिदा ठिल्ल वरिल्लचले

त मोत्तूण गद अतीअ सहसा णट्ठा अणिद्दा विमे। (३-३)

अनुवाद—मैंने देखा है कि वह कमलवदनी हँसती हुई मेरी सेज के पास आकर नील कमल घुमाकर मुझे मारना चाहती है और जब मैंने उसका अंचल पकड़ा है तो वह चंचल नेत्रों को नचाकर अंचल छुड़ाकर भाग गई और मेरी नींद भी खुल गई।

---

१. मूल के पहिले जवनिकान्तर के छन्द १७, २३, २४, २६, २७, २८, ३०, ३१, ३२, ३४; दूसरे के छन्द १, २, ३, ४, ५, ६, २७, २८, तीसरे के छन्द, १, २, ३, ५, ७, ६, १०, ११, १६ २३, और चौथे के छन्द १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १०, ११, १६ और २१ का अनुवाद गद्य में किया गया है।

२. कर्पूर मंजरी (चौखम्बा प्रकाशन), पृ० १४

इन अनुवादों में अनुवादक ने बहुत ही कम हेर-फेर किया है। किन्तु सर्वत्र ऐसा ही नहीं हुआ है। अनेक स्थलों पर कुछ घटा-बढ़ाकर अनुवाद किया है। शब्दों को घटाकर भावरक्षा करने का प्रयास देखिए—

(३) (क) निस्सादाव परिक्खणा अणिहिदो हत्थो थणोत्थं गदो
दाहोड्डा मरिदो महीहि वहुसो हेलाअ वड्ढिज्जदि।
किं तेणावि इमं णिसामअ गिरं संतोमिणि त्तामिणं।
हत्थच्छत्तणि वारि देंदु किरणा वोल्लेइ माजामिणी ॥ (२-२६)

तास्यास्तावन् परीक्षणाय निहितो हस्त. स्तनोत्संगतो।
दाहोड्डा मरितः मखीमिर्बुहुशो हेलया कृप्यते।
किं तेनापीमां निशामय गिर मन्तोषिणी त्रामिनी।
हस्तच्छत्रनिवारितेन्दु किरणादुतिवाह्यति मा यामिनीम्।

अनुवाद— मदन दहन दहकत हिए, हाथ धर्‌यो नहिं जात
करमो ममि की ओट कै बितवत मो निन रात। (पृ० ३८६)

(ख) निक्वाणं तरलाणं कज्जल कनामंवग्गि दाणं पि से।
पास्से पंचमरं मिलीमुहघरं णिच्चं कुणताण अ।
णेनाणं तिल अदुदुमे णिवडिदा घाडी मिअच्छी अ ज।
तं मो मंजरि पुंजदंतुर मिरो रोमाचिदो व्व ट्ठिदो ॥ (२-४६)

तीक्ष्णयोस्तरलयोः कज्जल कला मं वल्गितयो रय्यस्याः
पार्श्वे पचशरं मिलीमुखधरं नित्यं कुर्वनोदच।
नेत्रयोस्तिलकद्रुमे निपतिता धाटी मृगाक्ष्या यत्।
तन् म मञ्जरी पुञ्ज दन्तुरशिरा रोमाञ्चित इव स्थितः।

अनुवाद—काजर भीनी कामनिधि दीठि तिरीछी छाय
भर्‌यो मंजरिन तिलक तरु मनहुँ रोम उल हाय। (पृ० ३६४)

(ग) विम व्व विमकंदली विमहर व्व हारच्छडा।
वअस्समि व अत्तणो किरइ तालविंताणिलो।
तहा अ करणिग्गद ज्जलइ जतधाराजलं।
ण चंदणमहोमहं हरइ देहदाहं अ से ॥ (३-२०)

अनुवाद—कमल नाल विपजाल-मम, हार भार अहिभोग।
मलय प्रलय, जल अनल मोहि, बायु आयु हर रोग।

(४) कहीं-कहीं मूल को संक्षिप्त कर दिया गया है।

(क) भुअणजअपदाआ रुअमोहा इमीए
जह-जह णअणाणं गोअरे जस्स जादि।
वसइ मअरकेदू तस्स चित्ते विचित्तो।
वलइदधणुदंडो पुंखिदेहिं सरेहिं ॥ (४-२०)

अनुवाद—जिसको हमने एक बार देखा उसके चित्र रूपी देश में कामदेव का निष्कंटक राज हुआ।

(ग) णूणं दुवे इह पजावइणो जअम्मि
जे देहणिम्मवण जोव्वणदाणदक्खा।
एक्को घडे दि पढमं कुमरीणमंगं
उक्करिऊण पअडेइ उणो दुदीओ। (३-१७)

अनुवाद—हमारे जान में जन्म देने वाला विधि दूसरा है और उन्नत कुच करने वाला दूसरा है।

(५) नाटककार ने मूल के बहुत से स्थलों का अनुवाद ही नहीं किया है। ऐसे दो प्रकार के स्थल हैं (१) घोर शृंगारिक एवं (२) दुर्बोध। ऐसी बात नहीं है कि नाटककार ने सभी शृंगारिक छन्दों को छोड़ दिया है। उसने कुछ का अनुवाद किया है परन्तु अनेक छोड़ दिए हैं। उदाहरण में २-४५ और ३-६ छन्द प्रस्तुत किए जा सकते हैं। शृंगारिकता कम करने के ही लिए १-२७ को उसने बदल दिया है। इसमें मूल के कुचों को तो ग्रहण किया है किन्तु खिसकते अधवस्त्र को छोड़ दिया है। इसी प्रकार २-२७ में अनुवादक मूल के नेत्र, मुख इत्यादि का अनुवाद तो करता है परन्तु स्तनों को छोड़ देता है। कुछ घोर शृंगारिक छन्दों का अनुवाद कर भी दिया है, जैसे ३-७ का अनुवाद दिया गया है। इससे १-२८, ३-१४, ३-१८, ३-२२, ३-३० इत्यादि ऐसे छन्द प्रतीत होते हैं जो सम्भवतः नाटककार को दुर्बोध प्रतीत हुए अतः ये अनुवाद में स्थान नहीं पा सके हैं। ३-१४वाँ छन्द अत्यन्त सरस एवं मनहर था। इस छन्द का भाव है—नाच-गान मदिरा पान, अगरु-धूम, कुंकुम-लेप में कोई मधुरता नहीं है। मधुरता है मनुष्य की रुचि में। इसी प्रकार के छन्द हैं ३-१८ एवं ३-२२। ३-१८ का भाव है—*स्त्रियों के वस्त्राभूषण* मनुष्यों को नहीं मोहते, मोहता है उनका यौवन। ३-२२ में सट्टककार का कथन है कि तेरे वर्ण के सम्मुख हल्दी का चूर्ण, स्वर्ण एवं चम्पक श्रीहत है। ऐसे तेरे वर्ण को मेरे जिन नेत्रों ने देखा है, उनकी पूजा मैं सुनहले फूलों से करूँगा। यदि ये दुर्बोध न समझे गए होते तो भारतेन्दुजी जैसे रसिक कवि से इनका छूटना सरल न था।

(६) अनुवाद करने में नाटककार ने बहुत से स्थलों पर अपनी ओर से कुछ बढ़ाया भी है।

(क) एद वासर जीव पिङगरिम चन्द्रमुणो मडल।
को जाणादि कहिं पि सपदि गअ एतम्भि वालतरे।
जादाकि च इअ पि दीहविरहा ओएण णाहे गदे।
मुच्छा मुद्दिदलोअणे व्व णलि णी मील तपं कै रहा। (१-३५)

सट्टककार इस छन्द में ढलते सूर्य की तुलना जीव-पिण्ड से करता है। अनुवाद में भारतेन्दुजी ने इस उपमान को ग्रहण नहीं किया है और पछियों के बसेरे की ओर जाने का उल्लेख अपनी ओर से बढ़ाया है जिससे अनुवाद अत्यन्त समृद्ध हो गया है। भारतेन्दुजी का अनुवाद है—

भई यह साँझ सबन सुखदाई।
मानिक गोलक मम दिनमनि मनु संपुट दियो छिपाई।
अलसानी दृग मूँदि-मूँदि कै कमललता मन भाई।
पच्छी निज-निज चले बसेरन गावत-काम बधाई।

स्पष्ट है कि मूल को और सुन्दरता दे दी गई है।

(ख) मूल सट्टक में प्रेमभाव की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है—

जम्मि विकप्प घडणाद कलंक मुक्को।
अत्ताण अस्स सरलत्तणभेड भावो।
एक्कक्क अस्स प्पसरंत रसप्पवाहो।
सिंगार वड्ढि अमणेभवदिण्णसारो ॥ (२-१०)

सट्टककार कहता है कि प्रेम भाव वह है जिसके द्वारा प्रेमियों के चित्त में, संशय, भ्रम इत्यादि कलंकित भाव दूर हो जाते हैं, तथा हृदय की सरलता आ जाती है, परस्पर रस का प्रवाह बहने लगता है और शृंगार द्वारा प्रेरित वासनाएँ प्रबुद्ध हो जाती हैं। भारतेन्दु बाबू ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है "परस्पर सहज स्नेह अनुराग के उमंग का बढ़ना, अनेक रसों का अनुभव, संयोग का विशेष सुख, संगीत साहित्य और सुख की सामग्री मात्र को सुहाना कर देना और स्वर्ग का पृथ्वी पर अनुभव कराना।" मूल में संयोग पक्ष का संकेत मात्र है "परस्पर रस प्रवाहित होने लगता है।" किन्तु स्पष्टतया इसके विषय में कुछ नहीं कहा गया है। वियोग में भी रस प्रवाहित होता है। किन्तु भारतेन्दुजी अपनी ओर से सयोग पक्ष बढ़ा देते हैं। इस वृद्धि से मूल का सौन्दर्य घट जाता है।

(ग) विदूषक—भो ! तुम्हारा सव्वाण मज्झे अहम् एक्को काल क्खिरिओ जस्समे समुरस्ससमुरो पडि अघरे पुत्थि आइं वह तो आसि
(अंक १)

विदूषक कहता है—अरे तुम लोगों के बीच में काले अक्षरों को तो मैं भी पढ़ा हूँ। मेरे ससुर का ससुर, पंडितों के घरों में पुस्तकें ढोया करता था।

अनुवाद—अरे कोई मुझे भी पूछो, मैं भी बड़ा पंडित हूँ। जब मैंने अपना मकान बनाया तो हजारों गदहों पर लाद-लाद कर पोथियाँ नेव में भरवाई गई थीं और हमारे ससुर जनम भर हमारे यहाँ पोथी ही ढोते-ढोते मरे, काले अक्षर दूसरों को तो कामधेनु हैं पर हमको तो भैंस हैं। अनुवाद में विनोद अधिक प्रखर हो गया है। विचक्षणा एवं

विदूषक के संवादों में भारतेन्दुजी ने अपनी ओर से अनेक हास्यात्मक उक्तियाँ बढ़ाई हैं।

इस वृद्धि से कई स्थानों पर देशकाल-दोष भी पैदा हो गए हैं।

(७) (क) पहले अंक में भैरवानन्द प्रवेश करते हुए कहता है—"न कोई मन्त्र जानता हूँ, न कोई शास्त्र, गुरु के मत के अनुसार कोई ध्यान अथवा समाधि लगाना भी नहीं जानता हूँ। शराब पीते हैं, दूसरों की स्त्रियों को भोगते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं, यही हमारा कुलाचार है।(१-२२)

रंडा, चंडा, और तान्त्रिक दीक्षा प्राप्त स्त्रियाँ हमारी धर्मपत्नियाँ हैं, भिक्षान्न हमारा भोजन है, चर्मखंड हमारी शय्या है, मद्य पान करते हैं और मांस खाते हैं। हमारा यह कुलक्रम से प्राप्त धर्म किस को न भायेगा।(१-२३)

भारतेन्दुजी ने भैरवानन्द का कथन खूब बढ़ा-चढ़ाकर रक्खा है। भैरवानन्द कहता है—

भैरवानन्द—"जन्त्र न मन्त्र, न ज्ञान न ध्यान, न जोग न भोग, केवल गुरु का प्रसाद, पीने को मदिरा और खाने को मांस, सोने को स्त्री, मसान का वास, लाख-लाख दासी सब कड़े, कड़े भग, सेवा में हाजिर रहें पीए मद्य भंग, भिच्छा का भोजन, औ चमड़े का बिछौना, लका पलका सातो दीप नवो खंड गौना, ब्रह्मा विष्णु महेश पीर पैगम्बर जोगी जती सती वीर महावीर हनुमान रावन अहिरावन आकाश पताल जहाँ बाँधूँ तहाँ रहे, जो-जो कहूँ सो-सो करे, मेरी भक्ति गुरु की शक्ति, फुरो मन्त्र ईश्वरो वाच दोहाई पशुपति नाथ की, दोहाई गोरखनाथ की।" इसमें 'पीर पैगम्बर' और 'गोरखनाथ' के नाम आए हैं। राजशेखर का काल ९वीं शताब्दी आँका गया है क्योंकि राजा महेन्द्रपाल जो राजशेखर के शिष्य थे, ७६१ ई० में राज्य कर रहे थे। कुछ विद्वान् राजशेखर को ६वीं १०वीं शताब्दी तक खींच ले जाते हैं। फलतः वे गोरखनाथ से पूर्व के ही हैं क्योंकि गोरखनाथजी का समय ११वीं शताब्दी से १४वीं शती तक माना गया है। पीर पैगम्बर शब्द भी राजशेखर के समय के बाद ही प्रचार पाया होगा क्योंकि मुस्लिम प्रसार १०वीं शताब्दी के लगभग या बाद में हुआ था।

(ख) भारतेन्दुजी के अनुवाद में कविवर पद्माकर का नाम अनावश्यक रूप से जोड़ दिया है। मूल का भाव था—विदूषक कहता है कि यह क्यों नहीं कहते कि यह हमारी दासी हरिश्चन्द्र, नंदिचन्द्र और करोड़ों हाल इत्यादि कवियों से बढ़कर है। भारतेन्दुजी विदूषक से कहलाते हैं "तो साफ-साफ क्यों नहीं कहते कि हरिश्चन्द्र और पद्माकर इसके आगे कुछ नहीं है।" पद्माकर तो राजशेखर के कई सौ वर्ष बाद उत्पन्न हुए थे। आगे अनुवादक ने पद्माकर एवं देव के कवित्त-सवैये भी दिए हैं।

(ग) मूल में गर्मी का वर्णन करते हुए महाकवि राजशेखर कहते हैं—"ग्रीष्म ऋतु में दोपहर को चन्दन का लेप करना चाहिए। शाम तक गीले वस्त्र पहिनने चाहिए। रात्रि के प्रारम्भ होने पर जलक्रीड़ा करनी चाहिए। फिर शीतल मदिरा पीनी चाहिए। रात्रि के पश्चिम भाग में सुरत का आनन्द लेना चाहिए। कामदेव के ये पांच बाण बड़े तीक्ष्ण हैं और तो सब पुराने हो गए हैं—मूल में कामदेव के पांच बाण माने गए हैं। भारतेन्दुजी ने पंच बाणों की संख्या सात तक बढ़ा दी है। ये दो बढ़ाए हुए बाण हैं—फुहारे और खसखाने जो मुगलिया विलास के द्योतक हैं। रीतिकालीन कवियों ने फुहारों और खसखानों को गौरवपूर्ण स्थान दिया था। फलतः भारतेन्दुजी, ग्रीष्म ऋतु में इन दोनों के प्रयोग का लोभ संवरण न कर सके।

(८) जैसे मूल की वस्तुओं को बढ़ाया है वैसे ही छोड़ा भी है।

(क) मूल में वसंत का वर्णन करते हुए रानी कहती है—"अब शीत के समाप्त हो जाने पर स्त्री-पुरुषों के दांत चमकने लगे हैं। चन्दन लेप की भी इच्छा स्त्री-पुरुषों को होने लगी है। अपने-अपने घरों के मध्य भाग में अब स्त्री-पुरुष सोने लगे हैं और रात्रि में शीत न बढ़ जाये इस भय से चादर को पैरों के पास बटोर रखते हैं।"[1]

इसका अनुवाद है—"कामी जन चन्दन लगाने और फूलों की माला पहिरने लगे हैं और दोहर पायते रक्खी रहती है, तो भी अब ओढ़ने की नौबत नहीं आती।"

अनुवाद में दो वस्तुऐं छोड़ दी गई हैं—

(१) दांत चमकने लगे हैं और (२) मनुष्य घरों के मध्य भाग में सोने लगे हैं।

(ख) विदूषक मूल सट्टक में क्रुद्ध होकर कहता है—"ऐसे राजकुल का दूर से ही त्याग अच्छा, जहाँ पर दासी ब्राह्मण के साथ प्रतिस्पर्द्धा करती है। आज अपनी पत्नी वसुन्धरा के चरणों का सेवक बन घर पर ही रहूँगा।

भारतेन्दुजी का अनुवाद—"ऐसे दरबार को दूर ही से नमस्कार करना चाहिए जहाँ लौंड़ियाँ पंडितों के मुंह आवें।"

इसमें अपनी पत्नी का सेवक होकर घर पर बैठने की बात छोड़ दी गई है यद्यपि हास्य की दृष्टि से यह उत्तम वाक्य था।

(६) अनुवाद के भावों, शब्दों एवं पदार्थों को घटा-बढ़ाया ही नहीं है वरन् अनुवाद में अपनी मौलिक कल्पनाओं का भी स्वतन्त्रता के साथ प्रयोग किया है। ऐसे स्थल मौलिक से ही बन जाते हैं।

---

१. कर्पूर मंजरी (चौखम्बा प्रकाशन), पृ० १२६

शोभा ही से सुन्दर है और अलंकार धारण नही किए है। विदूषक उस पर उक्त छन्द (२-२५) कहता है कि सुन्दर मनुष्य आभूषण पहनकर और सुन्दर लगने लगता है। भारतेन्दुजी ने मनुष्य के स्थान पर 'कामनी' रखा है जो वास्तव में प्रसंग की दृष्टि से अत्यन्त उपयुक्त एवं सरस है। (२) दूसरा परिवर्तन यह हुआ है कि उपमान बदला गया है। मूल सट्टक मे मणि-काचन संयोग का वर्णन है। अनुवाद उसे अधिक काव्यात्मक कर देता है और चम्पकलता पर पुष्प सजाता है।

राजा, प्रियतमा का पत्र बाँच रहा है—

सह दिवमणिमाइं दोहरा गामदंडा
सह मणिवल एहि वाहधारा गलंति
सुहम ! तुम्र विम्रोए तेम्र उव्वे म्रणीउ
सह म्रतणुलदाए दुव्वला जीविदासा ॥ (२-६)

अर्थ—हे प्रिय ! तुम्हारे वियोग मे उसके दिन-रात लम्बे हो गए हैं और वह लम्बी-लम्बी साँसें छोडती है। विरह में दुर्बल हो जाने से मणिकंकण उसके हाथ से नीचे गिर पडते है। इसी प्रकार उसकी आँखों से अश्रु-धारा बहती रहती है। जैसे-जैसे उसकी शरीर-लता दुबली होती जाती है, वैसे-वैसे उसके जीवन की आशा घटती जाती है।

अनुवाद—

विरह अनल दहकत नित छाती।
दुखद उसास बढत दिन-राती ॥
गिरत आँसु-सग सखि कर चूरी।
तृन सम जियन आस भई भूरी ॥

अनुवाद बड़ा सुन्दर हुआ है और काव्य-सौंदर्य बढा है।

'तृन' शब्द बड़ा काव्यात्मक है। गर्मी, वायु एव वर्षा से सभी तृन झुराते हैं, लताए तो पल्लवित होती हैं।

(११) निम्नस्थल बिगडे हैं:—

(क) मूल मे प्रस्तावनातर्गत एक छन्द मे सूत्रधार के पूछने पर पारिपार्श्वक कहता है कि "उसे सट्टक कहते हैं जो नाटिका का पूरा अनुसरण करे किन्तु उसमे प्रवेशक एवं विष्कंभक न हो।"[1] भारतेन्दुजी का पारिपार्श्वक नही, सूत्रधार कहता है "ठीक है, सट्टक में यद्यपि विष्कंभक प्रवेशक नही होते तो भी वह नाटकों में अच्छा होता है।" "नाटिका के अनुरूप होता है" यह न कहने से सट्टक की परिभाषा ही समाप्त हो जाती है। नाटकों

१. सो सट्टओ त्ति भण्णइ दूरं जो णाडि आइं अणुहरइ
किं उण एत्थ पवेस अविक्कं भाई ण केवलं होंति ॥ (१-६)

में अच्छा है, यह तो किसी के लिए भी कहा जा सकता है। यह अनुवाद, मूल की आत्मा को समाप्त कर देता है।

(ख) तृतीय जवनिकान्तर में कर्पूर मंजरी द्वारा लिखित कविता-बद्ध चन्द्र-वर्णन सुनकर राजा कहता है—"कर्पूर मंजरी के कथन में अभिनव अर्थ है, इसके शब्द सुन्दर हैं, इस कथन में उक्ति-वैचित्र्य है, एवं यह रस से सम्पन्न है।"[1] भारतेन्दुजी ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—वाहवा! जैसा छन्द वैसे ही बनाने वाली, फिर क्या पूछना है, कोमल मुख से जो अक्षर निकलेंगे वह क्यों न कोमल होंगे। अनुवाद मूल से बहुत दूर जा पड़ा है। मूल में एक प्रकार से काव्य के लक्षण अभिनव अर्थ ललित पदावली, उक्ति-वैचित्र्य एवं सरसता" भी रख दिए गए हैं। अनुवाद में कर्पूर मंजरी की कोमलता की प्रशंसा मात्र है। इससे स्पष्ट है कि अनुवाद पिछड़ गया है।

(ग) विचक्षणा द्वितीय जवनिकान्तर में राजा को बताती है कि महारानी ने कर्पूर मंजरी को वस्त्राभूषणों से सज्जित किया एवं शृंगार-प्रसाधन से लावण्य को बढ़ाया। वह आभूषणों या शृंगार-प्रसाधन का नाम लेती है और राजा उसका उपमान ढूंढता है (२-१२ से लेकर २-२२ तक) विदूषक कहता है "देव, सच बात तो यह है—

"जिसके नेत्रों में स्वतः ही चंचलता एवं दीप्ति भरी है, उसे काजल क्या सुधारेगा ? जो हृदय पर विस्तृत कलश रूपी रतन रजती है उसे हार की क्या आवश्यकता है ? चक्राकार उरुओं से शोभित को क्या करधनी सौन्दर्य देगी ? मैं पुनः कहता हूँ उसके लिए भूषण, दूषण मात्र है। (२-३)

भारतेन्दुजी ने इसका अनुवाद यों—किया है—

दृग काजर नहिं हृदय वह मनिमय हारन पाय।
कंचन किंकिनी सों सुभग ता जु ग जंघ सुहाय।

मूल का भाव आ ही नहीं पाया है।

(घ) इसी प्रकार कुछ शब्दों का अनुवाद देखिए—

(ङ) मूल[2]—'चौहान कुल में उत्पन्न अवति सुन्दरी।'[2]
अनुवाद—'अवन्ती देश के राजा चाहुआन की बेटी।'

(क) मूल—'कक्कोल (काली मिर्च) लताओं को कँपाने वाली, फणिलताओं (ताम्बूल वल्लियों) को मंद-मंद नचाने वाली' हवा चल रही है।[3]

---

१. राजा—अहो ! कप्पूर मंजरीए अहिणवत्थ दंसणं
रमणी ओसद्दो, उत्ति विच्छित्ती, रसणिस्सं दो अ

२. चाउहाणकुलमौलिमालिआ राअसेहरकइंदगेहिणी। (१-११)
"कंकोली कुल्लकपिरो फणिलदा णिच्चट्टणाट्टाव आ"। (१-१७)

३. कर्पूर मंजरी। (चौखम्बा प्रकाशन)

भारतेन्दुजी का अनु०--"कंकोल और केले के पत्ते कैसे झोंका खा रहे हैं। जंगलो मे जहाँ-तहाँ साँप नाचते हैं।" अनुवादक ने वसंत ऋतु मे साँपों को नचा दिया है।

(ख) मूलसट्टक मे विरहिनी कर्पूर मंजरी के ताप को शांत करने के लिए 'शिशिरोपचार' सामग्री का कई बार कथन हुआ है। भारतेन्दुजी ने इसका अनुवाद किया है 'ठंडाई।' बनारसी 'ठंडाई' ही यहाँ आ उपस्थित हुई है।

शास्त्रीय विवेचन

कर्पूर मंजरी एक सट्टक है। सट्टक के लक्षण हैं—(१) सम्पूर्ण रचना प्राकृत में हो। (२) प्रवेशक और विष्कम्भक न हों। (३) अद्भुत रस प्रचुर मात्रा मे हो (४) इसके अंको का नाम जवनिकान्तर होता है। (५) शेष सब नाटिका के लक्षण होते है। (१) मूल 'कर्पूर मंजरी' की रचना महाकवि राजशेखर ने आरम्भ से अन्त तक शौरसेनी प्राकृत में की थी। (२) इसमें प्रवेशक एव विष्कम्भक नही रखे गए हैं। (३) आरम्भ में भैरवानन्द अपनी मंत्र-शक्ति से सद्यस्नाता कर्पूर मजरी को खीच मँगाता है। राज सभा में सब चमत्कृत हो जाते है। इसी प्रकार अन्त में भैरवानन्द की अद्भुत शक्ति दिखाई गई है। रानी, कर्पूर मंजरी को भवन के भीतर भी देखती है और भैरवानन्द के पास भी। (४) इसमे चार जवनिकान्तर है। भारतेन्दुजी द्वारा अनूदित सट्टक मे हिन्दी का प्रयोग किया गया है। विष्कम्भक प्रवेशक इसमे भी नही है। अद्भुत वैसा ही है जैसा कि मूल सट्टक मे। जवनिकान्तर के स्थान पर भारतेन्दुजी ने 'अंक' रखे हैं।

नाटिका के सब लक्षण इसमे प्राप्त होते है। नाटिका के लक्षण हैं—कथा कवि-कल्पित हो। विमर्श शून्य या अल्पविमर्श वाले चार अंक होते है। नायक प्रसिद्ध धीरललित होता है। पात्रों मे स्त्री-पात्रों की प्रधानता होती है। नायिका रनवास से सम्बद्ध होती है अथवा अन्य कोई नवानुरागवती कन्या होती है। इसमे रानी ज्येष्ठा नायिका होती है जो राजवंशोत्पन्न एवं प्रगल्भा होती है। इसी के भय से नायक-नायिका, खुलकर नही मिल पाते है। यह पद-पद पर मान करती है। नायक-नायिका का मिलन ज्येष्ठा नायिका रानी की अनुमति से ही होता है। अंगों सहित कौशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है।

इसकी कथा कवि-कल्पित है। इसका नायक राजा है, जो धीरललित है। वह प्रेमी, कवि एव कलाकार है। उसका स्वभाव मृदुल है और राज्य की ओर से निश्चित है। तभी तो प्रेम की रंग-रेलियो मे अपना सारा समय गुजारता है। कर्पूर मंजरी नायिका नव-अनुरागवती नायिका है। वह मंत्र-शक्ति से खिंची हुई राज-सभा मे लाई जाती है। राजा को देखकर वह आसक्त होती

है और उसकी प्रेमिका बन जाती है। चार स्त्री-पात्र हैं—रानी, विचक्षणा, कर्पूर मंजरी कुरंगिका और पुरुष-पात्र है तीन–राजा, विदूषक और भैरवानद। ज्येष्ठा नायिका है रानी विभ्रमलेखा। इन्ही की शंका से नायक एवं नायिका प्रत्यक्ष रूप से नही मिल पाते हैं। अन्त मे रानी विभ्रमलेखा, दोनों का विवाह कराती है। वह मान करती दिखलाई पडती है।

आमुख

मूल सट्टक मे ८ पदी नांदी थी। अनुवाद में चार पद वाला निम्नलिखित दोहा है—

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

यह दोहा वस्तु व्यंजक है क्योंकि इससे भासित होता है कि भारतेन्दुजी का नाटक प्रेम-पूर्ण होगा (भरित नेह)। वह प्रेम भी नवीन होगा (नेहनव) इसमें नायक का मन नायिका की छवि देखते ही नाच उठेगा (लखि नाचत मन मोर)। इसका अन्त सुखद होगा (जयति)। इसमें अद्भुत रस की व्यंजना है (अपूरब घन कोऊ)। इस प्रकार दोहा भारतेन्दु-कृत नाटक की वस्तु का पूर्ण संकेत दे देता है यद्यपि मूल सट्टक का यह अनुवाद नही है।

प्रस्तावना :—सूत्र०—क्या खेलने की तय्यारी हुई ?

पारि०—हाँ आज सट्टक न खेलना है ?

प्ररोचना—

सूत्र०—किसका बनाया ?

पारि०—राज्य की शोभा के साथ अंगों की शोभा का, और राजाओं मे बडे दानी का अनुवाद किया।

सूत्र०—हाँ हाँ, राजशेखर का और हरिश्चन्द्र का।

प्रस्तावनात—प्रयोगातिशय नाम का प्रस्तावनात है क्योंकि अन्त में सूत्रधार कहता है कि "देखो तुम्हारा बड़ा भाई देर से राजा की रानी का भेस धर कर परदे की आड में खड़ा है।"

संधियाँ

मुखसधि—प्रथम अक

बीज—पारि०—आरंभिक वसंत वर्णन

आरम्भ—राजा कर्पूर मजरी को देखकर आश्चर्यपूर्वक उसके रूप का वर्णन करता है एव कर्पूर मंजरी राजा को देखकर कहती है—

यह कौन पुरुष है जिसका देह गम्भीर और मधुर छवि का मानो पुंज है... इत्यादि।

उपक्षेप—*वसंत वर्णन जो राजा की प्रेमी तबियत को फड़का देता है* और इस योग्य बना देता है कि वह किसी सुन्दरी को देखकर तुरन्त आसक्त हो जाय।

परिकर—*भैरवानन्द का आगमन और स्त्री बुलाने का प्रस्ताव।*

परिन्यास—कर्पूर मजरी का बुलाया जाना।

विलोभन—राजा, कर्पूर मजरी की प्रशसा करता है और कर्पूर मजरी, राजा की। "यह कौन पुरुष है जिसका देह गम्भीर और मधुर छवि का मानो पुंज है।"

युक्ति—निश्चय ही यह कोई महाराज है और यह भी महादेव के अंग मे पार्वती की भांति निश्चय इसकी प्यारी महारानी है और यह कोई बडा जोगी है। हो न हो यह सब इसी का खेल है।

प्राप्ति—मित्र! अभी जो इसने अपने कानो को छूने वाली चचल चितवन से मुझे देखा तो ऐसा मालूम हुआ कि मानो मुझ पर किसी ने अमृत की पिचकारी चलाई वा कपूर बरसाया वा चाँदनी से एक साथ नहला दिया या मोती का बुक्का छिडक दिया।

परिभाव—राजा—ठीक है इसकी छवि तो आप ही कुदन की निंदा करती है तो *गहने से इसे क्या?...इसके कर्णावलम्बी नेन मेरे मन को* अपनी ओर खीचे ही लेते है।

उद्भेद—स्त्री—कुतल देश मे जो विदर्भ नगर है वहाँ की प्रजा का वल्लभ वल्लभराज नामक राजा है।...मैं उन्ही की बेटी हूँ।

करण—रानी—भैरवानन्दजी की कृपा से कर्पूर मजरी का देखना हमे बडा ही अलभ्यलाभ हुआ। अब यह पंद्रह दिन तक यही रहे, फिर आज जोग बल से पहुँचा दीजिएगा।

प्रतिमुख सन्धि

प्रतिमुख—दूसरा अक

बिन्दु—राजा का स्नेह दूसरे अंक मे पुष्ट होता है। विचक्षणा राजा से कर्पूर मजरी के शृंगार-प्रसाधन का काव्यात्मक वर्णन करके राजा की आसक्ति को आगे बढाती है। इस प्रकार बीज मे कथा जुडती है।

राजा का आरम्भिक कथन वह चमत्कारपूर्ण अश है जो पिछली कथा को जोड देता है अत यही बिन्दु का आरम्भ है।

बिन्दु स्थल—राजा—हाँ, उस समय वह यद्यपि कुच नितंब-भार से तनिक भी न हिली परन्तु त्रिवली के तरंग भवश्वास से चचल थे...सो छवि तो भुलाए भी नहीं भूलती।

प्रयत्न—विचक्षणा द्वारा कर्पूर मंजरी का पत्र लाया जाना। वह पत्र 'प्रयत्न' अवस्था है।

संध्यंग

विलास—राजा—सच्च है, तभी न लावण्य जल से पूरित, अनेक विलास हास से छके, सब की सुन्दरता जीतने वाले उसके नील कमल-से नेत्रों को स्मरण करके शृंगार को जगाते हुए कामदेव ने वियोगियों पर यह कठिन धनु कान तक तान कर तीर चढ़ाया है।

परिसर्प—विदू०—तो विचक्षणा तुम सच कहती हो न ?

विच०—हाँ-हाँ सच है, वह सच नहीं तो क्या झूठ कहूँगी ?

राजा—कहो मित्र तुम्हें विचक्षणा कहाँ मिली ?

विधूत—(राजा पढ़ता है)

विरह अनल दहकत नित छाती
दुखद उमान बढ़त दिन राती।

तापन—तृन सम जियन आस भई झूरी।

नर्म—राजा—प्रान न मन्द होंगे, अभी थोड़ी ही देर में लड्डू से जिला दिए जायेंगे।

प्रगमन—राजा और विचक्षणा का संवाद जिसमें विचक्षणा कर्पूर मंजरी के शृंगार-प्रसाधन की चर्चा करती है और राजा उसका उपमान ढूँढता है। (भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ३८७ व ३८८)

पुष्प—राजा—करत अलिंगन अहो कुरवत तरु इक साथ।
फूल्यो उमगि अनन्द सों परसि पियारी हाथ।

उपन्यास—विदू०—जदपि उतै रूपादि गुन सुन्दर मुख तन केस।
पै इत जोवन नृपति की महिमा मिली बिसेस।

राजा०—जदपि इतै जोवन नवल, मधुर लटकई चारु।
पै उत चतुराई अधिक प्रगटत रस व्यौहार।

गर्भसन्धि

तीसरे अंक में रानी क्रुद्ध होकर आती है, बाधा डालती है एवं बीज तिरोहित हो जाता है। अतः तीसरे अंक में गर्भसन्धि मानी जाएगी।

प्राप्त्याशा—दोनों वैतालिकों के कथनों में आशा का संकेत भरा है।

संध्यंग

रूप—प्रेम के सम्बन्ध मे विदूपक एवं राजा का सवाद।

अभूताहरण—विदूपक राजा को स्वप्न सुनाता है जो उसने देखा नही था। इस प्रकार कपट की बात करता है।

उदाहृति—

राजा—कहा अभूपन, कह बसन, का अनेक सिंगार।
तियन तन सो कछु और ही जो मोहत ससार।
खंजन मद गंजन करन जग रजन जे आहि।
मदन लुकंजन सरिस दृग, कह अजन तिन माहि।

क्रम—विदूपक—प्यारे मित्र ने सुना तो अब इस अमृत के प्याले की उपेक्षा कब तक करोगे?

अनुमान—कर्पूर मजरी—अहा! क्या पूर्णिमा का चन्द्र आकाश से उतर आया या भगवान शिवजी ने रति की अधीनता पर प्रसन्न होकर फिर से कामदेव को जिला दिया या वही छलिया आता है जिसने चित्त चुरा कर ऐसा धोखा दिया!

अधिवल—हाय, हाय! कर्पूर मजरी को बडा पसीना हो रहा है। अच्छा पंखा झले। (अपने दुपट्टे से पखा झलता हुआ जान-बूझकर दिया बुझा देता है)

प्रार्थना—तो सब लोग छत पर चलें। आओ प्यारी तुम हमारा हाथ पकड लो।

उद्वेग—राजा—यह क्या कोलाहल है?
कर्पूर मजरी (भय से) कुरगिके, देखो तो यह क्या है?
विदूपक—जान पडता है कि यह सब बात रानी ने जान ली।

आक्षेप—कर्पूर०—तो हम लोग इस सुरग की राह से महल मे जाते है, जिनमे रानी महाराज के साथ हमे न देखे।

विमर्श सन्धि का अभाव है। अधिक-से-अधिक विदूपक के उस कथन मे थोडा-सा आभास मिलता है जहाँ वह राजा को सूचना देता है कि रानी की महिला सेना गुप्त घर की सुरग का पहरा दे रही है।

निर्वहण सन्धि

सारगिका के प्रवेश से अन्त तक।

कार्य्य—सारगिका का कथन।

फलागम—कर्पूर मंजरी एवं राजा का विवाह।

संध्यंग

सधि—सारगिका (प्रकट) महाराज की जय हो।

महाराज, महारानी कहती हैं कि हम साँझ को महाराज का ब्याह करेंगे।

ग्रथन—मारगिका—विगत चतुर्दशी को महारानी ने मानिक्य की गौरी बनाकर भैरवानन्द के हाथ में प्रतिष्ठा कराई थी, सो जब महारानी ने भैरवानन्द से कहा कि आप कुछ गुरु-दक्षिणा माँगिए—तब उन्होंने कहा—"ऐसी गुरु-दक्षिणा दो जिसमें महाराज का कल्याण भी हो और वे प्रसन्न भी हों अर्थात् लाट देश के राजा चन्द्रसेन की कन्या घनसार मंजरी को ज्योतिषियों ने बताया है कि जिससे इसका ब्याह होगा वह चक्रवर्ती होगा। उसका महाराज से विवाह कर दो। यही हमें गुरु-दक्षिणा दो।" महारानी ने भी स्वीकार किया और इसी हेतु मुझे आपके पास भेजा है।

पर्युपासन—

रानी—(आगे एक घर मे झाँककर) अरे कर्पूर मंजरी तो यही है, वह कोई दूसरी होगी। बेटी कर्पूर मंजरी! जी कैसा है? (नेपथ्य मे) सिर में कुछ दर्द है।

आनन्द—राजा (कर्पूर मंजरी को देखकर)

यह कामदेव की मूर्तिमान शक्ति है, वा शृंगार की साक्षात् लता है, वा सिमटी हुई चन्द्रमा की चाँदनी है, वा हीरे की पुतली है, या वसत ऋतु की मूल कला है, जिसको उसने एक बार देखा उसके चित्त रूपी देश मे कामदेव का निष्कंटक राज हुआ।

समय—विदूषक—वाह रे जल्दी! अरे अब तो क्षणभर मे गोद ही में आई जाती है। अब क्या बक-बक लगाए हो। कोई सुनेगा तो क्या कहेगा।

कृति—हाँ-हाँ हम तो तैय्यार ही हैं। मित्र हम गठबन्धन करते है, तुम कर्पूर मंजरी का हाथ पकड़ो और कर्पूर मंजरी, तुम महाराज का पकडो।

भाषण—राजा—आहा! इसके कोमल करस्पर्श से कदब और केवड़े की भाँति मेरा शरीर एक साथ रोमांचित हो गया।

काव्य-सहार—भैरव—महाराज, कहिए और क्या होय?

प्रशस्ति या भरतवाक्य—

राजा (हाथ जोड कर)

उन्नत चित ह्वै आर्य्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं।
कपट नेह तजि सहज सत्य ब्योहार चलावैं।
जवन सकल जान दोष गन इनसों छूटैं।
सबैं सुपथ पथ चलैं निरहि सुख संपति लूटैं।
तजि विविध देव रति कर्ममति एक भक्ति पथ सब गहैं।
हिय भोगवती समगुप्त हरि प्रेम धार नित ही वहैं।

नाटक की श्रेष्ठता के तीन अन्य स्तभ हैं—मार्मिक सवाद, सरस वर्णन और

सुन्दर उक्तियाँ। मूल सट्टक में संवाद अत्यन्त सुन्दर हैं। जो अनुवाद में आई तो है किन्तु पूर्णता नहीं आ सकी है। सरस वर्णनों के लिए दूसरे अंक में हम राजा एवं विचक्षणा का संवाद देख सकते हैं जिसमें कर्पूर मंजरी के शृंगार का वर्णन है।[1] इसी प्रकार इसी अंक में झूले का वर्णन[2] एवं तीसरे अंक में दोनों वैतालिकों द्वारा कथित प्रकृति वर्णन[3] देखा जा सकता है।

उक्तियाँ

१ यह चार दिन की जवानी तो रहती नहीं है।

२ सुन्दर रूप को तो गहना ऐसा है जैसे निर्मल जल को काई।

३. सुभाव ही स्त्री की शोभा है और गुण ही उसका भूषण है।

४ नवयौवन याने स्त्री-पुरुषों के परस्पर अनेक मनोरथों से उत्पन्न सहज चित्त-विकार को प्रेम कहते हैं।

५ विद्या वही जिसकी सभा में परीक्षा की जाय, सोना वही जो कसौटी पर चढ़े और शस्त्र वही जो मैदान में निकले।

रस

सट्टक का मुख्य रस 'शृंगार' रस है। इसमें संयोग शृंगार की प्रधानता है। संयोग पक्ष में नायिका के रूप, नखशिख और वस्त्राभूषण-वर्णन की अधिकता है। है भी तो ये रति उत्पत्ति के साधन। पूर्वराग—विरह का वर्णन परम्परागत शैली पर है। विरह में नायिका जलती है, पत्र लिखा जाता है, कमल-पत्र, चन्दन एवं अन्य शीतोपचार सामग्री का उपयोग जलन दूर करने के लिए किया जाता है। यहाँ अभिज्ञान शाकुन्तलम् का प्रभाव स्पष्ट है। अद्भुत एवं हास्य, सहायक रस है। विदूषक और विचक्षणा के परिहास अधिक साहित्यिक नहीं बन पाए। कैशिकी वृत्ति के चारों अंग, चारों अंकों में मिलते हैं (१) नर्म—प्रथम अंक में।

नर्म-भेद शुद्ध हास्य—विदूषक एवं विचक्षणा का संवाद।

भय हास्य—भैरवानन्द का कथन।

शृंगार हास्य—राजा का कर्पूर मंजरी को देखकर रूप-वर्णन।

नर्मस्फोट—अंक २

प्रेम प्रकाशन—राजा और विचक्षणा द्वारा कर्पूर मंजरी का शृंगार-प्रसाधन वर्णित करना।

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली प्रथम खंड, प्र० सं०, पृ० ३८७-३८८

२. वही, पृ० ३९०-३९१

३. वही, पृ० ३९९-४००

हास्य—विदूषक के कथन।

भय—विदूषक एवं विचक्षण का 'ठंडाई' के विषय में कथोपकथन (पृ० ३६२)

नर्मस्फूर्ज—अंक ३, मिलन और अन्त में भय जब कुरंगिका कहती है कि महारानी पकड़ने आ रही है।

नर्म गर्भ-अंक ४—कर्पूर मंजरी गुप्त रूप से आती-जाती है।

कथा

अंक १—

राजा और रानी विभ्रमलेखा एक-दूसरे को वसंत की बधाई देते है। इसका अर्थ है कि भारतवर्ष में त्योहार-पर्वों पर एव ऋतु के आगमन पर बधाई देने की परिपाटी थी। विदूषक एवं दासी विचक्षणा वसंत पर अपनी-अपनी कविताएँ पढ़कर सुनाते हैं और दोनों में खूब नोक झोंक होती है। तांत्रिक साधु भैरवानन्द आकर राजा से पूछता है कि कहो, क्या आश्चर्य दिखावें! विदूषक प्रस्ताव करता है कि विदर्भ नरेश की राजकुमारी को मंत्रबल से खींच कर मँगाओ। भैरवानन्द, स्नान करती हुई कर्पूर मंजरी को मन्त्र-बल से मँगा लेता है। उसके बालों से पानी की बूँदें चू रही हैं और वस्त्र भीगे हैं। कर्पूर मंजरी अपना परिचय देती हुई बताती है कि मेरे पिता का नाम है वल्लभराज और माता का शशिप्रभा। रानी विभ्रमलेखा यह सुनकर कहती है कि अरे! तू तो मेरी मौसेरी बहिन है। भैरवानन्दजी महाराज! पंद्रह दिन मेरी बहिन को मेरे पास रहने दीजिए भैरवानन्द आज्ञा दे देते हैं।

अंक २—

राजा कर्पूर मंजरी को स्मरण कर करके आहे भरते है। विचक्षणा दासी कर्पूर मंजरी का प्रेम-पत्र लाती है जिसमे कर्पूर मजरी ने अपनी विरह-दशा एव तज्जनित तड़पन का अंकन किया था। विचक्षणा कर्पूर मंजरी के शृंगार-प्रसाधन का वर्णन करती है। राजा भी अपनी उक्तियाँ जोड़ता है। राजा-छिपकर कर्पूर मंजरी को झूला झूलते हुए देखता है और झूले का काव्यात्मक वर्णन करता है। विदूषक भी सहयोग देता है। जब कर्पूर मंजरी कुरवक को आलिंगन से, तिल को दृष्टिपात से एवं अशोक को पाद-प्रहार से पुष्पित करती है तो राजा यह सब छिप कर देखता है। यहाँ काव्य-रूढ़ियों का ही चित्रण है, वास्तविकता का नही क्योंकि देखने या पाद-प्रहार से फूल नही उगते हैं।

अंक ३—

राजा विदूषक से बताता है कि स्वप्न मे मैंने आज कर्पूर मंजरी को पा लिया था। विदूषक भी एक स्वप्न की कल्पना करके वर्णन करता है। प्रेम क्या है, दोनों इस पर अपना-अपना मत प्रकट करते हैं। तभी सुनाई पड़ता है कि

कर्पूर मंजरी का शरीर गर्म हो गया है। राजा, विदूषक के साथ कर्पूर मंजरी के कक्ष में पहुँच जाता है और कर्पूर मंजरी से बातें करता है। तभी रानी विभ्रमलेखा कर्पूर मंजरी को पकड़ने आती है। कर्पूर मंजरी सुरंग द्वारा अदृश्य हो जाती है।

अंक ४—

राजा एवं विदूषक गर्मी का वर्णन करते हैं। विदूषक राजा को बताता है कि कर्पूर मंजरी वाली सुरंग पर रानी विभ्रमलेखा ने कड़ा पहरा बिठा दिया है। इसी समय विभ्रमलेखा की सखी सारंगिका राजा से आकर कहती है कि आज संध्या समय वह सावित्री उत्सव के समय रानी आपका ब्याह रचायेंगी क्योंकि स्वामी भैरवानन्द ने घनसार मंजरी नामक कन्या का विवाह आपके साथ करने की स्वीकृति रानी से प्राप्त करली है क्योंकि उसके साथ विवाह होने पर आप चक्रवर्ती सम्राट हो जायेंगे। राजा चामुंडा के मन्दिर में जाते हैं। यहाँ भैरवानन्द आकर बैठता है। तभी सुरंग-द्वार को खोलकर कर्पूर मंजरी आ जाती है। रानी विभ्रमलेखा कर्पूर मंजरी को देखकर बड़े आश्चर्य में डूब जाती है और कर्पूर मंजरी को महल में देखने जाती है। वहाँ जाकर देखती है कि कर्पूर मंजरी वहाँ पहले से ही उपस्थित है। बात यह थी कि कर्पूर मंजरी चामुंडा के मन्दिर से सुरंग द्वारा रानी के पहुँचने से पूर्व ही महल में पहुँच गई थी। जब वह पुनः मन्दिर में आती है तो कर्पूर मंजरी को वहाँ बैठे पाती है। वह पुनः कर्पूर मंजरी के कक्ष में जाती है तो कर्पूर मंजरी को वहाँ पाती है। पुनः लौटकर आती है तो कर्पूर मंजरी को मन्दिर में भैरवानन्द के पास देखती है। वह इसे भैरवानन्द की योग-शक्ति का फल मानती है और राजा से कर्पूर मंजरी का विवाह रचा देती है।

पात्र

राजा चन्द्रपाल—राजा चन्द्रपाल इस सट्टक का नायक है। यह धीरललित नायक है। राजा एक उत्तम कवि है। राजा की काव्य-प्रतिभा दो अवसरों पर विशेषकर फूटी है। ये अवसर हैं, विचक्षणा कर्पूर मंजरी के शृंगार-प्रसाधन का वर्णन करती है। दूसरा अवसर है जब कर्पूर मंजरी झूलती है। राजा की काव्य-शक्ति देखिए—

विच०—गोरे तन कुंकुम सुरंग प्रथम न्हवाई बाल।
राजा—सो तो जनु कंचन तप्यो होत पीत सो लाल।
विच०—इन्द्रनील मनि पैंजनी ताहि दई पहिराय।
राजा०—कमलकली जुग घेरि के अलि मनु बैठे आय।
विच०—सजी हरित सारी सरस जुगल जंघ कहँ घेरि।
राजा—सो मनु कदली पात निज रंभन लपट्यो फेरि।

राजा बडा विलासी और प्रेमी है। सस्कृत नाटककारों ने ऐसे विलासी राजाओं को अपना नायक बनाया है जो छिपकर कुमारियों को निहारते और मोहामक्त होते हैं। महाकवि कालिदास का दुष्यंत छिपकर शकुन्तला का रूप देखता है, रत्नावली का राजा उदयन रत्नावली को देखते ही लट्टू हो जाता है। कर्पूर मंजरी का राजा इनसे भी बढ जाता है। वह भीगे तन वाली कर्पूर मजरी से सहानुभूति प्रकट नही करता है वरन् उसके भीगे तन और चिपटे कपड़ों से झांकते सौन्दर्य को निहार-निहार कर प्रसन्न होता है। मजे की बात है, ये सब राजा पहले से विवाहित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सस्कृत कवि एवं नाटककार एकपत्नीव्रत में विश्वास नही करते थे, या यों कहिए अर्थ और नाम पाने के लिए अपने विलासी आश्रयदाताओं या दानदाताओं की विलासी वृत्ति की परितुष्टि करने के लिए इस प्रकार के नाटकों का सृजन करते थे। सट्टक के नायक राजा की पहले से एक रानी है, जो सुन्दरी और गुणवती है। उस पर भी यौवन के वसंत मे पुष्पित कर्पूर मंजरी को देख वह दिल फेंक बैठता है, वह प्रेम की परिभाषा भी अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल ही देता है "नव-यौवन वाले स्त्री-पुरुषों के परस्पर अनेक मनोरथो से उत्पन्न सहज चित्त के विकार को प्रेम कहते हैं। वह स्वप्न में भी कमलवदनियों को देखता है जो राजा को नीले कमलो से मारती हैं। राजा इस मार को आशीर्वाद मानता है। केले के कुज मे छिपकर वह स्त्रियों के झूले को बड़े मनोयोग से ताकता है। उनके 'उघरते भुजमूल', 'लचकती लंक एव पुकारते अंचल' तथा 'चटखती चोली' मे आनद लेता है और विपरीत रति की परिपाटी ग्रहण कर झूलना प्रणाली की प्रशंसा में कविता कहता है।" तभी तो विदूषक उसकी इस प्रवृत्ति पर कटाक्ष करता हुआ कहता है—"मित्र! स्त्री-जितो की भाँति तुम क्यो व्यर्थ बकते हो। गर्मियो मे इस विलासी राजा को गर्मी की तपन मिटाने वाले शृंगारिक नुस्खे स्मरण हो आते हैं।" वह कहता है—"वा संयोगियों को तो ग्रीष्म भी सुखद ही है। दोपहर तक ठंडे चंदन का लेप, तीसरे पहर महीन गीले कपड़े, फुहारे, खसखाने और सांझको जल-विहार और हिम से ठंडी की हुई मदिरा और पिछली रात की ठडी हवा मे विहार इत्यादि इनको सुखी बनाने वाले साधन हैं। पर हाँ इनका उपभोग करने वाला भी तो होना चाहिये।" भैरवानन्द अपनी अलौकिक शक्ति का बखान करता हुआ कहता है—"अरे राजा बता, तुझे क्या आश्चर्य दिखलावें।' वह अपनी अलौकिक शक्ति का ढिंढोरा पीटता हुआ कहता है—

सूरज बांधू चंदर बांधू बांधू अगिन पताल।
सेस समुन्दर इंदर बांधू औ बांधू जमराल।
जच्छ रच्छ देवन की कन्या बल से लाऊँ बांध।
राजा इन्दर का राज टोलाऊँ तो मैं सच्चा साध।

तुरन्त, राजा एक सुन्दर राजकुमारी बाँधकर मँगाने की फरमायश सामने रख देता है। यह विलासी और व्यभिचारी वृत्ति नही तो और क्या है? इतना अवश्य कहा जाएगा कि नाटककार अस्वाभाविक आदर्शवाद को बलात् नही पकडता है वरन् उस काल के राजाओं की यथार्थ प्रवृत्ति पर प्रकाश डालता है। साथ ही यह भी सत्य है कि वह इस प्रवृत्ति को बुरा नही बताता है, अच्छे रूप मे ही चित्रित करता है।

नाटक मे एक विशेष बात अवश्य द्रष्टव्य है। विरह का पूरा पहाड नायक के कंधे पर ही रखा गया है। आरभ से अन्त तक कर्पूर मजरी के विरह मे राजा ही तडपता चित्रित है। नायिका का विरह चित्रण अत्यन्त अल्प है। दूसरे अंक मे कर्पूर मजरी दो छन्दों मे अपना वियोग-दुख लिखकर विचक्षणा द्वारा राजा के पास भेजती है और आगे इसी अक मे विचक्षणा विदूषक को बताती है कि कर्पूर मजरी की तपन को शात करने के लिए 'ठडाई' ले जाई जा रही है। शेप पूरे नाटक मे राजा का वियोग वर्णन ही चित्रित है।

विदूषक

विदूषक का पक्षीवाचक नाम 'कपिंजल' है। विदूषक बडा हँसोड और पेटू है। उसका काम ही है 'हँसाना'। वह सभा मे चुप नही बैठ सकता और बलात् बोलता है "अरे कोई मुझे भी पूछो, मैं भी तो बडा पडित हूँ। जब मैंने अपना मकान बनाया था तो हजारो गदहो पर लाद-लाद कर पोथियाँ नेव मे भरवाई गई थी और हमारे ससुर जनम भर हमारे यहाँ पोथी ढोते-ढोते मरे, काले अच्छर दूसरो के लिए तो कामधेनु है पर हमको भैंस है।" विचक्षणा दासी के लिए तो वह सवासेर है और ईंट का जवाब पत्थर से देता है। "बक बक किए ही जायगी तो तेरा दाहिना और बायाँ युधिष्ठिर का बडा भाई उखाड लेगे।" कविता करता है तो उससे भी हँसाने का प्रयास करता है—

आयो आयो बसत आयो आयो बसत। वन मे महुआ टेसू फूलंत। नाचत है मोर अनेक भाँति, मनु भैंसा का पडवा फूल, फालि बेला फूले बन बीच बीच, मानो दही जमायो सीच सीच, बहिचलत भयो है मन्द पौन, मनु गदहन को छान्यो पैर।

विचक्षणा से वाक्युद्ध करता हुआ वह उपमान भी ऐसे लाता है जो हास्योत्पादन मे सहायक हैं—

विचक्षणा—तुम्हारे काव्य की उपमा तो ठीक ऐसी है जैसे लबस्तनी के गले मे मोती की माला, बडे पेटवाली को कामदार कुरती, सिरमुडी को फूलो की चोटी और कानी को काजल।

इस पर विदूषक भी तुलना करते हुए उपमानो की झडी लगाता है—

विदूषक—सच है और तुम्हारी कविता ऐसी है जैसे सफेद फर्श पर गोबर का चोथ, सोने की सिकडी मे लोहे की घटी और दरियाई की अँगिया मे मूँज की बखिया।

विदूषक की हास्योत्पादक उक्तियाँ कुछ भोंडी हैं, साहित्यिक नहीं। मूल में वे इतनी भद्दी नहीं हैं जितनी अनुवादक ने बना दी है। उक्त कथन मूल में इस प्रकार है—तुम्हारी कविता उसी तरह अच्छी लगती है जैसे सुवर्ण के कटिसूत्र में लोहे के घुंघरू, वस्त्र की उलटी ओर कसीदे का काम या गौर वर्ण वाली स्त्री के माथे पर लगा चंदन। विदूषक की हास्योक्तियाँ मार्मिक नहीं हैं एवं हास्य अत्यन्त साधारण है।

विदूषक को पेटू चित्रित करना संस्कृत नाटकों की परंपरा रही है। कपिंजल भी बड़ा पेटू है—उसे गेंदों में पकौड़ी दिखाई देती हैं, गोल फलों को वह लड्डू समझता है और खेतों को भातदालों से भरा पाता है। सभा से नाराज होकर वह कहता है कि हम अपनी ब्राह्मणी की चरणसेवा करेंगे। क्यों ?ताकि वह हमें गर्म-गर्म और अच्छा खाना खिलावे। तीसरे अंक में विदूषक राजा से कहता है कि राज्य से छूटा राजा, कुटुंब में फँसी बालरंडा, भूखा गरीब ब्राह्मण और विरह में पागल प्रेमी लोग मन के ही लड्डू से भूख बुझा लेते हैं। चौथे अंक में गर्मी की ऋतु में सुखदाई वस्तुओं को बताते हुए विदूषक कहता है कि "मुँह भर के पान, पानी से फूली हुई सुपारी और कपूर की धूर और मीठ-मीठा भोजन ही गर्मी में सुखद होता है।"

संस्कृत नाटकों का विदूषक एक प्रश्न उपस्थित करता है ? विदूषक एक ब्राह्मण है और वह पेटू है। कर्पूर मंजरी में भी वही परम्परा है। प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्राह्मणों के प्रति यह असम्मान क्यों जबकि सामाजिक रूप में ब्राह्मण-वर्ग को सबसे अधिक मान प्राप्त था। कुछ आलोचकों का कहना है कि ब्राह्मण-प्रभुत्व के प्रति नाटककारों की जो प्रतिक्रिया थी जो नाटक-रूप में प्राप्त होती है। सामाजिक रूप में ये नाटककार ब्राह्मणों का विरोध कर नहीं पाये थे। फलतः नाटक के रूप में उन्होंने अपनी दिल की खीज प्रकट की। ब्राह्मणों की अधिक खाऊ प्रवृत्ति पर भी यह कटाक्ष है जिसका अर्थ है अनेक ब्राह्मण केवल खाने से ही सम्बन्ध जोड़े रहते थे। संस्कृत नाटकों का यह विदूषक पेटू है और अपने को मूर्ख प्रकट करता है। इसकी मूर्खता के कारण कभी-कभी नायक बड़ी आफत में पड़ जाता है।[1] विदूषक का अर्थ ही है—भ्रष्ट, बिगड़ा हुआ।[2] हर्ष के सभी नाटकों में विदूषक पेटू है। रत्नावली में वह पेटू तो है ही, रनिवास के षड्यन्त्रों में लिप्त है। ये षड्यन्त्र रत्नावली की प्राप्ति के लिए होते हैं। इस सट्टक में भी विदूषक पेटू है। कर्पूर मंजरी के रचयिता राजशेखर भी क्षत्रिए बताए गए हैं जिन्होंने ब्राह्मणी से विवाह किया था।

---

१. विक्रमोर्वशीय एवं रत्नावली।

२. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभम् (१९२८), पृ० १७ एवं जागीरदार-कृत ड्रामा इन संस्कृत लिट्रेचर (१९४७), पृ० ६१

महाकवि कालिदास के नाटकों में भी यह पेटू विदूषक दर्शन देता है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में तो वह मांसाहारी भी है। भास के नाटकों में भी विदूषक प्राप्त होता है। भासकृत अविमारक नाटक में विदूषक की तुलना अशिष्ट वेश्या से की गई है और उसे अपण्डित कहा गया है। इससे यह प्रकट होता है कि नाटककारों ने ब्राह्मणों की हँसी उड़ाने के लिए, विशेषत खाली बैठे पेट बढ़ाने के लिए, इस पात्र की नाटकों में अवतारणा की थी।

सट्टक का विदूषक भी अन्य सस्कृत नाटकों के अनुरूप है। वह नायक का सखा और सहायक है। यदि वह इस सट्टक में न होता तो राजा को कर्पूर मजरी मिलती इसमें बड़ा सदेह है। वह भैरवानन्द को बताता है कि विदर्भराज की पुत्री को मँगाइए। राजा के वियोगाग्नि में जलने और तड़पने पर वही दासी विचक्षणा के हाथ नायिका की पत्री मँगाता है, राजा को केले के कुंज में बिठाकर वह कर्पूर मजरी के रूप-रस का पान करवाता है। जब राजा कर्पूर मजरी के पास जाता है तो दीपक बुझा देता है, कर्पूर मजरी पहरे में है इसकी सूचना भी वही राजा को देता है एव अन्त में पुरोहित बनकर विवाह करा देता है। इस प्रकार सट्टककार ने विदूषक को नाटक का एक आवश्यक पात्र बनाने का प्रयास किया है।

सस्कृत प्रेम-नाटकों में यही पात्र राजा या नायक को विलास की ओर ले जाने के लिये उत्तरदायी है। यही उसकी शृगार-क्रीडाओं एवं प्रेयसी-प्राप्ति में सहायक बनता है। यहाँ भी यही हुआ है। राजा जब छिपकर झूलती स्त्रियों को देख रहा है तो विदूषक उन स्त्रियों के उछलते यौवन, उचकते उर, लचकती लक, उघरती भुजमूल, फहरते आचल, हिलते पयोधर का शृगारिक वर्णन करता है। मध्ययुगीन स्त्रैण राजाओं के मुसाहिबों के समान यह राजा की शृंगारिकता और कामुकता को उत्तेजित करता है। जब राजा कर्पूर मजरी के कक्ष में पहुँचता है तो विदूषक दीपक बुझाकर कहता है "ह ह ह ह! बडा आनन्द हुआ। दिया गुल पगडी गायब। अब बडा आनन्द होगा। महाराज। देखिए कुछ अधेर न हो।" जब राजा अपनी पहली रानी को भी मान देता है और उसकी प्रशसा करता है तो विदूषक कर्पूर मजरी को श्रेष्ठतर सिद्ध करता हुआ कहता है —

जदपि उतै रूपादि गुन सुन्दर मुख तन वेस।
पै इत जोवन नृपति की महिमा मिली विसेस। (पृ० ३६४)

पुरुष पात्रों में नायक के बाद, इस प्रकार, वही सबसे महत्त्वपूर्ण है।

भैरवानन्द

भैरवानन्द शैव तान्त्रिक सिद्ध पुरुष है। इस पात्र के द्वारा लेखक ने नवीं-दशवीं शताब्दी में फैले तान्त्रिक साधुओं का चित्रण किया है। उस काल में

ऐसे साधु बड़ी संख्या में इधर-उधर घूमते थे और राजकुलों को, उच्चवर्गीय स्त्रियों को अपने प्रभाव में लाकर जनता को आतंकित करते थे। नाटककार ऐसे साधुओं की अलौकिक शक्तियों पर विश्वास करता है और भैरवानन्द द्वारा कर्पूर मंजरी को पकड़ मँगवाता है एवं काष्ठ को वृक्ष बनवा देता है। विदूषक के समान भैरवानन्द जैसे साधुओं की सिद्धियाँ भी विलासी राजाओं की कामुकता को बढ़ाने में सहायक होती थी। राजा के कहने पर भैरवानन्द एक स्नान करती राजकुमारी को मंत्र-बल से खींच कर सभा में ला खड़ा करता है। इन साधुओं की तांत्रिक सिद्धि देश या समाज में विदेशों की सम्पत्ति खींच कर लाने में प्रयुक्त नहीं होती—और न विदेशी शत्रुओं को पछाड़ने में; वरन् प्रयुक्त होती है एक भोली-भाली निरीह बालिका को पकड़ मँगवाने में। वह बड़े गर्व से कहता है कि हम न तो मन्त्र जानते हैं न तन्त्र, न जोग, न ज्ञान। हमें सिद्धि गुरु के प्रसाद से प्राप्त हुई है। उसके कहने में स्पष्ट झलकता है कि हम पढ़े-लिखे नहीं हैं, न ज्ञान-वैराग्य की ओर जाते हैं। बस हमारे पास सिद्धियाँ हैं। तुम हमारे शिष्य बनो। साथ ही वह यह भी कहता है कि मैं शराब पीता हूँ, मांस खाता हूँ और परनारियों से सहवास करता हूँ। नाटककार ने इस साधु को अपढ़ अघोरी साधु के रूप में दिखाया है। नाटककार उस समय घूमने वाले ऐसे मद्यपी, लम्पट, पतित साधुओं को सामने लाता है जो सिद्धियों का चमत्कार दिखाते फिरते थे। पता नहीं क्यों डा० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल ने इस साधु को परोपकारी साधु मान लिया है।[1] यह क्या उपकार करता है? यही न कि, एक निरीह राजकन्या को स्नान करते समय पकड़ मँगाता है, वह भी एक लम्पट राजा के लिए। दूसरा उपकार वह करता है कि सती-साध्वी-प्रधान महिषी को धोखा देकर इस नवयौवना का विवाह अधेड़ लम्पट राजा से कराता है। इसी चमत्कार शक्ति को लिए ये साधु प्रभाव-क्षेत्र को ढूंढते फिरते थे। तभी तो प्रथम जवनिका में भैरवानन्द अचानक आ टपकता है और बिना पूछे अलौकिक शक्ति का स्तवन करता है। रानी उसकी शिष्या बन जाती है। भैरवानन्द इस नाटक-शकट की धुरी है। वही नाटकीय घटनाओं को मोड़ता है। कर्पूर मंजरी को वही लाता है और विवाह भी वही कराता है।

कर्पूर मंजरी

नाटककार ने नायिका का नाम अत्यन्त मनमोहक रखा है—कर्पूर मंजरी। स्वयं नाम में आकर्षण और सरसता है। कर्पूर से सुगंध और मंजरी

---

१. भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य (प्र० सं०), पृ० १३६

से कोमलता, स्निग्धता और सौन्दर्य का सर्व निरूपण है। ऐसी कर्पूर मंजरी ही इस सट्टक की नायिका है। सट्टक एक प्रकार की नाटिका ही है। नाट्य-शास्त्र के अनुसार सट्टक या नाटिका की नायिका राजवंश की कन्या मुग्धा, नई अवस्था वाली एवं मनोहर रूप वाली होगी। उसमें नायक का अनुराग उत्पन्न होगा। ये सब लक्षण कर्पूर मंजरी में प्राप्त होते हैं। वह राजकुमारी है। वह मुग्धा और मनोहारिणी है। यह तथ्य राजा की उन उक्तियों से प्रकट है जो वह कर्पूर मंजरी को देखकर कहता है--

मनोहरता—अहाहा! ऐसे रूप का खजाना लुट गया, नेत्र कृतार्थ हो गए, यह रूप, यह जोबन, यह चितवन, यह भोलापन, कुछ कहा नहीं जाता।

मुग्धत्व—भीगे वस्त्र से छोटे-छोटे इसके कठोर कुच अपनी ऊंचाई और श्यामताई से यद्यपि प्रत्यक्ष हो रहे हैं तो भी यह उन्हें बांह से छिपाना चाहती है, और ऐसे ही गोरी-गोरी जांघें इसके चिपके हुए भीगे वस्त्र से यद्यपि चमकती हैं तो भी यह उनको दबाए देती है, परन्तु इसी यत्न के उलटने से यह लजाकर सकपकानी-सी भी हो रही है। उसमें नर अनुराग तुरन्त उत्पन्न होता है। वह सकपकानी-सी होकर राजा को देखती, आप-ही-आप कहती है—यह कौन पुरुष है जिसकी देह गंभीर और मधुर छवि का मानो पुंज है।

सट्टककार ने कर्पूर मंजरी को सुन्दरता का सागर सिद्ध किया है। राजा उसे प्रथम बार देखकर कहता है—अहाहा! ऐसे रूप का खजाना लुट गया, नेत्र कृतार्थ हो गए...इसकी छवि तो आप ही कुन्दन की निन्दा करती है तो गहने से इसे क्या? फिर हम कुछ झूठ नहीं कहते, सुनो देखो, यह बिना आभूषण भी अपने गुणों से भूषित है। जो स्त्रियां ऐसी सुन्दर हैं उन पर पुरुष को आसक्त कराने में कामदेव को अपना धनुष नहीं चढ़ाना पड़ता (अंक १)। शृंगारी नायकों की कामुकता को उद्दीप्त करने वाला विदूषक भी कर्पूर मंजरी को देखकर कह उठता है—सच है, अहाहा! वाह रे इसके रूप की छवि, इसकी कमर एक लड़का भी अपनी मुट्ठी में पकड़ सकता है...। रानी भी उसकी सुन्दरता की प्रशंसा करती हुई कहती है—सच है, बिना शशिप्रभा के और ऐसी सुन्दर लड़की किसकी होगी! आगे राजा, विदूषक और दासी विचक्षणा नायिका के अंग-प्रत्यंग और वस्त्राभूषण के आकर्षण का वर्णन करते हैं।

यह सौन्दर्य की प्रतिमा स्नेही हृदय से युक्त है। गुणों में उसके पास कविता करने की कला मौजूद है। अपने वियोग-भरे हृदय की व्यथा को वह कविता-बद्ध पत्र में भरकर भेजती है। वह राजा को देखते ही कामबाण से आहत हो जाती है। संस्कृत प्रेम-नाटकों में नायक और नायिका एक-दूसरे को देखकर तुरन्त आसक्त हो जाते हैं। नायिका यह भी नहीं देखती कि नायक की अन्य एकाधिक पत्नियां पहले से उपस्थित हैं। कर्पूर मंजरी पकड़ी जाती है, वह भी स्नान करते समय। सभा में आकर उसे क्रोध प्रकट करना चाहिए था।

इसके विपरीत वह राजा को देखकर कहती है "यह कौन पुरुष है जिसकी देह गम्भीर और मधुर छवि का मानो पुंज है।" बात यह है कि संस्कृत नाटककारों का ध्यान रस पर रहता है, चरित्र पर नहीं।

रानी विभ्रमलेखा—

इस सट्टक के पात्रों में रानी विभ्रमलेखा सर्वोत्तम पात्र है। नाट्यशास्त्र के अनुसार रानी विभ्रमलेखा स्वकीया ज्येष्ठा नायिका है। रानी विभ्रमलेखा सुन्दरी और गुणवती दोनो है। विदूषक रानी के रूप और गुण की प्रशंसा करता हुआ कहता है—

जदपि उतै रूपादि गुन सुन्दर मुख तन केस। (२-३६४)

राजा भी, रानी की निपुणता की सराहना करता है—

पै उत चतुराई अधिक प्रगट न रस व्यौहार।

रानी कवयित्री भी है और वसंत पर अच्छी कविता पढकर सुनाती है। वह कविता-पारखी भी है। वह विचक्षणा से कहती है—"सखी विचक्षणे, हम लोगों के आगे तो तूने अपना बनाया काव्य कई बेर पढ़ा है।" उसका हृदय स्नेह से सम्पन्न है। कर्पूर मंजरी को सहसा देखकर वह एक अनजानी लड़की को स्नेह से बुलाकर अपने पास बिठाती हैं और उसे जब यह ज्ञात हो जाता है कि वह उसकी मौसेरी बहन है तो उसे १५ दिन के लिए रोकती है। पतिपरायण पत्नी है। पति के ऊपर उसका रोम-रोम न्योछावर है। जब भैरवानन्द कहता है कि यदि घनसार मंजरी (कर्पूरमंजरी) राजा को मिल जाय तो चक्रवर्ती-पद भी मिल जाएगा, तब वह कर्पूर मंजरी का विवाह राजा से करा देती हैं। कैसी भोली है वह! ऐसी सरल-हृदयता को छलना राजा के लिए उचित न था। कर्पूर मंजरी ने रानी विभ्रमलेखा को पार्वती-सदृश बताया था। रानी को देखकर कर्पूर मंजरी कहती हैं—"महादेव के अंग में पार्वती की भाँति निश्चय इसकी प्यारी महारानी है।" (३-३८१) राजा तो महादेव नहीं है, हां, रानी अवश्य पार्वती है।

रानी के चरित्र में सौतिया-डाह डालकर कवि ने उसके चरित्र में स्वाभाविकता भरी है। वह कर्पूर मंजरी पर राजा को आसक्त देखकर कर्पूर मंजरी पर कड़ा पहरा बिठा देती है। वह रनिवास की स्वामिनी है और राजा एवं विदूषक दोनों उससे डरते हैं। स्त्रियां चून की सौत भी सहन नहीं करती हैं, यही बात रानी के पक्ष में सत्य है। किन्तु जैसे ही उसे भैरवानन्द द्वारा बताया जाता है कि कर्पूर मंजरी के साथ चक्रवर्ती पद चिपटा पड़ा है तो वह छाती पर पत्थर रखकर सौत को सहती है।

अनुवाद क्यों हुआ ?

भारतेन्दुजी ने कर्पूर मंजरी का अनुवाद क्यों किया ? कालिदास और भवभूति को छोड इस सट्टक पर उनका ध्यान क्यों गया ? इसके पीछे चार कारण दिखलाई देते हैं—(१) हिन्दी मे सट्टक का उदाहरण प्रस्तुत करना था। (२) शृंगार रस से यह ओत-प्रोत है। भारतेन्दुजी की प्रेमी प्रवृत्ति के यह उपयुक्त नाटक है। फिर हास्यरस भी इसमे पर्याप्त है। (३) यह प्राकृत भाषा मे है। सस्कृत के अनेक अनुवाद ब्रजभाषा काल मे हो चुके थे और उस समय भी हो रहे थे किन्तु प्राकृत मे किसी ने भी अनुवाद नही किया था। (४) भारतेन्दुजी को नाटिका नामक रूपक भेद प्रिय था। 'रत्नावली नाटिका' का उन्होने अनुवाद किया। सट्टक भी इस प्रकार की नाटिका ही है। इसीलिए उन्होंने 'चन्द्रावली नाटिका' लिखी थी और अपूर्ण 'प्रेम जोगिनी' को भी वे नाटिका बनाने जा रहे थे।

चन्द्रावली नाटिका (१८७६)

भारतेन्दुजी के मौलिक नाटकों में 'चन्द्रावली नाटिका' को बडा मान मिला है। स्वय भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र को भी यह नाटिका अत्यन्त प्रिय थी। भारतेन्दुजी ने अपने व्यक्तित्व को चार नाटको में प्रतिबिम्बित किया है। 'प्रेम जोगिनी' मे उन्होंने अपने व्यक्तित्व एव वातावरण को स्थान दिया है, 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे उनके गुण प्रतिध्वनित हैं, 'भारत दुर्दशा' मे उन्होने अपने राजनैतिक एव सामाजिक विचार भरे हैं और 'चन्द्रावली' मे अपना हृदय खोलकर रख दिया है। भारतेन्दुजी इस नाटिका का अभिनय भी कराना चाहते थे,[1] पर न जाने क्यों यह कार्य वे न करा सके। बाबू साहब के परम स्नेही, भरतपुर के महाराज रावकृष्ण देव शरण ने 'चन्द्रावली' का अनुवाद ब्रजभाषा मे किया एव प० गोपाल शास्त्री उपामनी ने संस्कृत मे।

चन्द्रावली अत्यन्त सरस नाटिका है तथा इसमे आदि से अन्त तक रस की मनमुग्धकारी सरिता प्रवाहित है। ऐसे ही नाटकों को 'दृश्य-काव्य' कहना उचित है। आरम्भ से अन्त तक गद्य (८०७ पक्तियां) और पद्य (४५६ पक्तियाँ) के रूप मे कमनीय कविता-कामिनी इठलाती-इतराती, रोती-हँसती, उछलती-कूदती, सोती-जागती थिरककर आगे बढती जाती है। हम इसे काव्य-

---

१. हरिश्चन्द्र : शिवनन्दन सहाय, प्र० सं०, पृ० १८३

नाटक भी कह सकते हैं क्योंकि इसमें काव्य की प्रधानता है। इसके पढ़ने में ऐसा ही आनन्द आता है मानो हम किसी काव्य-ग्रन्थ को पढ़ रहे हों।

वस्तु-विधान

कथा—

अंक १—चन्द्रावली, कृष्ण से प्रेम करने लगी है। वह अपने नवानुराग को छिपाने के प्रयास में गंभीर, अन्यमनस्क एवं उदासीन रहने लगी है। उसे ऐसा देखकर उसकी सखी ललिता पूछती है—सखी, क्यों तू सदा खोई-सी रहती है? चन्द्रावली पहले तो इधर-उधर की बातें बना कर मन के भेद को छिपाना चाहती है किन्तु पुनः ललिता पर अपने प्रेम का रहस्य प्रकट कर देती है और बताती है कि मेरे मन को श्याम के मनमोहक रूप ने हर लिया है। वह कृष्ण को, अपने नयनों को और मन को उलाहना देती है, रोती है और लजाती है।

अंक २—चन्द्रावली एकांत में अपने विरह-दग्ध मन से बातें करती है, कृष्ण को बारंबार उपालंभ देती है और आंसू बहाती है। कृष्ण के ध्यान में वह इतनी खोई हुई है कि वनदेवी, संध्या और वर्षा के शब्द उसके कानों के पार नहीं पहुँचते हैं। उस पगली को अपने तन-मन की सुधि ही नहीं है। पूरे अंक में चन्द्रावली अपना विरह-तप्त हृदय खोलकर रखती है। अंकावतार में संध्या, चन्द्रावली का पत्र कृष्ण के पास लेकर चलती है। बैलों के दौड़ने से संध्या दौड़ती है और पत्र अनजाने ही भूमि पर गिर पड़ता है। चम्पकलता इस पत्र को पाती है और ले जाकर कृष्ण को दे देती है।

अंक ३—चन्द्रावली की सखियाँ झूल रही हैं। उन्हें झूले के हर्ष में डूबी देख चन्द्रावली दुखी होती है। वह विरह में कलपती और तड़पती है, प्यारे को उपालंभ देती है और रोती है। सखियाँ चन्द्रावली की ऐसी दशा देखकर उपाय खोजती हैं। माधवी राधाजी को मनाने का उत्तरदायित्व लेती हैं, काम मंजरी कृष्ण को बुला लाने का भार सँभालती है और विलासिनी चन्द्रावली के घरवालों को सीधा करने को उद्यत होती है।

अंक ४—कृष्णजी जोगिन का वेश बनाकर चन्द्रावली के निकट आते हैं। वे प्रेम और विरह का गीत गाते हैं एवं चन्द्रावली से गवाते हैं। चन्द्रावली कसक-भरा गीत गाती है, गाते-गाते बेसुध हो जाती है और कृष्ण उसे हाथों में सँभाल कर गले से लगाते हैं। जुगल-जोड़ी की आरती उतारी जाती है।

वस्तु-विन्यास

प्रस्तावना—

(१) नादी—संस्कृत नाटकों का प्रारम्भ नांदीपाठ से होता था। इस नांदीपाठ को कौन कहता था, इस पर मत-विभिन्नता है। भरतमुनि अपने नाट्य-

शास्त्र में कहते है कि सूत्रधार ही मध्यम स्वर से नादीपाठ करे।[1] संस्कृत नाटको में सूत्रधार रगमंच पर आकर नादीपाठ बन्द करने की आज्ञा देता है।[2] एक ओर भरतमुनि का कथन है कि सूत्रधार नादीपाठ करे, दूसरी ओर संस्कृत नाटको मे सूत्रधार आकर नादीपाठ को रोकता है, यह विरोध कैसा? श्री विल्सन ने इसका समाधान इस प्रकार किया कि सूत्रधार, ब्राह्मण-रूप में पर्दे के पीछे से नादीपाठ करता था और अधिकारी रूप से तुरन्त बाहर आकर नादीपाठ को रोकता था।[3] डा० कीथ भी इससे सहमति प्रकट करते दिखाई पडते है।[4] किन्तु साथ ही वे यह भी कहते है कि नादीपाठ सूत्रधार के अतिरिक्त अन्य कोई पात्र भी कर सकता है। उनका यह भी मत है कि सम्भवत. नादी कोई नट होता था।[5]

भारतेन्दुजी ने अपने नाटको मे नादीपाठ की परम्परा को स्थान दिया है। चन्द्रावली में एक ब्राह्मण आकर नादीपाठ करता है। भारतेन्दुकालीन अन्य अनेक नाटककारो ने भारतेन्दुजी के मत से प्रभावित हो ब्राह्मण द्वारा नादीपाठ कराया है।[6] 'चन्द्रावली नाटिका' मे ब्राह्मण आकर दो दोहे पढता है यह अष्टपदी नादी है। पहला दोहा—"भरित नेह नव नीर नित......" मुद्राराक्षस प्रेमजोगिनी, कर्पूर मंजरी और चन्द्रावली के नादीपाठ मे प्राप्त होता है। इससे अनुमान होता है कि यह दोहा भारतेन्दुजी को इतना प्रिय था कि मौलिक नाटको मे ही नही, अनूदित नाटको मे भी इसे स्थान मिल गया है। किन्तु इसका सबसे उचित और सुन्दर स्थान, चन्द्रावली नाटिका का नादीपाठ ही है, यह इस दोहे के अर्थ मे स्पष्ट है। यह आशीर्वादात्मक है (जयति अलौकिक धन कोऊ) और दूसरे मे भगवान् कृष्ण की स्तुति की गई है। स्तुति करते हुए कवि भगवान् कृष्ण से कल्याण मांगता है (श्रीकृष्ण करो कल्यान)। दोनों दोहों से नाटिका की कथा का सकेत भी मिलता है। ऐसा सकेत देने वाले पद है—भरित नेह नव और चन्द्रावली चकोर श्रीकृष्ण। दोनो मे चकोर, चन्द्र और मोर शब्द भी उपयुक्त हैं। इस प्रकार संस्कृत नाट्यशास्त्र मे कथित नादी-

---

१. नाट्यशास्त्र (निर्णयसागर प्रकाशन) ५-१०७

२. वेणीसंहार, मुद्राराक्षस, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम्, उत्तररामचरितम्, रत्नावली, नागानंद, प्रबोध चन्द्रोदय।

३. द थियेटर आफ द हिंदूज। (प्र० सं०), पृ० २१।

४. संस्कृत ड्रामा : कीथ (१९२४), पृ० ३४४

५. वही, ३४३

६. अभिमन्यु (शालिग्राम शास्त्री), मोरध्वज (शालिग्राम शास्त्री), पुरुविक्रम (शालिग्राम शास्त्री), सती चरित्र नाटक (हनुमंतसिंह रघुवंशी)।

पाठ के प्राय. सभी लक्षण मिल जाते है। नाट्यशास्त्रानुसार नांदी के लक्षण हैं—

> आशीर्वचन संयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
> देवद्विज नृपादीना तस्मान्नान्दीति सज्ञिता ॥ (सा० द० ६-२४)
> मंगल्य शखचन्द्रावन कोककैरवशंसिनी।
> पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरत ॥ (सा० द० ।६-२५)

अर्थ—नादी में देव, द्विज एव राजा इत्यादि की आशीर्वादयुक्त स्तुति इसमें होती है। मागलिक वस्तु शख, चन्द्रकमल, चकवा इत्यादि का वर्णन होता है। इसमे १२ या ८ पद होते हैं। चन्द्रावली मे प्रयुक्त नांदी मे आठ पद हैं। आशीर्वाद है, देवस्तुति है, चन्द्र-चकोर, मोर शब्द प्रयुक्त हैं। साथ ही वस्तु-सूचना भी मिल जाती है।

प्रस्ताव—संस्कृत नाटकों की भाँति यहाँ भी प्रस्ताव किया जाता है कि किसी नाटक का अभिनय किया जाय।

पारिपार्श्वक—कहो, कहो, आज क्यो ऐसे प्रसन्न हो रहे हो। कौनसा नाटक करने का विचार है और उसमें ऐसा कौनसा रस है कि फूले नही समाते?

सूत्रधार—आ! तुमने अब तक न जाना? आज मेरा विचार है कि इस समय के बने एक नए नाटक की लीला करूँ, क्योंकि संस्कृत नाटकों को अपनी भाषा मे अनुवाद करके तो हम लोग अनेक बार खेल चुके है, फिर बारम्बार उन्ही के खेलने को जी नही चाहता।

कवि-परिचय—

पारि०—तुमने बात तो बहुत अच्छी सोची, वाह क्यों न हो, पर यह तो कहो कि यह नाटक बनाया किसने है?

सूत्र०—हम लोगों के परम मित्र हरिश्चन्द्र ने।

पारि०—(मुँह फेर कर) किसी समय तुम्हारी बुद्धि मे भी भ्रम हो जाता है। भला वह नाटक बनाना क्या जानें। वह तो केवल आरम्भ शूर है, और अनेक बड़े-बड़े कवि हैं, कोई उनका प्रबंध खेलते।

सूत्र—(हँसकर) इसमे तुम्हारा दोष नही, तुम तो उससे नित्य नही मिलते। जो लोग उसके संग मे रहते हैं वे तो उसको जानते ही नही, तुम बेचारे क्या हो। आगे सूत्रधार कवि के गुणों का वर्णन करते हुए कहता है—

> परम प्रेमनिधि रसिकवर, अति उदार गुन खान।
> जग जन रंजन आशु कवि, को हरिश्चन्द समान ॥
> जिन श्री गिरिधर दास कवि, रचे ग्रंथ चालीस।
> ता सुत श्री हरिश्चन्द को, को न नवावै सीस ॥

जगत जिन तृन सम करि तज्यौ, अपने प्रेम प्रभाव।
करि गुलाब सों आचमन, लीजत ताको नाव॥
चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत के नेम।
यह दृढ श्री हरिश्चन्द को, टरै न अविचल प्रेम॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सूत्रधार के द्वारा अपनी नम्रता प्रकट की। (वह तो आरम्भ शूर है, और अनेक बड़े-बड़े कवि) और गर्वोक्ति भी की।

प्रस्तावनात—प्रस्तावना के अन्त मे 'प्रयोगातिशय'[1] नामक आमुख है क्योकि सूत्रधार शुकदेव नामक पात्र के आगमन का वर्णन करता हुआ कहता है—अहा! वह देखो मेरा प्यारा छोटा भाई शुकदेवजी बनकर रगशाला मे आता है और हम लोग बातो ही से नही सुलझे।"

नाटिका मे चन्द्रावली और कृष्ण के पूर्वराग, विरह और मिलन की अधिकारिक या मुख्य कथा है। कोई प्रासगिक कथा नही, न पताका, न प्रकरी। झूले की कथा प्रकरी का पूरा रूप नही ले पाती। सधियो एवं सध्यगो का निर्वाह हुआ है।

संधियाँ

मुखसधि—प्रथम अक मे

बीज[2] (अर्थ प्रकृति)

नारद—विशेष किसका कहूँ और न्यून किस का कहूँ, एक से एक बढकर है। श्रीमति की कोई बात ही नही, वे तो श्रीकृष्ण ही हैं, लीलाएँ दो हो रही हैं, तथापि सब गोपियों मे श्री चन्द्रावलीजी के प्रेम की चर्चा आजकल व्रज के डगर-डगर मे फैली हुई है। अहा! कैसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता-पिता भाई-बधु सब निषेध करते हैं और उधर श्रीमतिजी का भी भय है, तथापि श्रीकृष्ण से जल मे दूध की भाँति मिल रही हैं। लोकलाज, गुरुजन कोई बाधा नही कर सकते। किसी उपाय से श्रीकृष्ण से मिल ही रहती हैं।

शुकदेव—धन्य है, धन्य है! कुल को, वरन् जगत् को अपने निर्मल प्रेम से पवित्र करने वाली हैं।

---

१. प्रयोगातिशय—जब सूत्रधार के प्रयोग के साथ प्रस्तावना होते ही दूसरा नाट्य प्रयोग प्रारंभ हो जाय और सूत्रधार कहे कि लो यह प्रयोग ना प्रारंभ हो गया है वहाँ प्रयोगातिशय होता है।

२. यह सूक्ष्म सकेत जो आगे अनेक रूपों में विस्तार पाता है।

चन्द्रावली एवं कृष्ण का प्रेम बीज है जो यहाँ उपक्षिप्त हो गया है और फल है दोनों का मिलन। आरम्भ कार्य अवस्था—ललिता के पूछने पर चन्द्रवली मनका भेद बता देती है। पुनः नेत्रों को दोष देती हुई देखने की उत्सुकता प्रकट करती हुई कहती है—

चन्द्रावली सखी मैं क्या करूँ, मैं कितना चाहती हूँ कि वह ध्यान भुला दूँ पर उस निष्ठुर की छवि भूलती नहीं, इसी से सब जान जाते हैं।

मुखसंधि के अंग

उपक्षेप[1]—बीज अर्थ प्रकृति के अन्तर्गत दिया हुआ नारद का कथन।

परिकर[2]—ललिता और चन्द्रावली का अकारम्भ का सवाद जिसमे बीज का फैलाव होता है।

परिन्यास[3]—चन्द्रावली—सखी, मैं क्या करूँ, मैं कितना चाहती हूँ कि वह ध्यान भुला दूँ, पर उस निठुर की छवि भूलती नहीं, इसीसे सब जान जाते हैं।

युक्ति[4]—चन्द्रा०—और फिर इसका हठ ऐसा है कि जिसकी छवि पर रीझते हैं उसे भूलते नहीं, और कैसे भूलें, क्या वह भूलने के योग्य है, हा!

नैना वह छवि नाहिन भूले।
दया भरी चहुँ दिसि की चितवनि नैन कमल दल फूले।
वह आवनि, वह हंसनि छबीली, वह मुसकनि चित चोरैं।
वह बतरानि, मुरनि हरि की वह, वह देखनि चहुं कोरैं। इत्यादि

समाधान[5]—चन्द्रा—नहीं, सखी, ऊपर से दुखी नहीं रहती पर मेरा जी जानता है जैसे रातें बीतती हैं।

मनमोहन तें बिछुरी जब सों तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
'हरिचन्द' जू प्रेम के फंद परी, कुल की कुल लाजहिं खोवती हैं।
दुखके दिन कों कोऊ भाँति बितै, बिरहागम रैन संजोवती हैं।
हम ही अपुनी दसा जानैं सखी, निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं।

उद्भेद[6]—ललिता—यह हो पर मैंने तुझे जब देखा तब एक ही दशा मे देखा और

---

१. बीजारोपण।
२. बीज का विस्तार।
३. बीज का निश्चित रूप में सामने आना।
४. युक्ति—बात के समाधान के लिए तर्क देना।
५. समाधान—कथा के प्रवाह में पुनः बीज का आगमन।
६. उद्भेद—छिपे बीज को सामने रखा जाय।

सर्वदा तुझे अपनी आरसी या किसी दर्पण मे मुँह देखते पाया पर वह भेद आज खुला।

हौं तो याही सोच मैं विचारत रही री काहे।
दरपन हाथ तें न छिन बिसरत है।
त्योंही 'हरिचंद जू' वियोग औ सयोग दोऊ
एक से तिहारे कछु लखि न परत है।
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात
तू तो परम पुनीत प्रेम-पथ विचरत है।
तेरे नैन मूरति पियारे की बसति, ताहि
आरसी में रैन दिन देखिबो करत है।

सखी ! तू धन्य है, बडी भारी प्रेमिन है और प्रेम शब्द सार्थक करने वाली और प्रेमियों की मडली की शोभा है।

चन्द्रा०—नही सखी ! ऐसा नही है। मैं जो आरसी देखती थी उसका कारण कुछ दूसरा ही है। हा (लम्बी सांस लेकर) सखी ! मैं जब आरसी मे अपना मुँह देखती और अपना रग पीला पाती थी तब भगवान् से हाथ जोडकर मनाती थी कि भगवान्, मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे, हा ! (आँसू टपकाते है)

प्रतिमुख सधि

प्रतिमुख सधि दूसरे अक मे है। पूरे अक मे कृष्ण-प्राप्ति रूप बीज अलक्षित है। अकावतार मे सध्या पत्र लेकर कृष्ण के पास जा रही है। बीज लक्षित होता है। तभी साँडों के भय से सध्या दौड पडती है और पत्र गिर पडता है। बीज अलक्षित हो गया है। वह पत्र चपकलता के हाथ लगता है और वह पढ कर कहती है—"यह पत्र तो मै आप उन्हे जाकर दे आऊँगी और मिलने की भी विनती करूँगी।" बीज लक्षित हुआ। तभी एक वृद्धा सुनकर कहती है—"हाँ तू सब करैगी।" बीज अलक्षित होता है। इस प्रकार दूसरे अंक में अकावतार तक प्रतिमुख सधि की गति है।

मुखसधिअंग

बिन्दु—

पहले अंक मे चन्द्रावली, सखी ललिता के बहुत आग्रह पर अपने हृदय का प्रकाशन करती है और बताती है कि मैं कृष्ण को चाहती हूँ। मैं जो बार-बार आरसी देखती हूँ उसका कारण है कि अपने मुख का पीला रग देखकर मैं ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ कि भगवान् मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे। ललिता चन्द्रावली को बार-बार सराहती है और कहती है तू प्रेमियों के मडल को पवित्र करने वाली है। तभी दासी धमकाकर चन्द्रावली को माता

के पास लिवा ले जाती है।

दूसरे अंक का चन्द्रावली का आरम्भिक कथन जो कृष्ण-प्रेम और तज्जन्य विरह का प्रकाशन करता है, पहले अंक से जोड़ता है। अत. यह कथन 'बिन्दु' है।

प्रयत्न—

चन्द्रावली—देखो, दुष्ट का, मेरा तो हाथ छुड़ा कर भाग गया। अब न जाने कहाँ खड़ा वंसी बजा रहा है। अरे छलिया कहाँ छिपा है ? बोल, बोल कि जीतेजी न बोलेगा ? (कुछ ठहर कर) मत बोल, मैं आप पता लगा लूँगी (वन के वृक्षों से पूछती है एव एक-एक पेड़-से जाकर गले लगती है)—(वन देवी के सीटी बजाने पर...)

चन्द्रावली—अहा ! देखो उधर खड़े प्राणप्यारे मुझे बुलाते हैं तो चलो उधर ही चलें।

वनदेवी (हाथ पकड़ कर) कहाँ चली सजि कै ?

चन्द्रावली—प्यारे सों मिलन काज।

प्रयत्ननामक कार्य-अवस्था मे अत्यन्त औत्सुक्य में भरकर नायक, नायिका या मुख्य सहायक पात्र प्राप्ति मे बाधा देख त्वरा दिखलाता है। यहाँ चन्द्रावली परमोत्सुक हो कृष्ण को पाने के लिए दौड़ती-भागती है।

प्रतिमुख संधि के अंग

विलास[1]—चन्द्रा०—प्यारे ! देखो ये सब हँसती है—तो हँसें, तुम आओ, कहाँ वन मे छिपे हो ? तुम मुँह दिखलाओ, इनको हसने दो।

घारन दीजिए धीर हिए कुल कानि को आजु बिगारन दीजिए।
मारन दीजिए लाज सबै 'हरिचंद' कलक पसारन दीजिए॥
चार चवाइन को चहुँ ओर सों सोर मचाइ पुकारन दीजिए॥
छाड़ि, सकोचन चंद मुखै भरि लोचन आजु निहारन दीजिए॥

परिसर्प[2]—चं०—देखो दुष्ट का, मेरा तो हाथ छुडाकर भाग गया, अब न जाने कहाँ खड़ा वसी बजा रहा है। अरे छलिया, कहाँ, छिपा है ? बोल बोल कि जीते जी न बोलेगा (कुछ ठहकर) मत बोल, मैं आप पता लगा लूंगी। (वन के वृक्षों से पूछती है) अरे वृक्षो बताओ तो मेरा लुटेरा कहाँ छिपा है ? क्यों रे मोरो, इस समय नही बोलते नही तो रात को बोल बोल के प्राण खाए जाते थे। कहो, न वह कहाँ छिपा है ?

विधूत[3]—चं०—परन्तु प्यारे ! तुम तो सुनने वाले हो ? यह आश्चर्य है कि

---

१. विलास—नायक या नायिका की मिलन-उत्कंठा।
२. परिसर्प—दिखलाई पड़े, बीज ओझल होने पर उसकी खोज।
३. विधूत—नायक या नायिका की अवाप्ति से दुख। (दशरूपक एवं साहित्य-दर्पण)

तुम्हारे होते हमारी यह गति हो, प्यारे ! जिनको नाथ नहीं होते, वे अनाथ कहाते हैं। (नेत्रों में आँसू गिरते हैं) प्यारे, जो यही गति करनी थी तो अपनाया क्यों ?

पहिले मुसुकाइ लजाइ कछू क्यों चितै मुरि मो तन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइ कै प्रीति निबाहन को क्यों कलाम कियो ॥
'हरिचंद्र' भए निरमोही इतै निज नेह को यो परिनाम कियो।
मन मांहि जो तोरन ही की हुती अपनाइ कै क्यों बदनाम कियो ॥

तापन[1]—बिछुरे पिय के जग सूनो भयो, अब का करिए कहि पेखिए का।
सुख छांडि कै संगम को तुम्हरे, इन तुच्छन को अवलेखिए का ॥
'हरिचंद जू' हीरन को व्यवहार कै, कांचन को लै परेखिए का।
जिन आँखिन मे तुव रूप बस्यो, उन आँखिन सों अब देखिए का ॥

प्रगमन[2]—

व०—(हाथ पकड़ कर) कहाँ चली सजि कै ?
च०—पियारे सो मिलन काज—
व०—कहाँ तू खडी है ?
चं०—प्यारे ही को यह धाम है।
व०—कहा कहै मुख सो ?
च०—पियारे प्रानप्यारे---
व०---कहा काज है ?
चं०—पियारे सो मिलन मोहि काम है।
व०—मैं हूँ कौन बोल तो ?
च०—हमारे प्रानप्यारे हो न ?
व०—तू है कौन ?
चं०—प्रीतम पियारो मेरो नाम है।
स०—पूछत सखी एकै कै उत्तर बतावति जकी सी
एक रूप आज स्यामा भई स्याम है।

नर्म[3]—

च०—आओ मेरे मोहन प्यारे झूठो।
अपनी टारि प्रतिज्ञा अपनी उलटे हमसों रूठे ॥
मति परसौ तन रगे और के रंग अधर तव जूठे।
ताहू पै तनिकौ नहिं लाजत निरलज अहो अनूठे ॥

पर्युपासना[4]—बोल। उलटा रूसना, भला अपराध मैंने किया कि तुमने ? अच्छा

---

१. प्रिय की अप्राप्ति से उत्पन्न दुख।
२. प्रगमन—उत्तर-प्रयुत्तर में उत्कृष्ट वचनों का प्रयोग।
३. नर्म—परिहास वचन।
४. पर्युपासना—अनुनय-विनय।

मैंने किया सही, क्षमा करो, आओ, प्रगट हो, मुँह दिखाओ।

पुष्प—चन्द्रावली—यह वर्षा है तो हा! मेरा वह आनद का घन कहाँ है? हा! मेरे प्यारे! प्यारे कहाँ बरस रहे हो? प्यारे गरजना इधर और बरसना और कही?

बलि साँवरी सूरत मोहनी मूरत
आँखिन को कवौं आइ दिखाइए।
चातक सी मरैं प्यासी परी
इन्हें पानिप रूप-सुधा कवौ प्याइए।
पीत पटै बिजुरी से कवौं
हरिचन्द जू धाइ इतै चमकाइए।
इतहू कवौं आइकै आनद के घन
नेह को मेह पिया बरसाइए॥

प्यारे! चाहे गरजो चाहे लरजो, इन चातकों की तो तुम्हारे बिना और गति ही नही है, क्योकि फिर यह कौन सुनेगा कि चातक ने दूसरा जल पी लिया, प्यारे! तुम तो ऐसे करुणा के समुद्र हो कि केवल हमारे एक जाचक के माँगने पर नदी-नद भर देते हो तो चातक के इस छोटे चचु-पुट भरने में कौन श्रम है।

उपन्यास[1]—

चपकलता अंकावतार मे पृथ्वी पर पड़े पत्र को पाकर पढ़ती है। भाषा शैली एवं पत्र के नीचे 'चन्द्र' के चिह्न को बना देखकर कहती है "अहा! जानी, निश्चय यह चन्द्रावली ही की चिट्ठी है जो हो, यह पत्र तो मैं आप उन्हे जाकर दे आऊँगी और मिलने की भी विनती करूँगी।" यहाँ बीज का उद्‌भेद हो गया है।

वज्र[2]—

चंपकलता के उक्त एकात कथन को सुनकर वृद्धा दासी कहती है, "हाँ तू सब करेगी।"

गर्भ-सन्धि

तीसरे अंक में गर्भसन्धि है। पताका एवं प्राप्त्याशा के मेल से गर्भसधि बनती है। किन्तु पताका अर्थप्रकृति का रहना अनिवार्य या आवश्यक नही है, वह रहे चाहे न रहे। तीसरे अंक मे पताका कथा नही है। सखियाँ झूल रही है। चन्द्रावली उन्हें झूलता देख रही है और दुख पाती है। यह पताका कथा नही है क्योंकि पताका कथा का एक नायक होना चाहिए एव वह कुछ स्वयं उपस्थित है और झूला प्रसंग का लक्ष्य वही है जो दूसरे अंक मे सखियों तथा चन्द्रावली

१. उपन्यास—बीज का सामने आना।
२. वज्र-ठोर वचन।

मे संवाद का था अर्थात् मुख्य कथा को अग्रसर करना। दूसरे में चन्द्रावली का विरह है तो तीसरे में भी। अत पताका कथा नही मानी जा सकती। गर्भ सन्धि में बीज छिप जाता है एवं उसको खोजा जाता है। इस सन्धि मे ऐसा प्रतीत होता है कि बीज बाधा के पीछे जा छिपा है, निराशा होती है किन्तु पुन आशा का अकुर फूट-सा जाता है। चन्द्रावली के तीसरे अंक मे चन्द्रावली अत्यन्त दु खी है। उसे कृष्ण-मिलन की कोई आशा नही है। उसे नजरबन्द कर दिया गया है, और उसके चारो ओर पहरा बिठा दिया गया है। वह रोती है, कलपती है, दुख भोगती है और कष्ट पाती है। सखियाँ तब उसे प्रिय से मिलाने का उपाय सोचती है।

कामनी—आओ हम तुम मिल कै सलाह करैं के अब का करनो चाहिए।

विला०—हाँ, माधवी तू ही चतुर है तू ही उपाय सोच।

माधवी—सखी, मेरे जी में तो एक बात आवै। हम तीनि हैं सो तीनि काम बाँट लैं। प्यारी जू के मनाइबे को मेरो जिम्मा। यही काम सबमे कठिन है और तुम दो उन मैं सो एक याके घरकेन सो याकी सफाई करावै और एक लाल जू सो मिलिबे को कहै।

काम—लालजी सो मैं कहूँगी। मैं बिन्नै बहुती लजाऊँगी और जैसे होयगो वैसे यासो मिलाऊँगी।

विला—सो प्रियाजी को जिम्मा तेरी हुई है।

माधवी—हाँ हाँ प्रियाजी को जिम्मा मेरो।

माधवी—भयो, फेर का। सखी काहू बात को सोच मति करै। उठि।

यहाँ प्राप्त्याशा नायक कार्य्य-अवस्था है।

मर्मसंधि के अंग

मार्ग[1]—कामिनी—

पर तुझ को तो बटे कृष्ण का अवलम्ब है, न फिर तुझे क्या

भाँडीर वट के पास उस दिन खडी बात कर रही थी, गए हम—

माधुरी—और चन्द्रावली ?

कामिनी—हाँ, चन्द्रावली बिचारी तो आप ही गई-बीती है, उसमे भी अब तो पहरे मे है, नजरबन्द रहती है।

रूप[2]—

चन्द्रावली—हाय प्यारे यह दशा होती है और तुम तनिक नहिं ध्यान देते। प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम तुम कहाँ ? प्यारे यह संजोग हमको तो अब की ही बना है, फिर यह बातें दुर्लभ हो जाएँगी। हाय नाथ मैं अपने इन

---

१. मार्ग—सत्य या वास्तविकता का प्राकट्य।

२. तर्क-वितर्कयुक्त कथन।

मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगें कैसे निकालूं ? प्यारे रात छोटी है और स्वाँग बडा बहुत है। जीना थोड़ा और उत्साह बडा। हाय, मुझमी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नहीं... (इत्यादि)

निर्वहण संधि

चन्द्रावली के चौथे अंक में निर्वहण संधि व्याप्त है। निर्वहण संधि में मुख सधि द्वारा फैली कथा निर्वहण में सिमट जाती है, बीज अब सामने आकर अनेक भावों की शृंखला मे बँध कर फल प्राप्ति में समाहित हो जाता है। प्रथम अक से उठी चन्द्रावली की प्रेम-कथा कृष्ण—चन्द्रावली मिलन रूपी फल में समाहित यहाँ ही होती है तथा अनेक भावों का दिग्दर्शन इस अंक में हुआ है। निर्वहण संधि मे कार्य तथा फलायोग का योग होता है। जिसकी सिद्धि के लिए मुखसंधि में कथा चलती है, वह विशेष कथास्थल सामने आकर फलागम को सामने लाने के लिए प्रस्तुत होता है। कृष्ण का जोगिन बन कर आना और अलख जगाना 'कार्य' नामक अर्थप्रकृति है तथा कृष्ण और चन्द्रावली का गलबाँही देना फलागम है।

निर्वहण संधि के अंग

सधि[1]—जोगिन—अलख-अलख ! आदेश गुरु को, अरे कोई है इस घर में ? कोई नहीं बोलता ! क्या कोई नहीं है ? तो अब मैं क्या करूँ ? बैठूं। क्या चिन्ता है। फकीरों को कहीं कुछ रोक नहीं। उसमे भी हम प्रेम के जोगी तो अब कुछ गावैं।

> जोगिन प्रेम की आई।
> नेह नगर मे अलख जगावत गावत विरह बधाई।
> हाथ सरंगी लिये बजावत प्रेमिन प्रान प्यारी।

'प्रान प्यारी' से चन्द्रावली का सकेत है।

बिबोध[2]—चन्द्रावली—(आप ही आप) हाय ! हाय ! इसकी कैसी मीठी बोलन है जो एक साथ जी को छीने लेती है। जरा से झूठे क्रोध से जो इसने भौहें तनेनी की हैं वह कैसी भोली मालूम पडती है। हाय ! प्राननाथ कहीं तुम्ही तो जोगिन नहीं बन आए हो।

ग्रथन[3]—जोगिन—(आप ही आप) निस्सन्देह इसका प्रेम पक्का है, देखो मेरी सुधि आते ही इसके कपोलो पर कैसी एक साथ जरदी दौड़ गई। नेत्रों में आँसुओं का प्रवाह उमड आया... अब तो मुझसे नहीं रहा जाता। इससे मिलने को अब तो सभी

---

१. संधि बीज का सामने आना।
२. विबोध—कार्य (मुख्य फल) का अन्वेषण एवं उसकी मीमांसा।
३. ग्रथन—कार्य (मुख्य फल) का दिखाई पडना।

अंग व्याकुल हो रहे हैं।

परिभाषण[1]—चन्द्रा०—पर नाथ ऐसे निठुर क्यों हैं। अपनों को तुम कैसे दुखी देख सकते हो।

आनन्द[2]—ललिता (बड़े आनन्द से) सखी बधाई है, लाखन बधाई है। ले होस मे आजा। देख तो को तुझे गोद मे लिए है।

चन्द्रावली (उन्माद की भांति भगवान् के गले में लपट कर) पिय तोहि राखौंगी भुजन मे बांध।

प्रसाद[3]—भग०—प्यारी, छिमा करियौं, हम तो तुम्हारे सबन के जनम जनम के रिनियां हैं। तुमसे हम कभू उरिन होइ वेई के नही।

समय[4]—चन्द्रावली का गायन

पिय तुम और कहूँ जिन जाहु।

जिस पर भगवान कहते है—

तौ प्यारी मैं तोहि छोडि कै कहाँ जाउँगो।

कृति[5]—विशाखा—सखी बधाई है! स्वामिनी ने आज्ञा दई है, के प्यारे सो कहि दै चन्द्रावली की कुज मे सुखेन पधारो।

भाषण[6]—चन्द्रा०—(बड़े आनन्द से घबडाकर) (ललिता विशाखा से) सखियो! मैं तो तुम्हारे दिए पीतम पाए है।

पूर्वभाव[7]—सखी, पीतम तेरो तू पीतम की, हम तो तेरी टहलनी है। यह सब तो तुम सबन की लीला है। यामें कौन बोलै और बोलै हू कहा जो कछू समझै तो बोलै।

उपगूहन[8]—जोगिन का सहसा कृष्ण बन जाना।

काव्य-संहार[9]—भगवान्—प्यारी! और जो इच्छा होय सो कहो। काहे सौं जो तुम्है प्यारो है सोइ हमे हूँ प्यारो है।

प्रशस्ति[10]—चन्द्रावली—नाथ! और कोई इच्छा नही, हमारी तो सब इच्छा की अवधि आपके दर्शन ही ताईं हैं तथापि भरत को यह वाक्य सफल होय—

---

१. परिभाषण—निन्दा करना।
२. आनन्द—वाछित की प्राप्ति।
३. प्रसाद—मान, क्षमा प्रार्थना, अनुग्रह आदि।
४. समय—दुःख का दूर होना।
५. कृति—वाछित प्राप्ति की स्थिरता।
६. भाषण—दान-मान आदि से प्रसन्न करना।
७. पूर्वभाव—कार्य (मुख्य फल) अन्तिम रूप से सामने आए।
८. उपगूहन—अद्भुत वस्तु की प्राप्ति।
९. काव्य-संहार—वर देने की इच्छा।
१०. प्रशस्ति—भरतवाक्य।

परमारथ स्वारथ दोउ कहूं मंग मेलि न सानै।
जो आचारज होई धरम निज तेइ पहिचानै।
वृंदाविपिन विहार सदा सुख सों थिर होई।
जन वल्लभी कहाइ भक्ति विनु होइ न कोई।
जगजाल छाँड़ि अधिकार लहि कृष्ण चरित सब ही कहै।
यह रतन-दीप हरि-प्रेम को सदा प्रकाशित जग रहै।

पात्र

संस्कृत की परम प्रसिद्ध नाटिका 'रत्नावली' के समान भारतेन्दुजी ने भी अपनी नाटिका का नाम नायिका के नाम पर रखा। 'चन्द्रावली नाटिका' मे चन्द्रावली का एकछत्र साम्राज्य है और कोई दूसरा पात्र नही उभर पाया है, यहाँ तक कि नायक कृष्ण भी नही। फलतः आधिकारिक कथा ही नाटिका में है। नाट्यशास्त्र में नाटिका की नायिका के जो लक्षण प्राप्त होते हैं वे सब चन्द्रावली मे हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार अंतःपुर की संगीतज्ञाता कुमारी नायिका होगी। अभिनवाचार्य इसका अर्थ करते हैं कि वह अंत.पुर की कन्या हो अथवा संगीत-ज्ञाता की कन्या (१८-५८)। भावप्रकाशकार का कथन है कि नायिका को नव-अवस्था वाली, अनुरागवती, मुग्धा होना चाहिए[1], दशरूपक का कथन है कि इस मुग्धा नायिका का सम्बन्ध अंत.पुर से होना चाहिए। उसे देख या सुनकर राजा उससे प्रेम करने लगे। यह प्रेम क्रमश. परिपक्व हो। वह संगीतज्ञाता होनी चाहिए।[2] साहित्यदर्पणकार इन सब लक्षणों को समान्वित कर कहता है कि नायिका का सम्बन्ध अंत पुर से होगा, गायिका होगी। नया प्रेम अंकुरित होगा एवं वह राजकन्या होगी।[3] साहित्यदर्पणकार ने 'मुग्धा' नही कहा है यद्यपि 'नवानुराग कन्या' से यह अर्थ लिया जा सकता है।

(१) नायिका अत्यन्त रूपवती होगी।[4] इसी रूप के कारण नायक उसे देख या सुनाकर उससे प्रेम करने लगता है। (२) वह मुग्धा होगी। (३) उसका अनुराग भी प्रथम अनुराग होगा और अत्यन्त तीव्र भी होगा। (४) नायिका का सम्बन्ध अंत.पुर से होगा। (५) नायिका अच्छी गायिका होगी। ये सब लक्षण चन्द्रावली मे प्राप्त होते हैं। वह रूपवती है एवं उसका प्रेम दिव्य है जिसकी चर्चा विष्कभक में शुकदेव एव नारद ने की है और अन्यत्र भी हुई है। कृष्ण इससे प्रेम करने लगे हैं। वह मुग्धा है। वह अपने प्रेम को छिपाती है, वह आरसी-दर्पण को देखती रहती है, एकांत मे रोती है। किन्तु

---

१. भावप्रकाश—अधिकार आठम, पृ० २४४, पंक्ति १-२
२. दशरूपक—३४७
३. साहित्य-दर्पण—६-२७
४. भरतकोश—पृ० ३१७

वह अंतिम अंक में मध्या बन जाती है जब वह कृष्ण को गले लगाती है। उसका अनुराग नया था, और उसमें तीव्रता थी। उसका सम्बन्ध भी रनिवास से है क्योंकि वह श्रीराधिकाजी की दासी है।[1] वह एक सुन्दर गायिका है, इसके उदाहरण हैं नाटिका के अनेक गीत।

नाटिका में चन्द्रावली के प्रेमी हृदय का प्रकाशन है, उसके चरित्र का विकास नहीं। वह एक अनन्य प्रेमिका बनकर आरम्भ से अन्त तक हमारे सामने आती है। वह कृष्ण की छवि पर लट्टू हो गई है। अपराध तो नेत्रों का ही है—

सखी ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भए पराये, हरि सों जब सों जाइ जुरे॥
मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे।
मेरी सीख प्रीति सब छाँडी ऐसे ये निगुरे॥
जग खीझ्यौ बरज्यौ पै ये नहिं हठसों तनिक मुरे।
अमृत भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे॥

अपराध तो आँखों ने कर दिया किन्तु अब ये स्वयं दुखी हैं, कलपती रहती हैं, रोती हैं और कष्ट पाती हैं—

मनमोहन ते बिछुरी जब सों तन आँसुन सों सदा धोवती है।
हरिचन्द जू प्रेम के फंद परी कुल की कुल लाजहिं खोवती है।
दुख के दिन को कोई भाँति बितै बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हम ही अपनी दसा जानैं सखी निसि सोवती है किधौं रोवती है।

वह एकांत में जाकर रोती है, विलपती है और कृष्ण को जी भरकर उपालम्भ देती है, बेसुध हो जाती है और उसके कान में सखियों का शब्द भी नहीं पहुँचता। वह अपने आपको भूल जाती है और प्यारे के विरह में अपने को ही कृष्ण समझने लगती है।[2] प्रेम की यह बड़ी ऊँची अवस्था है क्योंकि अद्वैतवादी अवस्था में प्रिय या प्रिया का अलगाव वैसे ही नहीं रहता जैसा कि निर्वाणावस्था में जीव एवं ब्रह्म में भेद नहीं रहता। दोनों की इसी अवस्था की प्रशंसा करती हुई सध्या कहती है—

---

१. नारद—उधर श्रीमतीजी का भी भय है। (विष्कंभक)
कामिनी—हाँ, चन्द्रावली बिचारी तो आपही गई-बीती है, उसमें भी अब तो पहरे में है, नजरबंद रहती है, झलक भी नहीं देखने पाती, अब क्या। (अंक ३)
चं०ला०—पर अभी जो सुन पावैं कि इसको सखी ने चन्द्रावलियै अकेली छोड़ि दीनी तो फिर देखी तमासा। (३)
माधवी—अनदेखि, कौन नैं स्वामिनी सों चुगली खाई। (३)
माधवी—प्यारी जू के मनाइवे को मेरो जिम्मा। (३)
२. च०—तू है कौन
च०—प्रीतम पियारो मेरो नाम है।

'पूछन सखी एकै कै उत्तर बतावति।
जकी सी एक रूप आज स्यामा भई स्याम है।'

विरह में मिलन की यह स्थिति बड़ी श्लाघनीय है। बादल, बिजली, मोर, चातक, सूर्य, चन्द्र, हवा का शब्द—सभी उसके विरह को प्रदीप्त करते हैं। विरह की सभी अवस्थाएँ उसके विरह में दिखलाई देती हैं। आरम्भ से अन्त तक वह कृष्ण को उपालम्भ देती है, कभी-कभी गाली भी दे बैठती है, "तुम पर बड़ा क्रोध आता है और कुछ कहने को जी चाहता है। बस अब मैं गाली दूंगी। और क्या कहूँ, बस आप-आप ही हो, देखो गाली में भी तुम्हें मैं मर्मवाक्य कहूँगी—झूठे, निर्दय, निर्घृण, निर्दय-हृदय, कपटी, बसेड़िये, और निर्लज्ज।"

चन्द्रावली को अन्त मे अपने अथाह विरह-सहन का शुभ फल प्राप्त होता है और कृष्ण से उसका मिलन होता है। आनन्द-मग्न होकर वह कहती है—

प्रिय तोहि राखौंगी भुजन मे बाँधि।
जान न दैहौं तोहि पियारे धरौंगी हिए सों नाँधि।
बाहर गर लगाइ राखौंगी अन्तर करौंगी समाधि।
हरीचन्द छूटन नहिं पैहो लाल चतुरई साधि।

वह भुजाओ में पकडकर प्रिय को हृदय में उतार लेगी, वहाँ से उसे कही अन्यत्र न जाने देगी। वह प्रिय से प्रार्थना करती है—

प्रिय तुम और कहूँ जिन जाहु।
नैन देहु किन मो रकिन को रूप-सुधा रस लाहु।
जो-जो कहौ करौं सोइ सोई धरि जिय अमित उछाहु।
राखों हिये लगाइ पियारे किन मन माहिं समाहु॥
अनुदिन सुन्दर वदन सुधानिधि नैन चकोर दिखाहु।
'हरीचन्द' पलकन की ओटैं छिनहु न नाथ दुराहु॥

इस शारीरिक वियोग और मिलन के पीछे नाटककार ने दिव्यता भी भरी है। विष्कमक के आरम्भ मे नारद प्रेम की दिव्यता का ही स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—"पर वह जो परम प्रेम अमृतमय एकात भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त मे आते ही संसार का निगड आप से आप खुल जाता है—वह किसी को नही मिली।...अहा! इस मदिरा को शिवजी ने पान किया है और कोई क्या पिएगा? जिसके प्रभाव मे अर्द्धांग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नही कर सकती, धन्य हैं, धन्य हैं, और दूसरा ऐसा कौन है। (विचारकर) नहीं नहीं, ब्रज की गोपियों ने उन्हें भी जीत लिया है। अहा! इनका कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय है और अकरणीय है, क्योंकि जहाँ

महात्म्य ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नही होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य ज्ञान नही होता। ये धन्य हैं कि इनमे दोनो बातें एक सग मिलती है।"
(विष्कभक)

दूसरे अक मे चन्द्रावली इसी दिव्य प्रेम की ओर स्पष्ट सकेत करती है जब वह कहती है—"वाह प्यारे! वाह! तुम और तुम्हारा प्रेम दोनों विलक्षण है, और निश्चय बिना तुम्हारी कृपा के इसका भेद कोई नही जानता, जाने कैसे? सभी उसके अधिकारी भी तो नही है। जिसने जो समझा है, उसने वैसा ही मान रखा है। हा! यह तुम्हारा जो अखड परमानदमय प्रेम है और जो ज्ञान वैराग्यादिको को तुच्छ करके परम शांति देने वाला है उसका कोई स्वरूप ही नही जानता, सब अपने ही सुख मे और अभिमान मे भूले हुए है, कोई किसी स्त्री वा पुरुष से उसको सुन्दर देखकर चित्त लगाना और उससे मिलने के अनेक यत्न करना इसी को प्रेम कहते हैं, और कोई ईश्वर की बड़ी लम्बी-चौडी पूजा करने को प्रेम कहते हैं—पर प्यारे। तुम्हारा प्रेम इन दोनों से विलक्षण है क्योंकि यह अमृत तो उसी को मिलता है जिसे तुम आप देते हो। (अक-२) पुन चन्द्रावली तीसरे अंक मे अपनी विरह-व्यथा बताती हुई उस दिव्यता की ओर सकेत करती है। "हाय! एक बेर भी मुँह दिखा दिया होता तो मतवाले-मतवाले बने क्यो लड-लडकर सिर फोडते।" चौथे अक मे विशाखा इसी दिव्य प्रेम की ओर सकेत करती हुई चन्द्रावली से कहती है—"सखी, पीतम तेरो तू पीतम की, हम तो तेरी टहलनी हैं। यह सब तो तुम सबन की लीला है। या मे कौन बोलै और बोलै हू कहा जौ कछू समझै तौ अकथ कहानी है। तेरे प्रेम को परिलेख तो प्रेम की टकसार होयगो और उत्तम प्रेमिन को छोडि और काहू की समझ ही मैं न आवैगो। तू धन्य, तेरो प्रेम धन्य, या प्रेम के समझिवेवारे धन्य और तेरे प्रेम को चरित्र जो पढे सो धन्य।" कृष्ण जी इसी की पुष्टि करते है जब वे चन्द्रावली से कहते हैं—"प्यारी! मैं निठुर नही हूँ। मैं तौ अपने प्रेमिन को बिना मोल को दास हूँ। परन्तु मोहि निहचै है कै हमारे प्रेमिन को हम सो हूँ हमारो विरह प्यारो है। ताही सो मैं हूँ बचाय जाऊँ हूँ। या निठुरता मैं जे प्रेमी है विनको तो प्रेम और बढे और जे कच्चे हैं विनकी बात खुल जाय। सो प्यारी यह बात हू दूसरेन की है। तुमारो का, तुम और हम तो एक ही हैं।" कृष्ण भगवान हैं उनमें प्रेम करना सासारिक नही, दिव्य है और चन्द्रावली के रूप मे नाटककार ने इसी दिव्य प्रेम का चित्रण किया।

कृष्ण

नाटिका के नायक है कृष्ण जो राजवशी है और धीरललित हैं क्योंकि वे गाने और वेश बनाने की कला मे प्रवीण है। नाटिका मे नायक का चित्रण बडा स्वल्प है क्योंकि केवल चौथे अक मे वह आता है। कृष्ण जोगिन के वेश

में आकर गाते है और पुनः चन्द्रावली से मिलते हैं। वस नायक के इसी रूप पर नाटककार ने प्रकाश डाला है। निश्चय ही यहाँ इन्द्र सभा एवं राम-शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है क्योंकि कृष्ण जोगिन के वेश में अपनी तिरछी चितवन और विशाल और दूसरों को छकाने वाली आँखों की प्रशसा करते हैं। जोगिन आगे कहती है कि मेरे रूप को देखकर सब स्त्री-पुरुष मोहित हो जाते हैं और सब मेरे ऊपर कुर्बान जाते हैं। मैं जोगिन काँधे पर बीन लिये गाती हूँ और *प्रवीण नागरिकों के मन में कामदेव जगाती हूँ।*[1] मेरी चितवन मे शराब भरी है जो सब रसिकों को नशे मे डाल देती है मेरे राग को सुनकर ये छैला मेरे विरह में भुनकर हाय हाय करते हैं।[2] इसी प्रकार इन्द्रसभा नाटक मे भी परियाँ आकर अपने मारक रूप, मादक नेत्र, कातिल भौं और प्रलयकरी वेणी का वर्णन करती हैं। रासलीला की भाँति चन्द्रावली में कृष्ण, जोगिन के वेश में आते है और गलवाँही देकर बैठ जाने पर जुगल जोड़ी की आरती उतारी जाती है।

रस

भारतेन्दुजी ने चन्द्रावली नाटिका का निर्माण 'रस' को दृष्टि मे रखकर किया था, इसका प्रमाण है, विशाखा का कथन। विशाखा चन्द्रावली से कहती है—"ताहू मैं तू रस की पोषक ठैरी" (अंक ४)। नाटिका का प्रधान रस शृंगार है। शृंगार के दो पक्ष होते हैं—सयोग और वियोग। चन्द्रावली में वियोग शृंगार की प्रधानता है। संयोग तो केवल अन्त में थोड़ी देर को दर्शन देता है।

संयोग शृंगार

संयोग में चार बातों का वर्णन हो सकता है—(१) नखशिख रूप वर्णन, (२) प्रेम-क्रीडा-वर्णन (३) मिलन-वर्णन और (४) भाव-वर्णन। चन्द्रावली मे चौथे अर्थात् भाव-वर्णन को अच्छा स्थान मिला है। मिलन-वर्णन मे तो बस कृष्ण और चन्द्रावली के गलबाँही देने का वर्णन है अथवा आनन्दाश्रु बहाने का। (३) वियोग पक्ष मे तो कृष्ण के अंगों एव रूप का वर्णन कई स्थल पर हुआ है किन्तु संयोग पक्ष में दो-चार पंक्तियाँ ही हैं। संयोग पक्ष की क्रीड़ा के

---

१. कोई एक जोगिन रूप किये।
   भौंहैं वंक छको है लोचन चलि चलि कोयन कान छियें।
   सोभा लखि मोहत नारी नर बारि फेरि जल सबहिं पियें।
   नागर मनमथ अलख जगावत गावत काँधेबीन लियें।
२. बनी मन मोहन जोगिनिया।
   मानै नैंन लाल रंग डोरे मद बोरे मोहै सबन छलिनिया।
   हाथ सरंगी लिए बजावत गाय जगावत विरह अगिनिया।

वर्णन का न तो अवसर था और न स्थान ही। मिलन के पश्चात् चन्द्रावली गीतों में अपने हार्दिक भाव प्रकट करती है जो बड़े सरस, सुन्दर और स्वाभाविक है। वह कहती है—

> पिय तोहि राखौंगी भुजन में बाँधि।
> जानी न दैहौं तोहि पियारे धरौंगी हिय सों नाँधि॥

चन्द्रावली की यह कामना स्वाभाविक है कि हे प्यारे! तुझे अब कहीं जाने न दूँगी। फिर ध्यान आता है कि हरजाई कृष्ण को मैं कैसे न जाने दूँगी? कहाँ रखूँगी? इसका ध्यान आने पर वह कहती है—

> पिय तोहि कैसे हिय राखौं छिपाय।
> सुन्दर रूप लखत सब कोऊ यहै कसक जिय आय॥
> नैनन में पुतरी करि राखौं पलकन ओट दुराय।
> मेरो भाग रूप पिय तुमरो छीनत सौतैं हाय॥

सौत तो सुन्दर कन्हैया को छीनने की कोशिश करेंगी ही। फिर क्या हो? चन्द्रावली इसका ध्यान कर कहती है—

> पिय तुम और कहूँ जिन जाहु।
> जो जो कहो करो सोइ सोई धरि जिय अमित उछाहु।
> राखौं हिय लगाइ पियारे किन मन माहिं समाहु।
> हरीचन्द पलकन की ओटैं छिनहु न नाथ दुराहु॥

तुम जो कहोगे, मैं उत्साह के साथ करूँगी, यह बड़ा समयोपयोगी और मनोवैज्ञानिक कथन है। बड़े परिश्रम और समय के बाद प्राप्त अमूल्य रत्न को वह अपने ही पास रखना चाहती है, किसी से बाँटना नहीं चाहती। पर क्या वह ऐसा कर सकेगी? उसे भय होता है और वह प्रियतम से कहती है—पिय तोहि कैसे बस करि राखौं।

> तुव दृग मैं दृग तुव हिय मैं निज हियरो केहि विधि नाखौं॥
> कहा करौं का जतन विचारौं विनती केहि विधि भाखौं।
> हरीचन्द प्यासी जनमन की अधर सुधा किमि चाखौं॥

कवि ने चन्द्रावली के भय और शंका को जिह्वा दी है। वह हरजाई कृष्ण को जानती है। कैसे बस में कर अपने पास ही रखे रहे। वह अपनी तीव्र उत्कंठा को भी प्रकट कर देती है।

संयोगावस्था का एक स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण देखिए। विरह से तड़पती विरहिनी सोचा करती थी—मिलने पर उस निष्ठुर से यह कहूँगी वह कहूँगी, उसकी निष्ठुरता की शिकायत करूँगी, कहूँगी तुम पाषाण हो, तुम्हारे पास हृदय ही नहीं। किन्तु जब प्रियतम के सामने आती है तो सब पुरानी बातें भूल जाती है। उस घड़ी की परम प्रसन्नता में पुरानी सोची बातें उसे विस्मृत हो जाती है। वह कृष्ण से कहती है—"पर नाथ! ऐसे निष्ठुर क्यों

हो ? अपनों को तुम कैसे दुखी देख सकते हो ? हा लाखों बातें सोची थी कि जब कभी पाऊँगी तो यह कहूंगी, यह पूछूंगी, पर आज सामने कुछ नहीं पूछा जाता।" विरहिनी के संयोग समय का कैसा वास्तविक अंकन है। इस छोटे से प्रसंग में शृंगार का परिपाक हुआ है। चन्द्रावली आश्रय है और कृष्ण हैं आलम्बन। उद्दीपन के अन्तर्गत है—कृष्ण का रूप, जोगिन बने कृष्ण के गीत, ललिता का गीत, यमुना का सुहाना तट इत्यादि। अनुभाव है—चन्द्रावली का ध्यानावस्थित एवं बेसुध होना, आनन्दातिरेक में झूमना और रोना, एवं कृष्ण को गलबाँही देना। संचारी हैं—आवेग, वितर्क, हर्ष, दैन्य शंका, स्मृति, लज्जा, उन्माद इत्यादि।

वियोग शृंगार

हिन्दी साहित्य-जगत् में वियोग शृंगार का विशद, गम्भीर, सरस, सुन्दर, भावपूर्ण और मार्मिक चित्रण करने वाले ग्रंथ तीन-चार ही है जिनमें 'चन्द्रावली नाटिका' का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जायसी और सूर के वियोग-वर्णन की मनोरम परम्परा 'चन्द्रावली' में प्राप्त होती है। वियोग-वर्णन दो प्रकार का होता है—ऊहात्मक जिसे मायात्मक वर्णन भी कहते हैं और संवेदनात्मक या भावात्मक। ऊहात्मक विरह का उत्तम उदाहरण है विहारी का विरह-वर्णन। संवेदनात्मक विरह की सुन्दर झाँकियाँ सूर और जायसी में मिलती है। चन्द्रावली का विरह-वर्णन भी संवेदनात्मक या भावात्मक है। नाटिका में वियोग-शृंगार की गम्भीर और वेगवान, सरस और भावपूर्ण सरिता प्रवाहित है जिसमें गोता लगाने वाला आनन्दविभोर होकर झूमने लगता है।

नाटिका के विरह-वर्णन में नेत्रों ने बड़ा महत्त्वपूर्ण पद पाया है। प्रेम नगरी के ये राजा हैं। इन्हीं के द्वारा हृदय जैसी अमूल्य वस्तु बिकती है। वियोगी के दु:ख को आँसुओं के रूप में प्रकट करने वाले नेत्र ही है। चन्द्रावली भी नेत्रों को बड़ा उपालम्भ देती है। नेत्र-दलालों ने ही तो हृदय को बेचकर आग-पानी को खरीदा है। इन नेत्रों के ही कारण हृदय सदा आग में भुन कर कलपता है और सावन की झड़ी लगाता है। एक दर्जन गीतों एवं छन्दों में विश्वासघाती इन नेत्रों को कोसा गया है।[1] अपनी जन्म की साथिन को छोड़कर ये कृष्ण के साथ लगे फिर रहे है। अब तो इन्हें न लोक-निंदा की चिन्ता है और न कुल-मर्यादा के उल्लंघन की। देखने में ये कमल से कोमल और सुखकर लगते हैं पर वास्तव में ये विष-बुझे बाण हैं।

> सखी ये नैना बहुत बुरे।
> तब सों भए पराए, हरि सों जब सों जाइ जुरे॥
> मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे।

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग १) पृ० ४२२, ४२३, ४२४, ४३०, ४३५, ४५३।

मेरी सीख प्रीति सब छाँड़ी ऐसे ये निगुरे ।।
जग खीझ्यौ बरज्यौ पै ये नहिं हठ सों तनिक मुरे ।
अमृत-भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे ।।

नेत्र उलझ गए सो उलझ गए । इनकी प्रकृति ही लड़ने और उलझने की है । कुश्ती लड़ते हुए दो मल्ल उलझकर अलग तो हो जाते हैं, पर ये तो लिपट कर दूर हटने का नाम ही नहीं जानते—

होत सखि ये उलझौहैं नैन ।
उरझि परत सुरझ्यौ नहिं जानत, सोचत समुझत है न ।।
कोऊ नाहिं बरजै जो, इनको बनत मत्त जिमि गैन ।
कहा कहौं इन बैरिन पाछे, होत लैन के दैन ।।

प्रिय से उलझकर प्रिय की छवि को अपने हृदय में सदा के लिए बसा लेते हैं । अब तो प्रिय के वश में पड़े उसके साथ-साथ डोलते फिरते हैं, और तन-मन-धन सब दाव में हार चुके हैं—

नैना वह छवि नाहिन भूले ।
दया भरी चहुँ दिसि की चितवनि नैन कमल दल फूले ।
वह आवनि, वह हँसनि छबीली, वह मुसकनि चित चोरै ।
वह बतरानि, मुरनि हरि की वह, वह देखन चहुँ कोरै ।।
वह धीरी गति कमल फिरावन कर लै गायन पाछे ।
वह बीरी मुख बेनु बजावनि पीत पिछौरी काछे ।।
परबस भए फिरत हैं नैना, इक छन टरत न टारे ।
हरि-ससि-मुख ऐसी छवि निरखत, तन-मन-धन सब हारे ।।

भारतेन्दुजी का यह प्रसिद्ध गीत है । प्रिय की भिन्न-भिन्न सुन्दर मुद्राओं का चित्रण बड़ा ही सुन्दर और स्वाभाविक है । जिन नेत्रों में प्रिय की साँवली सूरत अक्षुण्ण स्थान पा चुकी है, उसमें अन्य का प्रवेश कहाँ हो सकता है । ये नेत्र अब जगत् में कुछ देख ही नहीं पाते । देखें भी क्या ? देखने योग्य कुछ रहा भी हो—

बिछुरे पिय के जग सूनो भयो,
अब का करिए कहि पेखिए का ।
सुख छाँडि के संगम को तुम्हरे,
इन तुच्छन को अब लेखिए का ।।
'हरिचंद' जू हीरन को ब्यवहार कै
कांचन को लै परेखिए का ।
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यो,
उन आँखिन सों अब देखिए का ।।

जब नेत्रों में अन्य के प्रवेश का स्थान ही नहीं, जब ये पूरी तौर से प्रिय के

अधीन हो गए, जब ये सदा प्रिय की छवि मे ही लीन रहते हैं, जब ये सदा उसकी सुधि मे व्याकुल हो रोते रहते हैं, तब इनके लिए जग मे क्या करना अवशिष्ट रहा है ? बस प्राण-त्याग करना। सुख तो स्वप्न मे भी इन्होने नही देखा है—

इन दुखियान को न सुख सपने हू मिल्यौ,
यों ही सदा व्याकुल विकल अकुलायंगी।
'प्यारे हरिचन्द जू' की बीती जानि औध जो पै
जैहै प्राण तऊ ये तो साथ न समायगी॥
देखौ एक बार हू न नैंन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहैं, तही पछितायंगी।
बिना प्रानप्यारे भए दरस तुम्हारे हाय,
देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रहि जायंगी॥

कैसा मर्मस्पर्शी उद्गार है जो व्यजना का बल पाकर सहृदय को बेसुध बना देता है। कैसा मार्मिक कथन है कि यदि प्राण चले भी गए तो ये प्राणों के साथ परलोक न जायेंगी, वरन खुली रह जायंगी। मुहावरे ने छद में सजीवनी भर दी है। प्रिय की प्रतीक्षा मे ये खुली रहेगी।

मन तडपा करे, हृदय जला करे और आहे भरा करे, आँख बरसा करें, प्यारा तो जाने का नाम भी नही लेता। इस निष्ठुरता पर प्रिया के मुख से उपालम्भ ही निकलेगा। जले मन से खरी-खोटी सुना कर वह सोचती है, उचित हुआ। चन्द्रावली के दूसरे और तीसरे अको मे चन्द्रावली के अनेक उपालभ उसके हृदय की व्यग्रता और व्यथा को व्यक्त करते है। प्रतीक्षा करते-करते आँखें पथरा गई पर निष्ठुर प्यारा न आया। तब वह कहती है—

"प्यारे बस बहुत भई, अब नही सही जाती। मिलना हो तो जीतेजी मिल जाओ ! हाय ! जी-भर आँखो देख भी लिया होता तो जी का उमाह निकल गया होता, मिलना दूर रहे, मैं तो मुँह देखने को तरसती थी, कभी सपने मे भी गले न लगाया, जब सपने में देखा, तभी घबडाकर चौंक उठी। हाय ! इन घर वालों और बाहर वालों के पीछे कभी उनसे रो-रो कर अपनी बिपत भी न सुनाई कि जी भर जाता। लो घरवालो और बाहरवालो ! ब्रज को सम्हालो मैं तो अब यही... (कठ गद्गद होकर रोने लगती है) हाय रे निठुर ! मैं ऐसा निर-मोही नही समझी थी, अरे इन बादलों की ओर देख के तो मिलता। इस ऋतु में तो परदेशी भी अपने घर आ जाते हैं। पर तू न मिला। हा ! मैं इसी दुख को देखने को जीती हूँ कि बरसा आवे और तुम न आओ। हाय ! फेर बरसा आई, फेर पत्ते हरे हुए, फेर कोइल बोली, पर प्यारे तुम न मिले !"

गद्यात्मक उपालभो का कोष है, तीसरा अक, जिसमें चन्द्रावली अपने हृदय को खोल कर सबके सामने रख देती है। कभी क्रोध कर कोसती है, कभी व्यंग्य

करती है, कभी गिड़गिड़ाकर अनुनय विनय करती है। कभी रोकर पुकारती है, कभी अपने को अपराधी मान क्षमा माँगती है और कभी मान करने का स्वाँग रचती है। वह अनेक मर्मस्पर्शी भाव व्यक्त करती है—

प्यारे ! तुम्हारे निर्दयीपन की भी कहानी चलेगी। हमारा तो कपोत व्रत है। हाय ! स्नेह लगाकर दगा देने पर भी सुजान कहलाते हो। बकरा जान से गया पर खाने वालो को स्वाद न मिला। हाय ! यह न समझा था कि यह परिणाम करोगे। वाह खूब निवाह किया वधिक भी बधकर सुध लेता है, पर तुमने न सुध ली। हाय ! एक बेर तो आकर अक मे लगा जाओ। प्यारे, जीते जी आदमी का गुन नही मालूम होता। हाय ! फिर तुम्हारे मिलने को कौन कहने को जी चाहता है। बस अब मैं गाली दूँगी और क्या कहू, बस आप आप ही हैं, झूठे, निदय, निर्घ ण, 'निर्दय हृदय कपाट' बखेडिए और निर्लज्ज...... (अक ३)

पद्यात्मक उपालभ इनसे भी अधिक सुन्दर और भाव-भीने है। चन्द्रावली कहती है—पहले तो नयन लगाकर प्रीति बढाई, निर्वाह का वादा किया और अब खबर भी नही लेते।

> पहिले मुसुकाई लजाई कछू
> क्यो चितै मुरि मो तन छाम कियो।
> पुनि नैन लगाइ बढाइ कै प्रीति
> निवाहन को क्यों कलाम कियो।।
> 'हरिचद' भए निरमोही इतै निज
> नेह को यो परिनाम कियो।
> मन माँहि जो तोरन ही की हुती,
> अपनाइ कै क्यो बदनाम कियो।।

चौथे चरण मे कैसा मार्मिक उपालंभ है कि यदि तोड़ने की मन मे बात पहले से ही थी तो मुझे अपना कर क्यो बदनामी दी। मेरी बदनामी का कारण तुम्हारा अपनाना ही तो है।

वे पहले दिन कहाँ गए। अब तो तुम्हारी दृष्टि मे टेढापन पाती हूँ और बातो मे अमर्ष। बताओ ऐसा कौन सा गुन दिया था जिसके बदले इतना भारी ग पा रही हूँ।

> जिय सूधी चितौन की साधै रही
> सदा बातन मैं अनखाय रहे।
> हँसि कै 'हरिचन्द' न बोले कभूं,
> जिय दूरहि सो ललचाय रहे।।

---

१. वही, पृ० ४४७, ४४८, ४४६, ४५०

नहि नेकु दया उर आवत है,
करिकै कहा ऐसे सुभाय रहे।
सुख कौन सो प्यारे दियो पहिले
जिहि के बदले यों सताय रहे ।।

विरह-वर्णन का एक सुन्दर ढंग है, विरोधी परिस्थिति में डालकर नायक या नायिका के विरह को प्रज्वलित करना। जायसी के बारहमासे में इस प्रकार के विरह का बड़ा मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। यह चित्रण है भी बड़ा मनोवैज्ञानिक। दूसरों को सुखी देख कर वियोगिन को और अधिक दुख होता है। तीसरे अंक में चन्द्रावली सखियों को झूले में आनन्दमग्न देखकर व्यथित होती है, विशेषतया कृष्ण की चहेती श्यामला को देखकर जो उमंग और रंग के साथ झूला रही थी। उसे ध्यान होता है कि प्रिय का प्रेम पाकर वह कितनी प्रसन्न है और मैं कितनी दुखी। जब माधवी कहती है, "सखी, श्यामला का दर्शन कर। देख कैसी सुहावनी मालूम पड़ती है।" तो चन्द्रावली अपनी ईर्ष्या को प्रकट कर कहती है, "क्यों न हो। हमारे प्यारे की प्यारी है, माधवी चन्द्रावली का अनुमोदन करती है, हिंडोरा ही नहीं झूलता। हृदय में प्रीतम को झुलाने के मनोरथ और नैनो में प्रिया की मूर्ति भी झूल रही है। सखी आज साँवला ही का मेहदी और चुनरी पर रंग है।" सुन कर विरहिन का ईर्ष्याजन्य दुख और बढ़ता है और वह आह छोड़ कर कहती है, "सखियो! देखो कैसा अंधेर और गजब है कि या रुत में सब अपना मनोरथ पूरो करें और मेरी यह दुरगत होय। भलो काहु वै तो दया आवती।" वियोगिनियो की विरहाग्नि को प्रज्वलित करने वाले बरसाऊ बादलों को देखकर उसे ध्यान आता है कि इस ऋतु में तो सबके प्रीतम परदेश में लौट आते हैं, बस मेरा ही मुझसे दूर है। वह कहती है—"मैं ऐसा निरमोही नहीं समझती थी, अरे इन बादलों की ओर देख के तो मिलता! इस ऋतु में तो परदेसी भी अपने घर आ जाते है, पर तू न मिला। हा! मैं इसी दुख को देखने को जीती हूँ कि बरषा आवे और तुम आओ।"

संस्कृत और हिन्दी साहित्य की परम्परा में विरहांकन के अन्तर्गत कुछ साधन अपनाए गए हैं, जिनका उपयोग चन्द्रावली में भी हुआ है। अभिज्ञान शाकुंतलम् में व्यथिता शकुंतला प्रेम-पत्र लिखती है, चन्द्रावली ने भी प्रेम पत्र लिखा है। बाल्मीकि एव रामचरितमानस के राम वन के पशु-पक्षी और पौधों से सीता का पता पूछते हैं। विक्रमोर्वशी का नायक विक्रम, वन में उर्वशी की खोज करता हुआ इधर-उधर पूछता है। हाँ, हिन्दी-परम्परा में इतना अन्तर हुआ है कि यहाँ नायिका विरह में अधिक तड़पती है और प्राणप्रिय की खोज करती है। जायसी की पद्मावती और सूर की राधा एवं गोपियाँ उदाहरण चन्द्रावली भी वृन्दावन के पेड़-पौधों एवं खग-मृग से पता पूछती कहती है—

'तुम देने कहूँ प्रान पियारे मनमोहन हरि ।'

मेघदूत मे यक्ष ने गगन-विहारी मेघ को अपना दूत बताया था, जायसी की पद्मावती वन के पशु-पक्षियों से प्रार्थना करती है कि मेरे प्रियतम को मेरा सदेश दे आओ। चन्द्रावली पवन, भंवर, हंस, सारस, कोकिल, पपीहे, एवं भानु से विनय करती है कि मेरे प्यारे के पास जाकर उन्हे मेरी दशा की सूचना दे आओ और उन्हे लिवा लाओ।

संस्कृत और हिन्दी के कवियो ने विरह की अनेक दशाओ का चित्रण किया है। काव्यशास्त्रियो मे इन दशाओ की संख्या तक निर्धारित कर दी है। दस-दिशाओं की भांति दस दशाएँ भी बनाई गई हैं किन्तु इनकी संख्या दस ही नही है। इनमे शारीरिक और मानसिक—दोनो प्रकार की दशाओं का वर्णन है। चन्द्रावली मे भी विरह-दशाओ का हृदयस्पर्शी चित्रण प्राप्त होता है।

वियोग की तीन स्थितियाँ या श्रेणियाँ हैं जिनमे बीस दशाएँ दिखाई पडती है। वियोग को एक रोग मान कर इन बीस दशाओं का उल्लेख होता है। पहली स्थिति है, वियोग रूपी रोग का प्रारम्भ। इसके अन्तर्गत आठ मानसिक दशाएँ है—(१) नयनानुराग (२) मनासक्ति (३) अभिलाषा (४) स्मृति (५) गुणकथन (६) उपालम्भ (७) चिन्ता और (८) संकल्प।

(१) नयनानुराग—प्रेम की आधारशिला है रूप और इस रूप के पारखी हैं नेत्र। नेत्रो के द्वारा ही प्रेम होता है और उस रूप के देखने को ये सदा ललचाये रहते हैं। अपने को वार कर ये नायिका को पराधीन बना देते हैं।

चन्द्रावली—सखी ठीक है। जो दोष है वह इन्ही 'नेत्रो' का है। यही रीझते, यही अपने को छिपा नही सकते और यही दुष्ट अन्त मे अपने किए पर रोते है।

> सखी ये नैना बहुत बुरे।
> तब सो भए पराए हरि सो जब सो जाइ जुरे॥
> मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे।
> मेरी सीख प्रीति सब छांडी ऐसे ये निगुरे॥
> जग खीझ्यौ बरज्यौ पै ये नहिं हठ सो तनिक मुरे।
> अमृत भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे॥

और क्या दशा है इन नेत्रो की—

> मनमोहन ते बिछुरी जब सो तन आंसुन सो सदा धोवती है।
> हरिचंद जू प्रेम के फंद परी कुल की कुल लाजहिं खोवती है।
> दुख के दिन को कोऊ भांति बितै बिरहागम रैन संजोवती है।
> हम ही अपुनी दशा जानै सखी निसि सोवती है किधौ रोवती है।

(२) मनासक्ति—नेत्रों के माध्यम से मन पराया हो जाता है। जो मन सदा से अपने हाथ रहता था, वह स्वतन्त्र होकर बार-बार प्रिय के इर्द-गिर्द

चक्कर काटता है। वह मन को रोकती है पर मन बार-बार प्रिय के पास दौड़ जाता है।

चन्द्रावली—प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नहीं ध्यान देते। प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम तुम कहाँ। हाय नाथ ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगें कैसे निकालूँ !

चन्द्रावली—

मनकी कासों पीर सुनाऊँ।
बकनो वृथा और पत खोनी सबै चवाई गाऊँ॥
कठिन दरद कोऊ नहिं हरि है धरि है उलटो नाऊँ।
यह तो जो जानै सोइ जानै क्योंकरि प्रगट जनाऊँ॥

(३) अभिलाषा—मन की आसक्ति बढ़ जाने पर मन बार-बार इच्छाओं में डूबता उतराता है। कभी नायिका इच्छा करती है कि मैं प्रिय को देख लूँ और कभी चाहती है कि प्रिय को सदा बाँध कर अपने पास रखूँ—

बलि साँवरी सूरति मोहनी मूरति आँखिन को कबौ आइ दिखाइए।
चातकसी मरे प्यासी मरी, इन्हें पानिप रूप-सुधा कबौं प्याइए॥
पीत पटै बिजुरी से कबौ, हरिचन्द जू धाइ इतै चमकाइए।
इतहू कबौ आइकै आनन्द के घन, नेह को मेह पिया बरसाइए॥

पिय तुम और कहूँ जिन जाहु।
लेन देहु किन मो रंकिन को रूप-सुधा रस लाहु॥
जो-जो कहौ करौं सोइ सोई धरि जिय अमित उछाहु।
राखौं हियें लगाइ पियारे किन मन माहिं समाहु॥
अनुदिन सुन्दर बदन सुधानिधि नैन चकोर दिखाहु।
हरीचन्द पलकन की ओटैं छिनहु न नाथ दुराहु॥

(४) स्मृति—विरहिनी दुखी है, अनेक अभिलाषाएँ करती है। बीच-बीच में उसे प्रिय एवं प्रिय के दिये सुखों का स्मरण होता रहता है। तब वह और अधिक कलपती है और कष्ट पाती है।

नैंना वह छवि नाहिन भूले।
दया भरी चहुँदिसि की चितवनि नैन कमल दल फूले॥
वह आवनि वह हँसनि छबीली वह मुसकनि चित चोरे।
वह बतरानि, मुरनि हरि की वह, वह देखन चहुँ कोरे॥

चन्द्रावली—सखी मैं क्या करूँ? मैं कितना चाहती हूँ कि ध्यान भुला दूँ पर उस निठुर की छवि भूलती ही नहीं, इसी से सब जान जाते हैं।

प्रकृति में प्रिय के उपमानों को देखकर अथवा प्रिय से सम्बद्ध वस्तुओं को देखकर प्रिय का स्मरण हो आता है और विरहिनी विह्वल हो जाती है—

देखि घन स्याम घनस्याम की मुरति करि
जिय मे विरह घटा घहरि-घहरि उठै ।
त्यो ही इन्द्रधनु बग माल देखि बन माल
मोती लर पीकी जिय लहरि-लहरि उठै ।।
हरिचन्द मोर पिक धुनि सुनि बसी नाद
बाँकी छवि बार-बार छहरि-छहरि उठै ।
देखि-देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत
पट छोर मेरे हिय फहरि-फहरि उठै ।।

(५) गुणकथन—(नायिका स्मरण कर करके प्रिय के गुणो का बखान करने लगती है) चन्द्रावली—वाह प्यारे वाह । तुम और तुम्हारा प्रेम दोनो विलक्षण हैं, और निश्चय बिना तुम्हारी कृपा के इसका भेद कोई नही जानता, जाने कैसे ? सभी उसके अधिकारी भी तो नही हैं ।

चन्द्रावली—

तुम्हरे-तुम्हरे सब कोऊ कहैं, तुम्हे सो कहा प्यारे सुनात नही ।
बिरदावली आपुनी राखौ मिलो मोहि सोचिबे की कोऊ बात नही ।

(६) उपालम्भ—गुणकथन का परिवर्तित रूप उपालम्भ है । व्याज-निंदा द्वारा यह भी प्रिय का गुणकथन ही है । विरहिनी भावावेश मे प्रिय को ताने देने लगती है और गाली भी देती है । स्त्रियों का यह प्राकृतिक अस्त्र है । चन्द्रावली मे नाटककार ने बडे सुन्दर उपालम्भ दिए हैं । भारतेन्दुजी उपालम्भ लिखने मे अत्यन्त निपुण हैं—

चित को हरिगो वह प्यार सबै क्यो रुखाई नई यह साजत हौ ।
हरिचन्द भए हो कहा के कहा अन बोलिबे मे नहि छाजत हौ ।।
नित को मिलनो तो किनारे रह्यो मुख देखत ही दुरिभाजत हौ ।
पहिले अपनाइ बढाइ कै नेह न रूसिबे मे अब लाजत हौ ।।
जिय सूधी चितौन की साधै रही सदा बातन मैं अनखाय रहे ।
हँसि कै हरिचन्द न बोले कभूँ जिय दूरहि सों ललचाय रहे ।।
नहि नेकु दया उर आवत है करि के कहा ऐसे सुभाय रहे ।
सुख कौन सो प्यारे दियो पहिले जिहिके बदले यों सताय रहे ।।

आओ मेरे झूठन के सिरताज ।
छल के रूप कपट की मूरत मिथ्यावाद जहाज ।।
क्यों परतिज्ञा करी रह्यो जो ऐसो उलटो काज ।
पहिले तो अपनाइ न आवत तजिबे मैं अब लाज ।।

तीसरे अक में चन्द्रावली का दीर्घ स्वगतकथन इसी का उदाहरण है जिसमे चन्द्रावली खूब जली-कटी सुनाती और गाली तक देती है ।

चन्द्रावली—तुम पर बड़ा क्रोध आता है और कुछ कहने को जी चाहता है। बस अब मैं गाली दूँगी। और क्या कहूँ, बस आप ही हौ, देखो गाली मे भी तुम्हें मैं मर्म वाक्य कहूँगी—झूठे, निर्दय, निर्घृण, 'निर्दय हृदय कपाट', बखेड़िये, और निर्लज्ज ये सब तुम्हें सच्ची गालियाँ हैं, भला जो कुछ करना ही नहीं था तो इतना क्यों झूठ बके? किसने बकाया था? कूद-कूद कर प्रतिज्ञा करने बिना क्या डूबी जाती थी? झूठे! झूठे!! झूठे!!! (इत्यादि)।

(७) चिन्ता—विरहिनी स्मरण करती है, गुण गाते-गाते गाली भी देने लगती है किन्तु सदा उसे प्रिय की चिन्ता सताती है। उसी की चिन्ता मे वह डूबे रहती है। वह एकांत मे बैठी उसी के ध्यान मे डूबी रहती है।

ललिता—यह हो पर मैंने तुझे जब देखा तब एक ही दशा मे देखा और सर्वदा तुझे अपनी आरसी वा किसी दर्पण मे मुँह देखते ही पाया पर वह भेद आज खुला—

हौं तो याही सोच मैं विचारत रही री कहि
दरपन हाथ तें न छिनु बिसरत है।
त्योंही 'हरिचन्द जू' वियोग औ सजोग दोऊ
एक से तिहारे कछु लखि न परत है।
जानी आप हम ठकुरानी तेरी बात
तू तौ परम पुनीत प्रेम-पथ विचरत है।
तेरे नैन मूरति पियारे की बसति ताहि
आरसी मे रैन-दिन देखिबो करत है।

चन्द्रावली—

जगजानत कौन है प्रेम बिथा
केहि सों चर्चा या वियोग की कीजिए।
पुनि को कही मानै कहा समुझै कोउ
क्यों बिन बात की रारहि लीजिए।
नित जो 'हरिचन्द जू' बीतै सहै
बकिकै जग क्यो परतीतहि छीजिए।
सब पूछत मौन क्यों बैठि रही
पिय प्यारे कहा इन्हैं उत्तर दीजिए।

(८) संकल्प—और विरहिनी अन्त मे व्रत ले लेती है, संकल्प कर लेती है कि अपने प्रिय के अतिरिक्त न किसी का ध्यान करूँगी, न किसी का स्मरण करूँगी और न किसी की ओर देखूँगी।

बिछुरे पिय के जग सूनो भयो, अब का करिए कहि पेखिए का।
सुख छाडि के संगम को तुम्हारे, इन तुच्छन को अब लेखिए का॥

हरिचन्द्र जू हीरन को ब्योहार, कै कांचन को लै परेखिए का।
जिन आंखिन में तुव रूप बस्यो, उन आंखिन सों अब देखिए का॥

(अंक दूसरा)

चन्द्रावली—प्यारे! चाहे गरजो चाहे लरजो, इन चातको की तो तुम्हारे बिना और गति ही नही है, क्योकि फिर यह कौन सुनेगा कि चातक ने दूसरा जल पी लिया। प्यारे! तुम तो ऐसे करुणा के समुद्र हो कि केवल हमारे एक जाचक के माँगने पर नदी-नद भर देते हो तो चातक के इस छोटे चचु-पुटभरन मे कौन श्रम है, क्योंकि प्यारे हम दूसरे पक्षी नही है कि किसी भांति प्यास बुझा लेंगे, हमारे तो हे श्याम घन, तुम्ही अवलम्ब हो।

वियोग की दूसरी श्रेणी है शारीरिक दशाओं की। मानसिक चिन्ता और मनन का शरीर पर प्रभाव पडता ही है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से इन्हे आंगिक अनुभाव कहते हैं। ये हैं—(१) उदासीनता या निवृत्ति (२) निद्रानाश (३) त्रपानाश (४) स्वप्न-व्यथा (५) अश्रुवर्षा (६) तपन और (७) कृशता।

(१) उदासीनता या निवृत्ति—विरहिनी का मन किसी कार्य मे नही लगता। वह काम करती है पर जैसे हाथ-पैर यन्त्रवत् चल रहे हो, उनमे सजीवता न रह गई हो। ठीक भी है, शारीरिक क्रिया मन मे ही तो परिचालित है। कृष्ण के वियोग मे चारो ओर नीरसता व्याप्त मिलती है। नायिका कभी एक काम को लेती है, तुरन्त उसे छोड दूसरा उठाती, फिर तीसरे हाथ मे लगा देती है। वह दुखी होकर कहती है—'बिछुरे पिय के जग सूनो भयो, अब का करिए केहि पेखिए का।'

घर के बाहर दही लेने जा रही है, जिस मकान पर जाना था, उसे भूल ही जाती है। वह दूध के लिए गोशाला की ओर जाती है पर भूल जाती है और दूसरी गोशाला मे जा पहुँचती है। सखी उससे पूछती है तो वह कहती है—

हौं अपने गृह कारज भूली-भूलि राहि बिलमाई।

उसकी क्या अवस्था है—

बिनु पिय मिलें फिरत बन ही बन छाई मुखहि उदासी।
भोग छोडि धन धाम काम तजि भई प्रेम बनवासी॥

अब पूछत मौन क्यो बैठी रही, प्रिय प्यारे कहा इन्हे उत्तर दीजिए।

(२) निद्रानाश—विरह का कारण नेत्र ही थे। नेत्रो ने ही नायिका को बेचा था। अब प्रिय के न रहने पर वे अत्यधिक कष्ट दे रहे हैं। किसी को नींद न आए, यह कितना बडा कष्ट है—

दुख के दिन को कोऊ भाँति बितै बिरहागम रैन सजोवती है।
हमही अपुनी दसा जानैं सखी, निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं।

(३) त्रपानाश—निद्रा का ही नाश नही हुआ, लोक-लज्जा का भी

नाश हो गया है। कुल की मर्यादा और दूसरी की निंदा का ध्यान नायिका को नहीं रहा है—

लोक लाज कुल की मरजादा दीनी है सब खोय।
हरीचंद ऐसेहि निबहैगी होनी होय सो होय॥

एक सखी आकर नायिका से कहती है—अरी, चारों ओर तेरी निन्दा हो रही है, तू क्यों नहीं इस ओर ध्यान देती है? तो चन्द्रावली कहती है—

धारन दीजिए धीर हिए कुलकानि को आजु बिगारन दीजिए।
मारन दीजिए लाज सबै 'हरिचंद' कलंक पसारन दीजिए।
चार चवाइन को चहुँ ओर सो सोर मचाइ पुकारन दीजिए।
छाँड़ि संकोचन चंदमुखै भरि लोचन आजु निहारन दीजिए।
करति न लाज हाट घर घर की कुल मरजादा जाति ठगी-सी।

(४) स्वप्नव्यथा—दिन में दुख की सीमा नहीं है तो रात में भी सुख नहीं बेचारी को। नींद तो बार-बार बुलाने पर भी नहीं आती। कभी आई तो और अधिक व्यथा प्राप्त होती है। स्वप्न में वह दिखाई दे जाता है और विरहिनी तृषित हो प्रिय को देखती है—

चौंकि चौंकि चितवति चारहु दिस सपने पिय देखति उमगी-सी।
पर यह सुख कै क्षण का?

चन्द्रा०—कभी सपने में भी गले न लगाया। जब सपने में देखा तभी घबडाकर चौंक उठी। वह कहाँ दिखाई पडता है। और अधिक वेदना होती है।

(५) अश्रु-वर्षा—बस अश्रु-वर्षा! अश्रु-वर्षा विरहिनी का नित्य-प्रति का व्यापार है। स्मरण होता है, हृदय लरजता है, भाव-सरिता उफनती है और वर्षा की झडी लग जाती है। नेत्रों को वर्षा से विरत करती हुई नायिका कहती है—

धाइकै आगे मिली पहिले तुम कौन सों पूछि कै सो मोहि भाखैं।
त्यौं सब लाज तजी छिन मैं, केहि के कहे एतो कियो अभिलाखैं॥
काज बिगारि सबै अपनो 'हरिचन्द जू' धीरज क्यों नहिं राखौ।
क्यों अब रोइ कै प्रान तजौ, अपुने किये को फल क्यों नहिं चाखौ॥

यह वर्षा चारमासी नहीं है—

ये दुखिया सदा रोयो करैं बिधना इनको कबहूँ न दियो सुख।

(६) तपन—प्राकृतिक वर्षा से पृथ्वी की जलन शांत हो जाती है किन्तु नेत्र-वर्षा से विरहिनो की हृदय-तपन और तीव्र होती है। विरह की अग्नि विचित्र ही है। यह तपन दो प्रकार की होती है—शारीरिक तपन और मानसिक तपन। हिन्दी साहित्य में शारीरिक तपन-वर्णन के लिए बिहारी प्रसिद्ध हैं। उनका तपन-वर्णन ऊहात्मक है। उन्होंने शरीर के ताप का माप भी किया है।

इतनी तपन है। बिहारी की विरहिनी को गुलाबजल छाती तक नही पहुँचता, वरन् बीच ही मे भाप बनकर उड जाता है। विरहिनी की तपन से जो लपटें निकलती है उनसे उसके गाँव में माघ की रात्रि मे लुएँ चलती हैं। जायसी ने शारीरिक एव मानसिक तपन का चित्रण किया है। हमारा यहाँ उद्देश्य शारीरिक तपन से ही है। मानसिक तपन की बडी व्याप्ति है और उसके अन्तर्गत सभी मानसिक दशाएँ आ सकती हैं। फलत जब तपन का वर्णन होता है तो शारीरिक तपन का ही। भारतेन्दुजी ने शारीरिक तपन का वर्णन नही किया है। केवल विरह को अग्नि बताया है—

"हाथ सरगी लिये बजावत गाय जगावत विरह अगिनियाँ"

"विरहागिन धूनी चारो ओर लगाई।"

(७) कृशता—विरह-व्याधि है। फलत शरीर मे विरह-व्याधि का परिणाम लक्षित होता ही है। वह व्याधि 'तनुता' या कृशता के रूप मे प्रकट होती है।

चन्द्रावली—सखी, मैं जब आरसी मे अपना मुँह देखती और अपना रग पीला पाती थी तब भगवान से हाथ जोडकर मनाती थी कि भगवान मै उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे।

जोगिन—मुँह सूख कर छोटा-सा हो गया।

वियोग की तीसरी स्थिति या सीढी विषम अवस्था है। यह शरीर और मन से अतीत सज्ञाहीनता की अवस्था है। इसकी ५ दशाएँ है—(१) प्रलाप, (२) उन्माद, (३) जडता, (४) मूर्च्छा और (५) मृति।

(१) प्रलाप—जब विरहिनी अपने से बकती चली जाती है, रुकती नही है, यह भी नही सोचती कि सामने वाला सुन रहा है या नही तो वहाँ 'प्रलाप' दशा है। चन्द्रावली मे यह दशा बडी मात्रा मे भरी है। उदाहरण—

चन्द्रावली (घबडाकर) वा सूरज निकस्यो ? भोर भयो। हाय-हाय ! या गरमी मे या दुष्ट सूरज की तपन कैसे सही जायगी। अरे भोर भयो, हाय भोर भयो ! सब रात ऐसे ही बीत गई, हाय फेर वही घर के ब्योहार चलेंगे, फेर वही नहानो वही खानो, वेई बातें हाय...(इत्यादि)।

चन्द्रावली—(आप ही आप) हाय ! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नही ध्यान देते। प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम-तुम कहाँ ? प्यारे, यह सजोग हमको तो अब की ही बना है, फिर यह बातें दुर्लभ हो जायँगी। हाय नाथ ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमगें कैसे निकालूँ। प्यारे, रात छोटी है और स्वाँग बहुत है...(इत्यादि)।

(२) उन्माद—प्रलाप करते-करते जब नायिका भावावेग मे अपनी स्थिति, अपने चारो ओर के वातावरण एव लोक-लज्जा को भूलकर असगत अथवा उट-पटाँग व्यापार भी करने लगे तो वह उन्माद की अवस्था है। उदाहरण—(वन-

देवी चन्द्रावली की पीठ पर हाथ फेरती है।)

चन्द्रा०—(जल्दी से उठ, वन देवी का हाथ पकडकर) कहो प्राणनाथ ! अब कहाँ भागोगे ?

(वनदेवी) हाथ छुडाकर एक ओर और वर्षा-संध्या दूसरी ओर वृक्षों के पास हट जाती है।

चन्द्रा०—अच्छा क्या हुआ, यों ही हृदय से भी निकल जाओ तो जानूँ, तुमने हाथ छुडा लिया तो क्या हुआ मैं तो हाथ नही छोड़ने की। हाँ, अच्छी प्रीति निबाही। (वनदेवी सीटी बजाती है)

चन्द्रा०—देखो दुष्ट को, मेरा तो हाथ छुडा कर भाग गया, अब न जाने कहाँ खडा बसी बजा रहा है। अरे छलिया कहाँ छिपा है ? बोल-बोल कि जीते-जी न बोलेगा (कुछ ठहरकर) मत बोल, मैं आप पता लगा लूँगी। (वन के वृक्षो से पूछती है) अरे वृक्षो, बताओ तो मेरा लुटेरा कहाँ छिपा है ? क्यों रे मोरो, इस समय नही बोलते—(एक-एक पेड से जाकर गले लगती है। वन देवी फिर सीटी बजाती है।)

चन्द्रा०—अहा ! देखो, उधर खडे प्राणनाथ मुझे बुलाते हैं, तो चलो उधर ही चलें(अपने आभरण सँवारती है)। (वर्षा और संध्या पास आती है।)

वन०—(हाथ पकडकर) कहाँ चलि सजि कै ?

चन्द्रा०—पियारे सों मिलन काज—

वन०—कहाँ तू खडी है ?

चन्द्रा०—प्यारे ही को यह धाम है ? (इत्यादि)

जोगिन का गाना सुनने के बाद—

चन्द्रा०—(उन्माद से) डोलूँगी-डोलूँगी सग लगी।

(३) जड़ता—विरहिनी रिक्तावस्था मे बैठी रह जाती है, जडवत्, यह 'जड़ता' दशा है।

वनदेवी—(चन्द्रावली के कान के पास) अरी मेरी वन की रानी चन्द्रावली! (कुछ ठहरकर) राम ! सुनैंहू नही है। (और ऊँचे सुर से) अरी मेरी प्यारी सखी चन्द्रावली ! (कुछ ठहरकर) हाय ! यह तो अपुने सों बाहर होय रही है। अब काहे को ये सुनैगी (और ऊँचे सुर से) अरी ! सुन नाँयनै री मेरी अलख लड़ैती।

(४) मूर्च्छा—वियोग दुःख के अतिरेक मे मूर्च्छा तक आ जाती है। उदाहरण—'तोलौ मुख पावै जौलौ मुरछि परी रहै।'

चन्द्रा०—अरे प्रेम ! मैंने प्रेमिन बनकर तुझे भी लज्जित किया कि अब तक जीती हूँ। इन प्रानो को अब न जाने कौन लाहे लूटने है कि नही निकलते। अरे कोई देखो, मेरी छाती वज्र की तो नही है कि अब तक...(इतना कहकर

मूर्च्छित होती है।)

चौथे अंक में भी गाकर बेसुध होती है जब कि जोगिन कृष्ण बनकर हाथों पर संभाल लेते है।

(५) मृति—मृति का वर्णन करुण रस के अन्तर्गत आता है, विप्रलंभ मे नही। अत आचार्यों ने मरणतुल्य दशा को विप्रलंभ में स्थान दिया है। उदाहरण—

(क) बिना प्रान प्यारे भए दरस तुम्हारे हाय,
देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रह जायेंगी।

(ख) (दूसरे अक के अकावतार मे चन्द्रावली का पत्र)

चलो वाह ! अच्छी प्रीति निबाही ! जो हो, तुम जानते ही हो, हाय कभी न करूँगी यों ही सही, अत मरना है, मैंने अपनी ओर से खबर दे दी, अब मेरा दोष नही।

(ग) विलासिनी—सखी, हमारे तो प्रान ताई यार्प निछावर है पर जो कछू उपाय सूझै।

चन्द्रा०—(रोकर) सखी, एक उपाय मुझे सूझा है जो तुम मानो।

माधवी—सखी, क्यो न मानेगी तू कहै क्यों नही।

चन्द्रा०—सखी, मुझे अकेली छोड जाओ।

माधवी—तो तू अकेली यहाँ का करैगी ?

चन्द्रा०—जो मेरी इच्छा होगी।

माधवी—भलो, तेरी इच्छा होयगी हमहूँ सुनें ?

चन्द्रावली—सखी, वह उपाय कहा नही जाता।

माधवी—तौ का अपनो प्रान देगी। सखी, हम ऐसी भोरी नही है कि तोहि अकेली छोड जायेंगी।

विलासिनी—सखी, तू व्यर्थ प्रान देने को मनोरथ करैहै तेरे प्रान तोहि न छोडेंगे। जौ प्रान तोहि छोड जायेंगे तो इनको ऐसो सुन्दर शरीर फेर कहाँ मिलैगो।

चन्द्रा०—(रोकर) हाय ! मरने भी नही पाती। यह अन्याय।

इस प्रकार पूर्वराग प्रेम के वियोग-वर्णन में नाटककार ने बीसो दशाओं का अकन किया है, यह नाटककार की रस-प्रयोग कुशलता का बहुत बडा प्रमाण है। हिन्दी मे कोई दूसरा नाटक नही है जिसमे विप्रलभ की रस-सरिता इतनी तीव्रता प्रखरता और विशालता से प्रवाहित की हो।

भक्ति

प्रश्न है कि चन्द्रावली मे शृगार ही का चित्रण है, अथवा भक्ति-भावना की भी व्यंजना है ? पूर्वराग मे कृष्ण-विरह एवं मिलन का वर्णन होने से इसमे

शृंगार रस का चित्रण है। शृंगार रस की यह एक सुन्दर नाटिका है। किन्तु नाटिका में शब्दों के पीछे नाटककार का भक्त-हृदय बोल रहा है। चन्द्रावली नाटिका में शृंगार रस है, यह उनके इन दोनों दोहों से स्पष्ट है जो मुख पृष्ठ पर मुद्रित हैं—

काव्य सुरस सिंगार के दोउ दल कविता नेम,
जग जन सों कै ईस सों कहियत जेहि पर प्रेम।

शृंगार को ही प्रेम कहते हैं। यह दो प्रकार का हो सकता है—मानव-प्रेम और ईश्वर-प्रेम। चन्द्रावली की कथा में एक स्त्री का एक नायक के प्रति अनन्य अनुराग वर्णित है। उसके उद्‌गार भी मानवोचित हैं। वह सोते में कुछ देखती रहती है, लगौहें नेत्रों को कोसती है। कभी कहती है—"देखो दुष्ट को, मेरा तो हाथ छुड़ाकर भाग गया, अब न जाने कहाँ खड़ा बंसी बजा रहा है। वह कुल-कानि की चिंता नहीं करती, कलंक को सिर चढ़ाती है, और इच्छा करती है कि प्यारा मुख दिखा जाय, झूले में झुला जाय, आकर हृदय से लगा जाय।" कभी कहती है—"मनि परसौ तन रस और के रस अधर तुव जूठे", कभी गलबाँही देती है।

इन उद्‌गारों से एवं कथा के विवेचन से भासित होता है कि मानवी प्रेम का वर्णन है। किन्तु इसके पीछे भक्ति छिपी है। मुख पृष्ठ के दूसरे दोहे में नाटक-कार अपनी नाटिका की सूचना देता हुआ कहता है—

हरि उपासना, भक्ति, वैराग, रसिकता ज्ञान,
सोधै जन जन मानि या चन्द्रावलिहि प्रमान।

स्पष्ट है कि नाटककार इसमें कृष्ण-भक्ति भर रहा है जो सोधक को प्राप्त होगी। आगे समर्पण में भी नाटककार कृष्ण को पुस्तक समर्पित करते हुए कहता है—"इसमें तुम्हारे प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है।" निश्चय हुआ कि चन्द्रावली में ईश्वर-प्रेम का वर्णन है। किन्तु तभी तो नाटककार कहता है कि यहाँ है तो ईश्वर-प्रेम, किन्तु "जो अधिकारी नहीं है उनकी समझ ही में न आवेगा।"

भक्ति-सिद्धान्त को और अधिक गौरव देने के लिए नाटककार ने शुकदेव और नारद की साक्षी दिलाई है। शुकदेवजी कहते हैं—वह जो परम प्रेम अमृत-मय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रहस्वरूप ज्ञान—विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप से आप खुल जाता है—वह किसी को नहीं मिली, मिले कहाँ से? सब उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं। बिलकुल यही बात चन्द्रावली दूसरे अंक के प्रारम्भ में कहती है, "वाह प्यारे, वाह! तुम और तुम्हारा प्रेम दोनों विल-क्षण है, और निश्चय, बिना तुम्हारी कृपा के इसका भेद कोई नहीं जानता। जाने कैसे? सभी उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं। जिसने जो समझा है, उसने वैसे

ही मान रगा है। हा ! यह तुम्हारा जो प्रगट परमानंदमय प्रेम है और जो ज्ञान-वैराग्यादिकों को तुच्छ करके परम शान्ति देने वाला है उसका कोई स्वरूप ही नहीं जानता, सब अपने ही गुण में और अभिमान में भूले हुए हैं।

आरम्भ में जो विचार व्यक्त रखता है उसी की प्रन्त में विशाखा द्वारा पुष्टि होती है। कृष्णचन्द्रावली मिलन के समय नाटिका में विशाखा कहती है—"या प्रेम की तो अकथ कहानी है। तेरे प्रेम को परिलेख तो प्रेम ही टरभार होयगी और उत्तम प्रेमिन को छोडि और काहू की समझ ही में न आवैगी। तू धन्य तेरो प्रेम धन्य, या प्रेम के समभिवेवारे धन्य और तेरे प्रेम को चरित्र जो पढ़ै सो धन्य।" फलत हम सरलतया निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि चन्द्रावली नाटिका भक्ति का नाटक है जिसमें भारतेन्दुजी ने अपनी मधुर भक्ति का उद्घाटन किया है। यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम उनके 'भक्तिसूत्र वैजयन्ती' और 'तदीय सर्वस्व' ग्रन्थो का अवलोकन करते हैं। इन ग्रन्थों के भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तो एव विचारो के उदाहरणस्वरूप चन्द्रावली नाटिका लिखी गई है।

'भक्तिसूत्र वैजयन्ती' में महर्षि शाण्डिल्य के १०० सूत्रो का अर्थ और उनकी व्याख्या है तो 'श्री तदीय सर्वस्व' में नारदीय भक्तिसूत्र के सूत्रो पर व्याख्या है। दोनों के विचारों को एकत्र कर ले तो चन्द्रावली नाटिका के सभी विचार इनके अन्तर्गत आ जाते है। भक्तिसूत्र वैजयन्ती के प्रथम सूत्र में भक्ति की परिभाषा दी गई है। भक्ति क्या है? "परानुरक्तिरीश्वरे" (१) ईश्वर मे पूरे अनुराग को कहते है (२) यहाँ 'परा' शब्द कामनाओं की निवृत्ति के हेतु और 'अनुरक्ति' शब्द हृदय के सच्चे प्रेम के अर्थ में प्रयुक्त है। और ईश्वर—माहात्म्य ज्ञान के हेतु है, जैसा श्री गोपी जन को। "यह हृदय सम्पूर्ण अनुराग ईश्वर को गोपियो द्वारा प्राप्त हुआ था, फलत वे भक्तो मे श्रेष्ठ है। ज्ञान और भक्ति मे अन्तर है। भक्ति आ जाने से ज्ञान का लक्ष्य हो जाता है।"(सूत्र ५)। उदाहरणस्वरूप भारतेन्दुजी गोपियो को सामने रखकर कहते है "जैसे श्री गोपी-जन को महात्म्य ज्ञान पूर्ण था तथापि प्रियतम, कितव इत्यादि नाम से भगवान को पुकारती थी।" यह भक्ति भगवत्कृपा से ही प्राप्त होती है। भक्ति के क्षेत्र मे गोपियों को श्रेष्ठता प्राप्त है। भक्ति की शुद्धि या श्रेष्ठता का पता कैसे चले? प्रेम के प्रकट अनुभावो से? "तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिङ्गेभ्य" (४३) भक्ति की परिशुद्धि का ज्ञान लोक अर्थात् प्रेम के चिह्नों से होता है। इन चिह्नों की व्याख्या करते भारतेन्दुजी कहते है "अश्रु, रोमाच, गद्गद इत्यादि स्थायी भावो मे किसको कितना प्रेम है यह प्रगट होता है।" स्थायी भाव से भारतेन्दुजी का अभिप्राय है। ये अश्रु रोमाच इत्यादि क्षणभगुर न हो। इसी कारण चन्द्रावली मे अश्रु की प्रधानता है।

भक्ति मे विरह को श्रेष्ठता प्राप्त है। प्रीति या भक्ति के लक्षण क्या है?

सम्मान, बहुमान, प्रीति-विरह, विचिकत्सा अर्थात् आग्रहपूर्वक दूसरे की अनपेक्षा महिमा का कथन, प्रियतम ही के हेतु प्राणरक्षण, तदीयता, सब उनके भावों से देखना, अप्रातिकूल्य अर्थात् अनुकूलता आदि प्रीति के लक्षण हैं (४४) इसकी व्याख्या में विरह के उदाहरण मे गोपियों को रखा गया है। १६वें नारदीय भक्तिसूत्र की व्याख्या में भारतेन्दुजी कहते हैं "नारदजी तो सर्वकर्म श्री हरि मे अर्पण करना और भी श्री हरि की विस्मृति होने मे परम व्याकुल होना यही भक्ति का लक्षण कहते हैं। कर्म दो प्रकार के हैं, लौकिक और पारलौकिक। प्रेमियों के दोनों कर्म यहाँ लिखते है। पारलौकिक मे भक्तों का एतावन्मात्र कर्त्तव्य है कि अपने सब आचरणों को भगवान में अर्पण करना और लौकिक मे इतना कर्तव्य है कि जब भगवद्वियोगजनित परमानन्द का हृदय मे तनिक भी विस्मरण होने तक परम व्याकुलता होनी।" तो अलौकिक कर्म तो तत्समर्पण से निवृत्त हुए, लौकिक मे जब व्याकुलता का उदय होगा तो आप ही सब काम छुट जायेंगे। इसमे लौकिक तथा पारलौकिक दोनों कर्मों की प्रवृत्ति मे अलग होकर अनवछिन्न तैलधारावत् सर्वक्षण भगवद्वृत्ति मे मग्न रहना, सर्वदा लीला का अनुभव करना, सर्वदा वियोग का अनुभव करना, किसी काम मे लगे हो परन्तु चित्त उधर ही रखना, जो वह ध्यान तनिक भी भूले तो एक संग व्याकुल हो जाना यही भक्ति का लक्षण है।[1] इस व्याख्या के प्रकाश मे चन्द्रावली का रोना और कल्पना सार्थक सिद्ध हो जाएगा।

भगवान् का कथन है—हे उद्धव, उन गोपी जन ने मुझ मे मन लगाया है, मैं ही उनका प्राण हूँ, मेरे हेतु उनने सब देह के व्यवहार छोड दिये है और जो लोग मेरे अर्थ लोक और धर्म को छोड़ देते है उनको मैं धारण करता हूँ। वे गोपियाँ उनके परम प्यारों मे प्यारे मेरे दूर रहने से जब मेरा स्मरण करती है तो विरह की उत्कंठा से व्याकुल होकर अपने शरीर की सुध भी भूल जाती हैं। बड़ी कठिनता से और बड़े दुःख मे मेरे बिना किसी रीति प्राण धारण करती है मेरे आने के संदेश सुन कर जीती हैं।[2] चन्द्रावली में इसी व्याकुलता का चित्रण है। विष्कंभक मे शुकदेवजी कहते हैं—"जहाँ माहात्म्य ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य ज्ञान नहीं होता। ये धन्य हैं कि इनमे दोनों बातें एक संग मिलती है।" श्रीतदीय सर्वस्व मे लिखा मिलता है "जहाँ प्रेम है वहाँ माहात्म्य ज्ञान नहीं, जहाँ माहात्म्य ज्ञान है वहाँ प्रेम नहीं, परन्तु श्री गोपी जन मे दोनों बातें थीं।"[3] जब मनुष्य भगवान् का हो गया तो क्या अवस्था हो जाती है ? उसको पाकर उसीको देखता है, उसी

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—तीसरा भाग, पृ० ५६८
२. वही, पृ० ६००
३. वही, पृ० ६०१

को सुनता है, उसी को बोलता है और उसी का चिन्तन करता है'। चन्द्रावली की दशा ऐसी ही तो है? भक्त एकान्ती होता है। 'एकान्ती' का अर्थ है कि भक्त अपनी भक्ति को गुप्त रखता है और हृदय ही हृदय में ध्यान करता रहता है। ऐसे भक्त लोग 'कंठ का अवरोध, रोमांच और अश्रु आदि से युक्त होते हैं।'[१]

यह भक्ति प्रेम-रूपा है अर्थात् आसक्ति से सम्बन्ध है। आसक्ति के ग्यारह रूप हैं—१ गुण माहात्म्यासक्ति २ रूपासक्ति, ३ पूजासक्ति, ४ स्मरणासक्ति, ५ दास्यासक्ति, ६ सख्यासक्ति ७ कान्तासक्ति, ८ वात्सल्यासक्ति ९ आत्म-निवेदनासक्ति, १० तन्मयतासक्ति, ११ परमविरहासक्ति। गोपियों को सभी आसक्तियाँ सिद्ध हैं। इनमें तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति प्रधान है। चन्द्रावली में भी इन्हीं की प्रधानता है। आत्मनिवेदनासक्ति कान्तासक्ति, दास्यासक्ति, स्मरणासक्ति, रूपासक्ति और गुण माहात्म्यासक्ति भी कहीं अछूती नहीं रही है। अथ पराकार पूजा भी की जाती है। सखीत्व नारीत्व और दुग्ध-स्वरूप- इन दोनों भक्ति-पक्षों का पालन होता नहीं है जो चन्द्रावली का पालन होता अर्थात् -'भक्ति नह नर नीर निर, वरजत गुरुजन कौर'।

अब एक प्रश्न होता है कि भारतेन्दु ने अपनी माधुर्यात्मक भक्ति-भावना के प्रकाशन हेतु चन्द्रावली ही को क्यों चुना? श्री राधिकाजी अथवा अन्य किसी सखी को ले लेना था। श्री राधाजी और श्रीकृष्णजी में कोई अन्तर नहीं है। ये दोनों तो एक हैं। दूसरे वल्लभ सम्प्रदाय में राधिकाजी स्वकीया हैं और श्रुति रूपा श्री चन्द्रावलीजी परकीया।[२] भारतेन्दुजी को परकीया रूप श्रीचन्द्रावली की भक्ति प्रिय थी क्योंकि भगवान् के लिए सभी आत्माएँ परकीया हैं, स्वकीया तो उनकी शक्ति है ही, राधिकाजी। चन्द्रावली भगवान् की रासलीला में सम्मिलित होने वाली सखा—सखियों में प्रमुख हैं।[३] अतः भारतेन्दुजी ने चन्द्रावली को अपने भक्ति-ग्रंथों में प्रधानता दी है जो पुष्टिमार्गीय ग्रंथों के अनुरूप है। भारतेन्दुजी सखियों का वर्णन करते हुए कहते हैं "अष्टसखियों में श्री चन्द्रावलीजी प्रधान हैं। कारण? श्री चन्द्रावलीजी को स्वमितीत्व है और सदन को सखित्व है याही सो पंचाध्यायी में अन्तर्धान और आविर्भाव और महारास तीनिहूँ समै में काचित् काचित् करिके नाम ही लिनाई है।[४]" "कुंजमंडल में चार ही निकुंज है" पहलो श्री यमुनाजी को, दूसरो श्रीनिकुंमारिका को, तीसरो श्रुतिरूपा की मुखिया श्री चन्द्रावलीजी को और चौथा निज निकुंज है। ऐसे ही अनरग कुंज में इन स्वरूपन के आधिदैविक स्वरूप क्रम सों भी यमुनाजी,

१ भारतेन्दु ग्रन्थावली—तीसरा भाग, पृ० ६१८
२. वही, पृ० ६२०   ३. वही, पृ० ६२३
४ सूर-निर्णय : प्रभुदयाल मीतल, प्र० भाग, पृ० २१०
५ भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग ३, पृ० ६६१

श्री राधा महचरी श्री चन्द्रावलीजी और जुगल स्वरूप विराजत हैं और वे स्वरूप अलौकिक मनुष्य के ज्ञान के बाहर के है।[1]

फलत: भारतेन्दुजी ने चन्द्रावली को नाटिका बना कर उसके माध्यम मे मधुरा भक्ति को नाटिका मे व्यक्त किया है। तदीय सर्वस्व एवं युगल सर्वस्व भक्ति-ग्रंथों का प्रथम दोहा "भरित नेह नवनीर नित बरसत सुरस अथोर" चन्द्रावली का नांदी बना है। शेष मे चन्द्रावली के रूप में उनकी प्रेमा-भक्ति प्रवाहित है। दाम्पत्य भाव की भक्ति मे शृंगार के सभी भागों का वर्णन विस्तार मे है। अत स्पष्टत: शृंगार सामने आता है और भक्ति पीछे छिपी है। भक्ति-भाव संकेतित हैं।

सफल नाटिका

हिन्दी जगत् मे 'चन्द्रावली' नाटिका का सर्वोत्तम उदाहरण है। आज तक सभी विद्वानो एव आलोचकों ने इसे सफल नाटिका माना है और मुक्त कठ से उसकी प्रशंसा की है। इसमे नाटिका के सभी शास्त्रीय लक्षण प्राप्त होते हैं। नाटिका के लक्षण हैं—

> नाटिका क्लृप्त वृत्ता स्यात्स्त्री प्राया चतुरङ्किका
> प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृप ॥ (६-२६६)
> स्यादन्त: पुरसबद्धा संगीतव्यापृताथवा
> नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा ॥ (६-२७०)
> स प्रवर्तेत नेतास्या देव्यास्त्रासेन शङ्कित.
> देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ (६-२७१)
> पदे पदे मानवती तद्वश: सगमो द्वयो :
> वृत्ति स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्श: संधय: पुन: (६-२७२)
> (साहित्य दर्पण)

(१) नाटिका का कथानक कवि द्वारा कल्पित होना चाहिए। (२) इसमे ४ अक होने चाहिए। (३) इसका नायक धीरललित होता है। कनिष्ठ प्रेयसी पर यह अपनी ज्येष्ठा महारानी या पत्नी के भय से अपना प्रेम प्रकट नही होने देता। (४) नाटिका मे स्त्री-पात्रों की संख्या अधिक होगी। (५) इसकी नायिका राजवंश की या रनिवास से सम्बन्धित कोई अनुरागवती, गायन प्रवीण कन्या होगी (६) ज्येष्ठा महारानी मानवती राजवंशीय प्रगल्भा नायिका होगी। यह नायक नायिका मे प्रेम कराती है। (७) चारो अको मे कैशिकी वृत्ति के चारो अगो मे पालन होगा। (८) विमर्श संधियाँ बहुत कम—नही के बराबर होती हैं।

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग ३, पृ० ६६५।

इस कसौटी पर परखने पर चन्द्रावली एक सुन्दर सरस नाटिका सिद्ध होती है। इसका कथानक कहीं किसी पुराण या इतिहास में नहीं प्राप्त होता। कवि-हृदय की प्रेम-वृत्ति के हेतु इस कथानक की कल्पना करता है। इसमें चार अंक हैं और चारों अंकों में कैशिकी वृत्ति के चारों अंगों का पूर्णतया पालन हुआ है। पहले अंक में 'नर्म' वृत्ति है। नर्म वृत्ति वहाँ होती है जहाँ चातुर्यपूर्ण क्रीड़ा हो। चन्द्रावली सखी ललिता से अपना प्रेम छिपाती है पर प्रेम कहीं छिपाने से छिपा करता है—नतु सनेह कैसे दुरै दृग दीपक जरे दोर।

चन्द्रावली आठों पहर हाथ की आरसी में कुछ देखती रहती है। ललिता समझती है—तेरे नेत्रों में कृष्ण की मनमोहन मूर्ति है। तू सदा उसी को निहारा करती है। है न यही बात—

"तेरे नैन मूरति पियारे की बसत ताहि।
आरसी मैं रैन दिन देखिबो करत है।"

पर चन्द्रावली इस तर्क को स्वीकार नहीं करती। वह आरसी का दर्शन देखती अवश्य रहती है, पर मोहन-मूर्ति नहीं। वह क्या देखती है—सखी! मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी तब भगवान् से हाथ जोड़ कर मांगती थी कि भगवान्! मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे।

दूसरे अंक में कैशिकी वृत्ति का दूसरा अंग नर्मस्फूर्ज है। 'नर्मस्फूर्ज' वहाँ होती है जहाँ आरम्भ में सुखकर तथा अन्त में भयदायक नवीन समागम हों। प्रथम सम्मिलन में प्रेम का प्रदर्शन होता है किन्तु उसका अन्त भय में होता है।

दूसरे अंक में कृष्ण से प्रत्यक्ष मिलन नहीं होता, परोक्ष होता है। वनदेवी चन्द्रावली का हाथ पकड़ती है। बस यह समझ कर कि प्यारे ने मेरा हाथ पकड़ लिया वह आह्लादित हो अपने हृदय की छिपी भावनाओं का अवगुंठन खोल देती है। वह वनदेवी हाथ छुड़ाकर भाग जाती है। दूर खड़ी हो सीटी बजाती है। सीटी को बाँसुरी समझ चन्द्रावली कहती है—

देखो दुष्ट को, मेरा तो हाथ छुड़ाकर भाग गया। अब न जाने कहाँ खड़ा बंशी बजा रहा है। अरे छलिया कहाँ छिपा है? बोल बोल कि जीते जी न बोलेगा।..

चन्द्रमा को सूरज समझ उसकी तीक्ष्ण तपन से विह्वलता प्रकट करती है। चन्द्रमा चन्द्रावली की ओर जाता है। रोती है, कलपती है, गद्गद होती है।

—सब सखियाँ हिंडोले झूलती होंगी, पर मैं किस के संग झूलूँ, क्योंकि हिंडोला झुलाने वाले मिलेंगे, पर आप भीज कर मुझे बचाने वाला और प्यारी कहने वाला कौन मिलेगा। (रोती है) हा! मैं बड़ी निर्लज्ज हूँ। अरे प्रेम। मैंने प्रेमिन बनकर तुझे भी लज्जित किया कि अब तक जीती हूँ, इन प्रानो

को अब न जाने कौन लाहे लूटने हैं कि नहीं निकलते ! अरे ! कोई देखो, मेरी छाती वज्र की तो नहीं है कि अब तक...

मूच्छित हो गिरा चाहती है पर सखियाँ पकड लेती है। चन्द्रावली का प्रेम-पत्र एक सूमट बुढ़िया के हाथ पड जाता है जो गिर पडा था। चपकलता काँप जाती है, शंकित और भयभीत होती है "ऐसो न होय के यह बात फांडि कै उलटी आग लगावैं।"

तीसरे अंक में 'नर्मस्फोट' वृत्ति है। नर्मस्फोट वृत्ति वहाँ होती है जहाँ हार्दिक भाव थोडे-थोडे प्रकाशित किये जाय तथा उनसे प्रेम-वृत्ति प्रगट हो। शारीरिक क्रियाओ एवं चिह्नों से प्रेम खुलने लगता है।

चन्द्रावली की क्रियाओं से उसका प्रेम प्रत्यक्ष होता है। सखियाँ झूलने का उपक्रम करती हैं। चन्द्रावली "या रुत मे सब अपनो मनोरथ पूरो करै और मेरी यह दुरगति होय" कह रोने लगती है। प्यारे को एक लम्बा उपालम्भ देकर पुन. रो रही है। असह्य वेदना न सह सखियो से कहती है कि मुझे एकात मे प्राण दे लेने दो। सखियाँ चन्द्रावली से हिंडोले पर झूलने की प्रार्थना करती है तो चन्द्रावली भौतिक हिंडोले पर बैठने से इनकार कर कहती है—

> मिलन मनोरथ के झोटन बढाइ सदा
>
> विरह हिंडोरे नैन झूल्योई करत हैं।

एवं बरसाती बादलों को देख दुखी होकर हतभागिनी चन्द्रा कहती है—यह बदरा बादल मुझे बहुत दुखी कर रहे है।

> देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत
>
> पट छोरे मेरे हिय फहरि फहरि उठै।

चतुर्थ अंक मे चौथी वृत्ति 'नर्म गर्भ' है। यह वृत्ति वहाँ होती है जहाँ नायक गुप्त रूप से प्रेम की बाढ मे कोई व्यापार करे। यह व्यापार प्रिया से मिलन का ही होगा। 'चन्द्रावली' के चौथे अंक मे नायक कृष्ण जोगिन का भेष बनाकर चन्द्रावली से मिलने आ जाते है।

इस नाटिका का नायक धीरललित है एवं चन्द्रावली पर राधिका के भय से अपना प्रेम नही प्रकट करता है। नायिका उच्चवश की गायन-प्रवीण एव अनुरागमयी कुमारी है। ज्येष्ठा स्वामिनी राधिकाजी पहले तो चन्द्रावली के *गुप्त-प्रणय को जान कर क्रुद्ध होती है किन्तु उसकी निष्ठा एवं दृढ़ता देखकर* मिलन करा देती है। वे आज्ञा देती हैं कि स्वामी चन्द्रावली के कुंज में पधार उस वियोगिनी का मनोरथ पूर्ण करें।

चारो सधियाँ नाटिका में प्राप्त है, इनका विवेचन हम वस्तु-विवेचन के अन्तर्गत ऊपर कर चुके हैं।

प्रकृति चित्रण

हिन्दी नाटकों ने संस्कृत नाटकों की उस परम्परा को नहीं अपनाया जिसके अन्तर्गत नाटकों में प्रकृति चित्रण को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। महाकवि कालिदास से महाकवि भवभूति तक नाटकों में प्रकृति ने अपना मधुर और मनोहर लास्य किया। किन्तु हर्ष के नाटकों में प्रकृति को वह गौरवपूर्ण पद प्राप्त नहीं हुआ है और यहीं से प्रकृति, मान करके रूठने लगी है तथा उसका चित्रण क्षीण होने लगा है। महाराज हर्ष ने प्रकृति को राजकीय उद्यानों में बंद कर दिया। रत्नावली एवं प्रियदर्शिका इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। नागानंद में अवसर था कि मलय पर्वत का खुला रूप सामने आता किन्तु वहाँ तपोवन ही दिखाई दिया और शीघ्र ही मलयवती के उद्यान में प्रकृति जा छिपी जहाँ जीमूतवाहन और मलयवती विवाह के पश्चात् पहुँचते हैं। सातवीं शताब्दी के बाद के संस्कृत नाटक स्पष्ट घोषित करते हैं कि हमारा ध्यान मानवी प्रकृति पर टिका है, केवल प्रकृति पर नहीं। वेणीसंहार, कर्पूरमंजरी, प्रबोध चन्द्रोदय, प्रसन्नराघव, चित्तवृत्ति कल्याण जीव मुक्ति कल्याण, विज्ञान विजय इत्यादि नाटक इसके प्रमाण में रखे जा सकते हैं।

ब्रजभाषा नाटकों में अधिकांश नाटक अनूदित हैं। मौलिक नाटकों में भी प्रकृति को स्थान नहीं प्राप्त हुआ है। भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों में प्रकृति को मंच पर बिठाया है किन्तु आदि संस्कृत नाटकों के अनुरूप नहीं। प्रकृति कभी-कभी सामने आती है, वह भी भाव-तरंगित होकर चन्द्रावली में प्रकृति को सबसे अधिक देर ठहरना पड़ा है। हिन्दी साहित्य में प्रकृति के छ: रूप दिखाई देते हैं—(१) उद्दीपन रूप (२) आलम्बन रूप (३) अलंकृत रूप (४) मानवी रूप (५) उपदेशक रूप (६) आध्यात्मिक या रहस्यवादी रूप।

चन्द्रावली में प्रथम तीन रूप मिलते हैं। एक स्थान पर मानवी रूप का भी छोटा सा संकेत है।

संस्कृत की प्रमुख नाटिकाओं में प्रेम-क्रीड़ा का क्षेत्र राजकीय प्रासाद उद्यान है। मालविकाग्निमित्र, रत्नावली और प्रियदर्शिका इसके पुष्ट प्रमाण हैं परन्तु भारतेन्दुजी प्रेम-प्रकाशन के लिए प्रकृति की गोद में भी पहुँचते हैं। पहले अंक की पृष्ठभूमि में पर्वत है तो दूसरा अंक कदली वन के चारों ओर घूमता है। चौथे अंक में यमुना के पास वाली नाटिका है जो नगर से बाहर है। यमुना-वर्णन यहीं है।

उद्दीपन रूप

नाटिका में रस सामने ही रहता है। फलतः प्रकृति का उद्दीपन रूप

प्रधानता पा गया है। दूसरे और तीसरे अंक में प्रकृति का उद्दीपन रूप ही बार-बार सामने आता है। उदाहरण -

(क) कामिनी—सखी देख बरसात भी अबकी किस धूम-धाम से आई है मानों कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनके जीतने को अपनी सेना भिजवाई है। धूम में चारो ओर से घूम-घूम कर बादल परे के परे जमाए बगपंगति का निशान उड़ाए लपलपाती नंगी तलवार सी बिजली चमकाते गरज गरज कर डराते बान के समान पानी बरसा रहे हैं और इन दुष्टों का जी बढाने को मोर करखा-सा कुछ अलग पुकार-पुकार गा रहे हैं। कुल की मरजाद ही पर इन निगोड़ों की चढाई है। मनोरथों से कलेजा उमगा आता है और काम की उमंग जो अंग-अंग में भरी है उनके निकले बिना जी तिलमिलाता है। ऐसे बादलों को देखकर कौन लाज की चद्दर रख सकती है और कैसे पतिव्रत पाल सकती है। (अंक ३)

(ख) माधुरी—देख फिर पुरवैया झकोरने लगी और वृक्षों से लपटी लताएँ फिर से लरजने लगी। साडियों के आंचल और दामन फिर उडने लगे और मोर लोगों ने एक साथ फिर शोर किया। देख यह घटा अभी गरज गई थी पर फिर गरजने लगी। (अंक ३)

(ग) कामिनी—हाय-हाय! इस कठिन कुलाहल से बचने का उपाय एक विषपान ही है। इन दईमारों का कूकना और पुरवैया का झकोर कर चलना यह दो बातें बडी कठिन हैं। धन्य हैं वे जो ऐसे समय में रंग-रंग के कपडे पहिने ऊँची-ऊँची अटारियों पर चढ़ी पीतम के संग घटा और हरियाली देखती हैं वा बगीचों, पहाड़ों और मैदानों में गलबाही डाले फिरती हैं। दोनों परस्पर पानी बचाते हैं और रंगीन कपडे निचोड कर चौगुना रंग बढाते हैं। झूलते हैं, झुलाते हैं, हँसते है हँसाते हैं, भीगते हैं, भिगवाते है, गाते है, गवाते है, और गले लगते हैं, लगाते है। (अंक ३)

आलम्बन रूप

प्रकृति का अपना रूप कालिदास और भवभूति जैसे नाटककारों के हाथ सुन्दरता से सँवरा था। ब्रजभाषा में अनूदित नाटकों में उसे आना ही था। भारतेन्दुजी को प्रकृति की खुली गोद में अकेले जा कर विहारने का अवकाश कहाँ था। फलत. चन्द्रावली में भी प्रकृति का आलम्बन रूप बहुत ही कम चित्रित है। *आलम्बन रूप में सबसे बडा वर्णन 'जमुना-वर्णन' है।* चौथे अंक में जब कृष्ण योगिन वेश में आ रहे हैं तब ललिता जमुना का वर्णन करती है। यह पूरा वर्णन अलंकारों के भार से दब गया है। अलंकारों के घटाटोप में प्रकृति, खद्योत प्रकाश की-सी कभी-कभी ही दिखाई पडती है। अत. यह अलंकृत-वर्णन ही है।

प्रकृति का आलम्बन-रूप तीन शैलियों मे चित्रित हो सकता है— (१) सूची शैली, (२) छायाकन शैली (फोटो शैली) और (३) चित्र-शैली, जिसे संश्लिष्ट वर्णन भी कहा जा सकता है। उदाहरण—

(१) सूची शैली का प्रकृति-चित्रण—

कूजत कहुँ कलहँस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उडत कहूँ जलकुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावलि गावत।

(२) छायाकन शैली (फोटो शैली) का प्रकृति-चित्रण—

तिन पै जेहि छिन चन्द-जोति राका निसि आवति।
जल मैं मिलिकै नभ अवनी लौं तान तनावति॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्ज्वल इक ओभा।
तन मन नैन जुडात देखि सुन्दर सो सोभा॥

(३) चित्रवत् या संश्लिष्ट चित्रण—

कामिनी—देख, भूमि चारों ओर हरी-हरी हो रही है। नदी-नाले-बावली-तालाब सब भर गए। पच्छी लोग पर समेटे पत्तों की आड मे चुपचाप सकपके से हो कर बैठे है। बीरबहूटी और जुगुनूं पारी-पारी रात और दिन को इधर-उधर बहुत दिखाई पडते है। नदियों के करारे धमाधम टूटकर गिरते है। सर्प निकल-निकल कर अशरण मे इधर-उधर भागे फिरते है। मार्ग बन्द हो रहे है। (अक ३)

इस चित्रण मे पक्षियो का पख समेट कर नीडों मे चुपचाप 'सकपके-से बैठने' का वर्णन बड़ा ही सुन्दर और स्वाभाविक है। किन्तु अन्त मे नाटककार उद्दीपनात्मक रूप की ओर चला जाता है जिसकी ओर उसकी विशेष रुचि है।

अलंकृत चित्रण

जहाँ कोई कवि या लेखक प्रकृति के आलबन या उद्दीपन रूप पर अलंकारो का भार रख देता है, जब प्रकृति उपमान रूप मे प्रयुक्त होती है, जहाँ भाव से अधिक कला पर ध्यान चला जाता है, वहाँ प्रकृति का अलकृत चित्रण माना जाएगा। जमुना-वर्णन ऐसा ही वर्णन है। इसमें प्रकृति का यथार्थ रूप सामने कम आता है। अलकारो की भरमार अधिक है।

जमुना के किनारे पर सुन्दर कमल लगे हैं और सँवाल के मध्य कुमुद पुष्प पक्तियों मे सजे हैं।

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥

इसके पश्चात् कवि को अलंकारो की धुन लग जाती है, वह उत्प्रेक्षाओं,

नन्देहों का तम्बू उन पर तान देता है, और कहता है—

मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज सोभा।
कै उमगे पिय-प्रिया-प्रेम के अनगिन गोभा।।
कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग मोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई।।
कै पियपद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत।।
कै ब्रज-तियगन-वदन-कमल की झलकत झाईं।
कै ब्रज हरिपद-परस हेत कमला वहु आईं।।
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमंडल वगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत।।

कभी कृष्ण चन्द्रमा के रूप मे दिखाई पडते है तो कभी वर्षा एव बादलों के रूप में सभी स्थितियो में कृष्ण की प्रधानता है और चन्द्रमा वर्षा एव बादल उपमान के रूप में आते है। चन्द्रमा वर्षा और घन के अगो का कृष्ण के अगों पर आरोप होता है एवं सागरूपक सामने आते है।

कृष्ण और चन्द्रमा का सागरूपक—

देख सखी देख अनभेख ऐसो भेख यह
जाहि पेख तेज रविहू को मद ह्वै गयो।
'हरीचद' ताप सब जिय को नसाइ चित
आनन्द बढ़ाइ भाइ अति छवि सों छयो।
ग्वाल-उड़गन बीच-बेनु को बजाइ सुधा
रस बरखाइ मान कमला लजा दयो।
गोरज-समूह घन-पटल उघारि वह
गोप-कुल - कुमुद - निसाकर उदै भयो।

कृष्ण और वर्षा का सांगरूपक—

बलि सांवरी सूरत मोहनी मूरत
आंखिन को कबो आइ दिखाइए।
चातकसी मरैं प्यासी परी
इन्हैं पानिप रूप-सुधा कबौ प्याइए।।
पीत पटै बिजुरी से कवौं
'हरिचन्द जू' धाइ इतै चमकाइए।
इतहू कवौ आइ कै आनन्द के घन
नेह को मेह पिया वरसाइए।।

प्यारे ! चाहे गरजो चाहे लरजो, इन चातकों की तो तुम्हारे बिना और गति ही नहीं है, क्योंकि फिर यह कौन सुनेगा कि चातक ने दूसरा जल पी

लिया, प्यारे ! तुम तो ऐसे करुणा के समुद्र हो कि केवल हमारे एक जाचक के इस छोटे चंचुपुट भरने मे कौन श्रम है क्योकि प्यारे, हम दूसरे पक्षी नही है कि किसी भांति प्यास बुझा लेगे—हमारे तो हे श्याम घन, तुम्ही अवलम्ब हो, हा !

कृष्ण और घन का सांगरूपक—

देखि घन स्याम घनस्याम की सुरती करि
जिय मैं बिरह घटा घहरि-घहरि उठै।
त्योंही इन्द्रधनु-बगमाल देखि बनमाल
मोतीलर पी की जय लहरि-लहरि उठै।
'हरीचद' मोर-पिक-धुनि सुनि बसीनाद
बांकी छवि बार-बार छहरि-छहरि उठै।
देखि-देखि दामिनी की दुगुन दमक पीत—
पट-छोर मेरे हिय फहरि-फहरि उठै।

अभिनय

'चन्द्रावली नाटिका' भारतेन्दुजी को अत्यन्त प्रिय थी और वे इसको अभिनीत देखना चाहते थे किन्तु उन्हे यह सुयोग प्राप्त न हुआ। इसका प्रमुख कारण है कि इसका अभिनय कार्य सरल न था। इसमे कृष्ण के अतिरिक्त सभी स्त्री पात्र है। कृष्ण भी स्त्री बन जाते हैं। अत एक प्रकार से इसके सभी पात्र स्त्री-रूप मे है। भारतेन्दुजी के काल मे स्त्रियां रगमञ्च पर आती ही न थीं, कुछ वेश्याएँ थीं जो पारसी रगमच पर आ गई थीं। इतने लडको को एकत्र करना जो स्त्रियों का अभिनय कर सकें, सरल न था। फिर कविताओ-गीतो के सस्वर पाठ एव गायन की भी एक समस्या थी। फलत भारतेन्दुजी की इच्छा पूरी न हुई और वे इसका अभिनय न देख सके। वैसे उन्होने चन्द्रावली मे अभिनय का ध्यान रखा है। इसके प्रमाण हैं—

इसकी दृश्य-योजना दुष्कर नही है। पहिले अक मे पर्वत के पर्दे के आगे कुछ वृक्ष रोप कर दृश्य-योजना की जायेगी। दूसरे अक मे पहिले दृश्य की रगसज्जा काम देगी, केवल एक-दो केले के वृक्ष और लगा देने हैं। तीसरे अक मे बस पर्दा बदलना होगा। एक सरोवर का पर्दा सामने आएगा शेष दृश्य वही रहेगा। चौथे मे एक भवन के कक्ष की रगसज्जा करनी है। खिडकी से जमुना जी का दिखाया जाना उस समय की दृष्टि से कुछ कठिन अवश्य है। इस समस्या को या तो सस्कृत नाटकों की भाँति केवल सकेत करके कि जमुनाजी दिखाई दे रही हैं, काम चलाया जा सकता है अथवा नेपथ्य मे से नदी का तीन-चार फुट ऊँचा पर्दा दिखाया जा सकता है।

भारतेन्दुजी के ध्यान मे पर्दों का प्रयोग था। यह उन्ही के रंग-सकेतों से

सिद्ध होता है। पहले अंक के आरम्भ का रंग-संकेत है "जवनिका उठी।" यहाँ विष्कम्भक समाप्त हुआ। दूसरे अंक की समाप्ति पर रंग-संकेत हैं "जवनिका गिरती है।" पात्रों के प्रवेश के समय उनकी वेशभूषा पादटिप्पणियों में दी गई है। जब दूसरे अंक में वनदेवी सध्या एवं वर्षा प्रवेश करती है तो उनकी वेश-भूषा इस प्रकार दी गई है :—

वनदेवी—हरा कपड़ा, पत्ते का किरीट, फूलों की माला।

सध्या—गहिरा नारंगी कपड़ा।

वर्षा—रंग साँवला, लाल कपड़ा।

इसी प्रकार कृष्ण जब जोगिन के वेश में आते है तो वेशभूषा है—गेरुआ सारी गहना सब जनाना पहिने, रंग साँवला। सेंदुर का लम्बा टीका बेंड़ा। बाल खुले हुए, हाथ में सारंगी लिये हुए, नेत्र लाल, अत्यन्त सुन्दर। जब-जब गावेगी सारंगी बजा कर गायेगी।

अन्य रंग-संकेत भी दिये गए हैं—

"जोगिन सारंगी बजाकर गाती है।"

'कभी आँसू भरकर, कभी कई बेर, कभी ठहर कर, कभी भाव बताकर, कभी बेसुर ताल ही, कभी ठीक-ठीक, कभी टूटी आवाज से पागल की भाँति गाती है।"

"गाते-गाते बेसुध होकर गिरा चाहती है कि एक बिजली-सी चमकती है और जोगिन कृष्ण बनकर उठाकर गले लगाती है और नेपथ्य में बाजे बजते हैं।"

"फूल की वृष्टि होती है, बाजे बजते है और जवनिका गिरती है।"

यदि आधुनिक स्त्री-पात्रों की एवं रंग-सज्जा की सुविधा भारतेन्दुजी को प्राप्त हो जाती तो भारतेन्दुजी अवश्य इसका अभिनय करा डालते। आज भी सीमित काव्य-प्रेमी सामाजिकों की मण्डली में इसका अभिनय करा के देखा जा सकता है। यदि शेक्सपियर के नाटक उसी रूप में सफल हो सकते हैं तो चन्द्रावली भी सफलता पा सकती है। लम्बे-लम्बे स्वगत कथन आज की दृष्टि से उबाऊ प्रतीत होते हैं। यद्यपि यूनानी, अंग्रेजी, संस्कृत एवं हिन्दी के प्राचीन नाटकों में भी लम्बे कथन प्राप्त होते हैं। इसका कारण है कि उस समय दर्शक रातभर बैठे रह सकते थे। और लम्बे कथन सुन सकते थे, उन्हें अखरते न थे। आज समय की सीमा लम्बे कथनों को अरुचिकर बना देती है। हम आज की दृष्टि से प्राचीन नाटकों को परखते है एवं उन्हें हीन सिद्ध कर देते हैं। आधुनिक दृष्टि से दीर्घ कथन अवश्य अरुचिकर प्रतीत होंगे। 'भारत दुर्दशा' में भी लम्बे कथन है और 'भारत दुर्दशा' का अभिनय उस समय सर्वत्र सफलतापूर्वक हुआ। वहाँ दीर्घकथन क्यों दोषमय नहीं? यह अवश्य है कि चन्द्रावली की अपेक्षा 'भारत दुर्दशा' में गति अवश्य बहुत अधिक है। नीलदेवी में 'पागल' का स्वगत कथन

भी लम्बा है किन्तु इसके अभिनय की प्रशंसा हुई, स्वयं एक बार भारतेन्दुजी ने इसका अभिनय किया था।

चन्द्रावली के कथन सभी नाटकों की अपेक्षा दीर्घ बन गए हैं। यही एक दोष उसके अभिनय पर लगाया गया है। दूसरा अवगुण है कि इसकी कथा में गति नहीं है। विपमोरधम् 'भाण' के भट्टाचार्य की भांति चन्द्रावली अपने आप बोलती चली जाती है। इन्ही दो दोषों के कारण चन्द्रावली का अभिनय दुष्कर माना गया है। किन्तु सीमित साहित्य-प्रेमियों के सामने इसका अभिनय सफल ही रहेगा। यह नाटिका सर्वसाधारण के समक्ष अभिनयार्थ नहीं लिखी गई थी।

भारत-दुर्दशा

भारतेन्दुजी को प्रिय थी अपनी 'चन्द्रावली नाटिका' तो जनता को प्रिय लगा उनका नाटक "भारत दुर्दशा"। इसका स्थान-स्थान पर बड़ी सफलता से अभिनय हुआ। भारत-दुर्दशा एक लास्यरूपक है—जिसका अर्थ है नृत्य-प्रधान नाटक। लास्यरूपक के पूर्व भारतेन्दुजी ने नाट्यरासक शब्द रखा है अर्थात् भारत-दुर्दशा को उन्होंने लास्यरूपक अथवा नाट्यरासक कहा है। इसका अभिप्राय है कि जिसे आज हम लास्यरूपक कहते हैं प्राचीन नाट्यशास्त्र की दृष्टि से हम उसे नाट्यरासक भी कह सकते हैं फलतः उन्होंने नाटक के मुखपृष्ठ पर लिखा है—नाट्यरासक या लास्यरूपक। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी ससार में प्राय. सभी आलोचकों ने भारत दुर्दशा को नाट्यरासक मानकर इसकी विवेचना की है यद्यपि सभी यह भी स्वीकार करते हैं कि इसमें नाट्य-रासक के लक्षण नही मिलते हैं।

डा० रामचरण महेन्द्र ने अपने प्रबन्ध "हिन्दी एकाकी : उद्भव और विकास"[1] एव अपनी पुस्तक "हिन्दी एकाकी और एकांकीकार"[2] मे भारत दुर्दशा को नाट्यरासक माना है। डा० प्रेमनारायण शुक्ल ने अपनी पुस्तक "भारतेन्दु की नाट्यकला" मे भारत दुर्दशा को नाट्यरासक मानकर सस्कृत नाट्यशास्त्रानुसार नादी, अर्थप्रकृतियों, कार्य-अवस्थाओं, संधियों आदि का वर्णन किया है।[3] डा० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल ने अपने शोध-प्रबध "भारतेन्दु का

---

१. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास, प्र० सं०, पृ० ५८
२. हिन्दी एकांकी और एकांकीकार, प्र० सं०, पृ० ५२
३. भारतेन्दु की नाट्य-कला, पृ० १५६

का नाट्य-साहित्य" में डा० प्रेमनारायण शुक्ल के इस अंश को अक्षरशः ग्रहण कर नाट्यरासक माना है किन्तु साथ ही अपनी ओर से यह जोड दिया है कि इसमें पाश्चात्य परम्परा का अनुसरण भी है। भारत दुर्दशा नाटक के सम्पादको ने अपनी आलोचना में इसे संस्कृत नाट्य-शास्त्रानुसार नाट्यरासक लक्षणो का अभाव घोषित करके भी इसे नाट्यरासक स्वीकार किया है।

प्रश्न पैदा होता है कि भारत दुर्दशा नाट्यरासक है या नही ?

नाट्यरासक के लक्षण

(१) एक अंक, (२) उदात्त नायक, (३) पीठमर्द उपनायक, (४) शृगार-सहित हास्य मुख्य रस, (५) नायिका वासकसज्जा, (६) मुख एव निर्वहण सधियाँ अथवा प्रतिमुख छोडकर शेष चारों सधियाँ, (७) दसों लास्याग और (८) अनेक ताल तथा लय की स्थिति साहित्यदर्पण मे दिए गए नाट्यरासक के लक्षण हैं। स्वयं भारतेन्दुजी ने नाट्यरासक के इस प्रकार लक्षण दिए हैं— (१) एक अक, (२) उदात्त नायक, (३) वासकसज्जा नायिका, (४) पीठ-मर्द उपनायक, (५) अनेक प्रकार के गान और पाँच नृत्य। यदि भारतेन्दुजी द्वारा निर्दिष्ट लक्षणो को देखा जाय तो 'भारत-दुर्दशा' में —(१) छह अंक हैं। (२) नायक उदात्त नही। नायक किसे माना जाय, यह भी एक प्रश्न है। यदि भारत को ही माना जाय तो उसमें उदात्तता कहाँ है ? वह मूर्च्छित पड़ा है, जान-बूझकर सोता है। (३) नायिका है ही नही, वासकसज्जा होने की बात तो दूर रही। (४) उपनायक किसे माना जाय ? क्या भारत-भाग्य को ? डा० दशरथ ओझा तो उसे प्रच्छन्न शत्रु मानते हैं जो प्रतिनायक ही हुआ। यदि भारत-भाग्य को ही पीठमर्द मानें तो इसमें भी भारत के गुण नही हैं और नियमानुसार नायक से कुछ कम मात्रा मे गुण पीठमर्द उपनायक में भी होने ही चाहिए। फिर भारत-भाग्य में कौन-सा उच्चता का गुण है। वह तो आत्महत्या करके अपने पुरुषार्थ को कलकित करता है। वह नायक की भी कुछ सहायता नही करता। केवल पाँचवाँ लक्षण भारत-दुर्दशा में है, फिर यह नाट्यरासक कैसे है ?

यदि इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो भूल स्पष्ट हो जायगी। वास्तव में 'भारत दुर्दशा' शास्त्रीय नाट्यरासक नही है क्योंकि भारतेन्दुजी ने स्वयं अपने निबन्ध में रूपक-उपरूपक के भेदों के उदाहरणो मे अपने नाटकों का उल्लेख किया है, जैसे भाण का लक्षण देकर उदाहरण दिया 'विषस्य विषमौषधम्'— व्यायोग के उदाहरण मे 'धनजय-विजय'—एव प्रहसन के उदाहरण मे 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', एवं 'अंधेर नगरी' का उल्लेख किया। इसी प्रकार नाटिका के उदाहरण मे उन्होंने 'चन्द्रावली' का उल्लेख किया है तो सट्टक के उदाहरण में 'कर्पूर मजरी' को रक्खा है। किन्तु 'नाट्यरासक' का लक्षण देकर उन्होंने

'भारत दुर्दशा' का नाम नही दिया। यदि वे इसे शास्त्रीय नाट्यरासक मानते तो अवश्य इसका उल्लेख वहाँ पर देते। तब प्रश्न होता है कि भारत-दुर्दशा नाटक के ऊपर नाट्यरासक क्यों लिखा हुआ है? वास्तव मे यहाँ लिखा है 'नाट्यरासक' या 'लास्यरूपक'। इससे जान पड़ता है कि नाट्यरासक से उनका अभिप्राय है लास्यरूपक। लास्य का क्या अर्थ है? भारतेन्दुजी ने लास्य का अर्थ नाचना किया है जिसमे गाना भी सम्मिलित है। वे कहते हैं कि "ताडव और लास्य एक प्रकार के नाचने को भी कहते हैं।" नाट्यरासक की परिभाषा मे दसो लास्यागों के स्थान मे उन्होंने लिखा है कि "अनेक प्रकार के गान-नृत्य होते है।" अत लास्यरूपक से उनका अभिप्राय गान-नृत्य से भरा नाटक है। इसे गीतिरूपक भी कह सकते है। हाँ, कुछ अधिक विशेषता यह होगी कि इसमें गीतो की स्थिति के साथ-साथ नृत्य की प्रधानता होगी। 'भारत-दुर्दशा' मे स्पष्ट है कि उसमे गीतो की भी प्रधानता है और नृत्य की भी। यदि हम नीलदेवी—'गीतिरूपक' और भारतदुर्दशा—'लास्यरूपक' पर तुलनात्मक रूप से विचार करें तो यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। नीलदेवी मे गीत की प्रधानता तो है पर नृत्य की नही किन्तु भारत-दुर्दशा मे गीतो से अधिक नृत्य की प्रधानता है, जैसे—भारत का प्रवेश कराते हुए नाटककार कहता है कि वह शिथिल अग प्रवेश करेगा। निर्लज्जता दुपट्टा गिराती खानगियो के देश मे आती है पर गाती नही। भारत दुर्दैव नाचता है और गाता भी है। गाकर पुन नाचता है और तब कुछ बोलता है। सत्यानाश फौजदार नाचता प्रवेश करता है। आलस्य जँभाई लेता हुआ धीरे-धीरे आता है और कुड़कुड़ाता हुआ जाता है। अधकार 'स्खलित नृत्य' करता आता है। यदि इसके विपरीत नीलदेवी पर ध्यान दिया जाय तो वहाँ नाटककार तीन अप्सराओं तक को पहले दृश्य मे गाते हुए ही भेजता है, उन्हे नचाता है। दूसरे अक मे शरीफ मुसलमान, सरदारो की ओर देखकर गाता तो है परन्तु नाचता नही। वह उठकर सबकी ओर देखकर गाता है—"इस राजपूत से रहो होशियार खबरदार।" (दृश्य २) और एक अवसर बडा अच्छा था कि दो पात्र नाचते। चौथे दृश्य मे भटियारी एव चपरगट्टू नाचकर गा सकते थे परन्तु नाटककार उनसे केवल गवाता ही है। और तो और जब महारानी सूर्यदेवी गायिका के रूप मे अमीर के सामने उसे मोहने के ही उद्देश्य से पहुँची तो नाटककार उनसे गवाता ही है, नृत्य नही कराता।" 'जो हुक्म' कहकर रानी गाती ही है।

रानी ने तीन गीत गाए परन्तु नाची एक बार भी नही। हाँ, शराब के नशे मे अमीर नाच उठा था जो स्वाभाविक था। वास्तव मे गीतिरूपक और लास्यरूपक मे भारतेन्दुजी ने भेद किया है। इसी प्रकार गीतिरूपक—'नीलदेवी' और आपेरा 'भारत जननी' मे भी भेद किया है।

उन्होंने भारत-दुर्दशा को प्राचीन साहित्य के लक्षणों वाले नाटकों के अन्तर्गत

न गिनकर नवीन नाटक माना है। रूपक-उपरूपकों के भेद समाप्त करके नाटक के नवीन भेदों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—"आजकल योरप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बंगदेश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वे सब नवीन भेदों में परिगणित हैं।" इन्हीं नाटकों के अन्तर्गत वे भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से लिखे नाटकों का उल्लेख करते हुए 'देश-वत्सल' नाटकों में 'भारत-दुर्दशा' का भी उल्लेख करते हैं। जब भारतेन्दुजी ने इतनी स्पष्टता से अपनी सम्मति 'भारत-दुर्दशा' के विषय में दे दी तब क्यों इतनी भ्रान्ति हुई, यह समझ नहीं पड़ता। इस भ्रान्ति का कारण 'नाट्यरासक' शब्द ही है। परन्तु तुरन्त उन्होंने 'वा लास्य-रूपक' लिखकर स्पष्ट भी कर दिया है कि नाट्यरासक का अर्थ है 'लास्यरूपक'।

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' में नाट्यरासक को केवल नृत्यगीत वाला नाट्य कहा है, विशेषतया नृत्यप्रधान नाट्य बताया है। इस दृष्टि से तो भारत-दुर्दशा को 'नाट्यरासक' माना भी जा सकता है अन्यथा नाट्यरासक की जो साहित्यदर्पण की शास्त्रीय परिभाषा है और जिसके आधार पर भारतेन्दुजी ने भी अपनी परिभाषा दी है, उसके आधार पर 'भारत-दुर्दशा' नाट्यरासक नहीं है।

पश्चिमी शैली

जब यह भारतीय नाट्यशास्त्र में वर्णित लक्षणों वाला नाट्यरासक नहीं है तो यह है क्या? सीधा-सा उत्तर है, पश्चिमी शैली का 'लास्यरूपक', जिसे 'नृत्य-प्रधान' नाटक भी कहा जा सकता है। पश्चिमी शैली इसमें अपनाई गई है, इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। स्वयं भारतेन्दुजी ने इसे प्राचीन शैली का नाटक न मानकर आधुनिक नवीन शैली का नाटक माना है। नवीन शैली का यहाँ अर्थ है, पश्चिमी शैली। भारतेन्दुजी लिखते हैं—"इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं तथा—शृंगार, हास्य, कौतुक समाज-सुधार, देशवत्सलता.........देशवत्सलता वाले नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करता है और ये प्राय: करुण और वीर रस के होते हैं। उदाहरण—भारत जननी, नीलदेवी भारत दुर्दशा इत्यादि[1]। भारतेन्दुजी ने स्वयं भारत जननी, नीलदेवी और भारत दुर्दशा इन तीनों नाटकों को पश्चिमी शैली का माना है। यदि वे 'भारत दुर्दशा' को संस्कृत की प्राचीन नाट्य-शैली का नाट्यरासक मानते तो नाट्यरासक की परिभाषा देते हुए इसका नाम अवश्य लेते।

'भारत दुर्दशा' में पश्चिमी नाट्य-शैली स्पष्ट है।

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग १, पृ० ७२१

पश्चिमी नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता है संघर्ष जो भारत दुर्दशा का आधार है। नायक भारत और प्रतिनायक भारत दुर्दैव का संघर्ष ही नाटक का प्राण है।

पश्चिमी में दुःखान्त नाटकों को विशेष स्थान प्राप्त है और सभी ने इन की प्रशंसा की है। भारत दुर्दशा भी दुःखान्त नाटक है। संस्कृत नाटकों की परम्परा केवल सुखान्त नाटकों की है। नियताप्ति और फलागम घोषित करते हैं कि नाटक सुखान्त होगा। 'भारत दुर्दशा' को किसी भी प्रकार से सुखान्त नाटक नहीं माना जा सकता है। इसके दुःखान्त होने के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं—

(क) 'भारत दुर्दशा' शीर्षक से ही प्रकट है कि इसमें भारत की दुर्दशा चित्रित होगी। (ख) 'भारत दुर्दशा' में भारत आरम्भ से अन्त तक मूर्च्छित पड़ा है। उसे तीव्र ज्वर चढ़ आया है। वह इतनी असहाय अवस्था में है कि उसके सहायक, सहायता नहीं कर पाते। उसका प्रधान सहायक भारत-भाग्य अन्तिम अंक में आत्मघात करके मर जाता है। (ग) आरम्भ से अन्त तक नाटक में निराशा और कष्ट के भाव व्यक्त है और एक दुखमय वातावरण व्याप्त है, अंकों के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जायेगा। प्रथम अंक में एक योगी आकर भारत के कष्टों को सोच-सोच कर रोता है। वह भारतीयों को तथा दर्शकों को आमंत्रित कर कहता है कि भारत की इस दुरवस्था पर सब मिल कर अश्रुपात कीजिए। उसके ये शब्द—

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

पाठकों एवं दर्शकों के हृदय पर आघात करते है और अन्त तक प्रतिध्वनित रहते हैं।

दूसरे अंक की दृश्य-योजना सांकेतिक है। यह अंक श्मशान में अभिनीत है। श्मशान, निराशा, दुःख और शोक का प्रतीक हुआ करता है। नाटककार का कथन है—(स्थान—श्मशान, टूटे-फूटे मंदिर, कौआ, कुत्ता, स्यार घूमते हुए अस्थि इधर-उधर पड़ी है।) ये रंग-संकेत दुःख एवं निराशा को प्रकट कर रहे हैं। भारत की वेश-भूषा भी इसी दुःख और निराशा को प्रकट करती है। भारत फटे कपड़े पहिने है, सिर पर पूरा मुकुट नहीं है, आधा है, हाथ में छड़ी लेकर कुबड़ा हो चलता है और उसके अंग शिथिल है। वह रोकर कहता है—"कोऊ नहिं पकरत मेरो हाथ" जब भारत दुर्दैव दूर से ही उसे धमकाता है तो वह कहता है "अब कोई उपाय नहीं है। अब मरा, अब मरा" और मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। उसकी यह मूर्च्छा अन्त तक नहीं टूटती है। मूर्च्छित भारत को निर्लज्जता अपने घर ले जाती है। वह मूर्च्छित भारत से कहती है—"मेरे आछत तुमको अपने प्राण की फिक्र। छि छिः! जीओगे तो भीख माँग खाओगे।" भारत की

सहायिका भी निर्लज्जता है जो भीख माँग कर खाने का उपदेश करती है। इस निर्लज्जता की एक बहिन है आशा। ध्यान में रखने की बात है कि यह सद् या वास्तविक आशा नहीं है वरन् भारतेन्दुजी के पाखंड विडंबन वाली श्रद्धा के समान निर्लज्जता की बहिन है। निर्लज्जता की बहिन होने से ही आशा का कुत्सित रूप प्रतीकात्मक शैली पर उसी प्रकार प्रकट कर दिया गया है जिस प्रकार पाखंड विडम्बन मे श्रद्धा का। यदि यहाँ निर्लज्जता न आती और केवल आशा आकर ही भारत को उठा ले जाती तब भी हम कह सकते थे कि आशा की एक किरण तो सामने आई।

तीसरे अंक मे प्रतिनायक भारत दुर्दैव नायक को घेरने के लिए अपनी व्यूह रचना करता है। उसका उद्घोष है—

छार-छार सब हिन्द करूँ मैं तो उत्तम नही नीच...भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज! बहुत दूर तक अपने अभियान मे वह सफल हो चुका है। वह कहता है—"अब भारत कहाँ जाता है, ले लिया है। एक तस्सा बाकी है, अब की हाथ में वह भी साफ़ है।" भारत दुर्दैव के सेनापति उसे आकर भारत के नाश की सूचनाएँ देते हैं। सत्यानाश फौजदार बताता है कि भारत मृतप्राय पड़ा है। बस थोडी सी साँसें अवशिष्ट हैं। इस पर भारत दुर्दैव कहता है कि अच्छा, अवशिष्ट साँस खीचने का भी प्रवन्ध करता हूँ। रोग, आलस्य, मदिरा और अंधकार को मूर्च्छित और अर्द्ध-मृत भारत की छाती पर जोरो से दौड़ाऊँगा।

चौथे अंक में रोग अंधकार, आलस्य और मदिरा को आज्ञा मिलती है कि जाओ भारत का दम तोड दो। ये चारों भारत पर झपटते हैं। इन चारो को भारत का तन नोचते देखकर कवि नेपथ्य से अपना मत प्रकट करता हुआ कहता है—

निहचै भारत को अब नास।

पाँचवें अंक मे भारत के पक्ष मे सप्त ऋषियों के समान सात मनुष्य भारत के उद्धार पर विचार करते हैं। किन्तु दो को छोड़कर शेष सब भयभीत हैं। शीघ्र ही भारत दुर्दैव की सहायिका डिसलायल्टी आकर इन सबको बन्दी बनाती है। दूसरा देशी मेज के नीचे घुसकर रोता है। सभापति पश्चात्ताप करता है। नाटककार ने आगे बढ़कर भारत के सहायकों का कोई शुभ एव आशाप्रद अंत नही दिखाया है। सब सहायक पकड़े जाते हैं। यही तो भारत की दुर्दशा है कि आशा की किरणो को अन्धकार विलीन करता जाता है।

दूसरे अंक में भारत मूर्च्छित हो गया था। निर्लज्जता और आशा उसे शरणालय मे ले गई थी। किन्तु वे उसे न टिका सकी। छठे अंक मे वह मूर्च्छित पड़ा है। निर्लज्जता और आशा भी साथ नही है। इस अकेला भारत-भाग्य,

जो भारत का प्रधान सहायक है, बार-बार मूर्च्छित भारत को जगाने का विफल प्रयास करता है। भारत के न जगने पर वह अत्यन्त निराश और व्यथित होकर आत्मघात कर लेता है। इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक दु.ख और निराशा का अंधकार सघन, सघनतर और सघनतम होता जाता है।

भारत दुर्दशा में नायक की अपेक्षा प्रतिनायक भारत दुर्दैव एवं उसके सहायकों को प्रधानता मिली है। यह पश्चिमी शिल्पविधि ही है।

रंगमंच पर मृत्यु प्रदर्शित करना भारतीय नाटक-शिल्प-विधि नहीं है, वरन् पश्चिमी है। भारत दुर्दशा में भारत-भाग्य आत्मघात करता है।

भारत दुर्दशा में न प्रस्तावना है और न भरतवाक्य। इसमें संधियों की शृंखला भी नहीं है वरन् कुछ भिन्न दृश्यों को जोड़ कर रखा गया है।

सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक समस्याओं को लेकर यथार्थवादी नाटक पश्चिम में लिखे जा रहे थे। भारतीय नाटक-परम्परा में सामाजिक और राजनीतिक नाटकों का अभाव-सा है। मृच्छकटिक में सामाजिक चित्रण है और *मुद्राराक्षस में राजनीतिक दाँव-पेंच। ऐसे नाटक है ही कितने। संस्कृत नाटक-*परम्परा पुराण और प्रेम के चारों ओर चक्कर काटती है। भारत दुर्दशा में जो तत्कालीन यथार्थवादी सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक चित्रण है वह पश्चिमी नाटकों के अनुकरण पर ही है।

भारत इस नाटक का नायक है। नायक यदि फल-प्राप्ति में असमर्थ रहे तो नाटक दुखान्त ही होगा। नाटक का फल है—संघर्ष में विजय। भारत इसे प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। जब नायक फल नहीं पाता है तो पश्चिमी शैली ही मानी जायगी।

पश्चिमी नाटकों के कोरस या सामूहिक गान की भाँति इसके प्रारम्भ में भी एक कोरस है। योगी सब को बुलाकर कहता है—आओ मिलकर भारत की दुर्दशा के गीत गावें—

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।

फलत. निष्कर्ष निकलता है कि भारत दुर्दशा में पश्चिमी नाट्यशिल्प अपनाया गया है।

वस्तु-विन्यास

कथावस्तु—कथा-शृंखला निर्धारित नहीं है। पहले अंक में कोई कथा नहीं है, केवल एक गीत है जिसमें एक योगी प्राचीन भारत की गौरव-गाथा गाता है और भारत की वर्तमान दुरवस्था पर रोता है। यह पश्चिमी कोरस की शैली का गान है। दूसरे अंक में भी कोई कथा-विकास नहीं है। केवल एक घटना मात्र है। भारत अपने वर्तमान दुर्दिनों का विचार कर दुखी होता है कि भारत दुर्दैव की गर्जन सुनकर मूर्च्छित हो जाता है। निर्लज्जता और आशा

उसे ले जाती हैं। तीसरे अंक में दूसरी कथा सामने आती है। प्रतिनायक भारत दुर्दैव सत्यानाश फौजदार से आक्रमण का विवरण माँगता है। फौजदार बताता है कि उसके सैनिकों ने भारत को कितना नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। चौथे अंक का सम्बन्ध तीसरे अंक की कथा से है। भारत दुर्दैव के चार सेनानायक—रोग, आलस्य, मदिरा और अंधकार भारत को समाप्त करने के उद्देश्य से भेजे जाते हैं। पाँचवें अंक का सम्बन्ध दूसरे एवं चौथे अंक से हैं। इस अंक के पात्र अन्य अंकों से एक दम भिन्न हैं। ये प्रतीक पात्र न होकर भौतिक पात्र हैं जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों के निवासी हैं। एक सभा में ये मूच्छित और भारत दुर्दैव की सेना से घिरे भारत के उद्धार का उपाय सोचते हैं तभी भारत दुर्दैव की एक सहायिका—डिसलायल्टी—उन्हें आकर पकड़ लेती है। छठे अंक का सीधा संबंध दूसरे से हैं क्योंकि नायक दूसरे अंक के बाद इसी अंक में मूच्छित पड़ा दिखाई देता है। भारत-भाग्य भारत को जगाने का भरपूर प्रयास करता है। विफल होकर वह आत्मघात कर लेता है।

वस्तु-विधान

पश्चिमी वस्तु विधान के ६ अंग हैं—व्याख्या, (एक्सपोजीशन) प्रारम्भ (बिगिनिंग), प्रगति (राइजिंग ऐक्शन), चरम सीमा (क्लाइमेक्स), निर्गति (दिनाऊ मेंट) तथा अन्त (एण्ड)। प्रथम अंक का योगी-गान, व्याख्या है। इसमें आगे आने वाली भारत की दुर्दशा चित्रित की गई है। योगी जिन-जिन दुरवस्थाओं की चर्चा करता है वे आगे के अंकों में प्रत्यक्ष दिखलाई देती हैं। दूसरे अंक में घटना का प्रारम्भ है। भारत को दुर्दैव का कठोर शब्द दूर सुनाई पड़ता है, और वह मूच्छित हो जाता है। भारत दुर्दैव का यह कथन—"खड़ा तो रह। अभी मैंने तेरी आशा की जड़ न खोद डाली तो मेरा नाम नहीं," संघर्ष प्रारम्भ की सूचना देता है। तीसरे और चौथे अंक में संघर्ष की प्रगति है। दोनों अंकों में प्रतिनायक व्यूह रचना कर रहा है, सैनिकों को भारत पर भेज रहा है। पाँचवें अंक में चरम सीमा आ जाती है। भारत के कुछ सहायक भारत के उद्धार का उपाय सोचते हैं कि वज्रपात होता है और सब सभासद पकड़ लिये जाते हैं। यहाँ से कथा को मोड़ मिल गया। छठे अंक में निर्गति और अन्त है। भारत-भाग्य का रोना, करुणा एवं बार-बार भारत को जगाना 'निर्गति' है एवं अन्त में निराश होकर आत्मघात करना 'अन्त' है।

पात्र

भारत दुर्दैव—भारत दुर्दशा में प्रतिनायक भारत दुर्दैव सबसे प्रमुख पात्र है। इसी को दृष्टि में रखकर नाटक का निर्माण हुआ है। 'भारत दुर्दशा' नाम से ही भारत दुर्दैव की प्रधानता प्रकट है। भारत दुर्दैव के आधार पर ही कथा

का ताना-बाना बुन गया है। पहले अंक मे भारत दुर्दैव के कार्यों पर योगी परोक्ष रूप से प्रकाश डालता है। दूसरे अंक मे भारत दुर्दैव की धमकी भारत को मूर्च्छित कर देती है। तीसरे और चौथे अंक मे वह स्वयं रगमंच पर उपस्थित होकर आज्ञा दे रहा है। पांचवें मे उसकी सहायिका भारत के सहायकों को पकडती है और छठे मे उसका आतक प्रदर्शित है। इस प्रकार वह कथा का सूत्रधार है। अन्य कोई पात्र इतनी देर तक रगमंच पर उपस्थित नही है जितनी देर भारत दुर्दैव रहता है।

भारत दुर्दैव अन्य पात्रों की भाँति प्रतीक-पात्र है। भारत दुर्दैव किसका प्रतीक है? प्रवेश के समय भारत दुर्दैव की वेश-भूषा एव आगे के उसके कथन स्पष्ट कर देते है कि भारत दुर्दैव का अर्थ है "मुस्लिम अंग्रेजी शासन।" उसकी वेश-भूषा है—क्रूर, आधा क्रिस्तानी और आधा मुसलमानी वेष, हाथ मे नगी तलवार लिए। वह कथन करता है—"काफिर काला नीच पुकारूँ।" 'काफिर' से अभिप्राय है 'मुसलमान' एव 'काला' से 'ईसाई।' फलत' तीसरे, चौथे और पाँचवें अंक मे भारत की उग दुर्दशा का चित्रण है जो मुस्लिम काल और अंग्रेजी राज्य मे हुई है। वह अपनी मुस्लिम काल की वीरता का एव भारत की दुर्दशा का बखान करता है—

"बहुत हमने फैलाए धर्म। बढाया छुआ-छूत का कर्म।" होके जयचन्द हमने इकबार। खोल ही दिया हिन्द का द्वार। हलाकू चगेजो तेमूर। हमारे अदना-अदना सूर। दुरानी अहमद नादिरसाह। फौज के मेरे तुच्छ सिपाह"—इन सबने भारत का नाश किया। अंग्रेजी राज्य मे भी इसने बहुत कुछ कार्य किया। वह अपनी बडाई गाता हुआ कहता है—

> कौडी-कौडी को करूँ, मैं सब को मुहताज
> भूखे प्रान निकालूं इनका, तो मैं सच्चा राज।
> काल भी लाऊँ महँगी लाऊँ, और बुलाऊँ रोग
> पानी उलटा कर बरसाऊँ, छाऊँ जग मे सोग।
> फूट बैर और कलह बुलाऊँ, ल्याऊँ सुस्ती जोर
> घर-घर मे आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर।
> मरी बुलाऊँ देस उजाडूँ, महँगा करके अन्न
> *सबके ऊपर टिकस लगाऊँ, धन है मुझ को धन्न।*

इससे भारत दुर्दैव की क्रूरता प्रकट होती है। कवि कहता है कि ईश्वर का कोप[1] ही भारत दुर्दैव के रूप मे आ गया है जिसने भारत को धूल मे मिला दिया है।[2]

---

१. उपजा ईश्वर कोप से औ आया भारत बीच।
२. छार छार सब हिन्द करूँ मैं तो उत्तम नहिं नीच।

प्रशासन रणनीति एवं व्यूह रचना मे भारत दुर्दैव बहुत कुशल है। वह अपने मित्रों को प्रसन्न करता है और शत्रुओं को कठोर दण्ड देता है। वह कहता है ऐसे लोगों का दमन करने को मैं जिले के हाकिमो को न हुक्म दूंगा कि इनको डिसलायल्टी में पकडो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो।" वह आगे सत्यानाश फौजदार से पूछता है "और भला कुछ लोग छिपाकर भी दुश्मनों की ओर भेजे थे ?" रणनीति में कितना कुशल है, इसी से पता चलता है। वह अपने सेनानायकों से उनकी कारगुजारी सुन-सुनकर उन्हें पान का बीड़ा देता है, उनकी पीठ ठोकता है और पुरस्कार प्रदान करता है। 'मदिरा' स्त्री है। वह जानता है, शत्रु को स्त्री बड़ी आसानी से वश में कर सकती है। फलत: वह 'मदिरा' से कहता है "हमने बहुत से वीर हिन्दुस्तान मे भेजे हैं परन्तु मुझ को तुमसे जितनी आशा है उतनी और किसी से नही है।" मदिरा भी अपनी प्रशंसा सुनकर उठती है। इसी प्रकार वह सेनानायक 'अधकार' को उकसाता हुआ कहता है "आओ मित्र! तुम्हारे बिना तो सब सूना था। यद्यपि मैंने अपने बहुत से लोग भारत-विजय को भेजे हैं पर तुम्हारे बिना सब निर्बल हैं। मुझको तुम्हारा बडा भरोसा है।" अपने सहयोगियों के प्रति वह अत्यन्त दयालु, दानी और सहृदय है किन्तु शत्रुओ के प्रति उतना ही क्रूर, कठोर और कटु। मुस्लिम एवं अंग्रेजी राजाओ की यही दशा थी।

भारत

भारत इस हास्यरूपक का नायक है। प्राय: अनेक आलोचकों ने इसे धीरोदात्त नायक मान लिया है। इसे धीरोदात्त मानकर उन्होंने धीरोदात्तता की भी हंसी कराई है। क्या भारत जैसा निर्बल, असहाय, अशक्त, निराशा और दु:ख से भरा हुआ शोक और व्यथा से पीडित, पददलित और पदच्युत, जीवन और कर्म से विमुख परले सिरे का भीरु और कायर, सदा सोने वाला और भय के मारे आँखें न खोलने वाला, अपने सहयोगी के जगाने पर भी न जागने वाला और उसे मरते देख उसका हाथ न पकडने वाला नायक क्या धीरोदात्त कहा जायगा ? उसे अपने ऊपर बिलकुल विश्वास नही है। खिन्न एवं दुखी होकर सदा वह रोता रहता है। निराशा के अंधकार से घिर कर वह कहता है—"हाय! कोई बचाने वाला नहीं।" ऊपर देखकर वह भगवान् से कहता है—

> कोऊ नहिं पकरत मेरो हाथ।
> बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा हा होय अनाथ।
> जाकी सरन गहत सोइ मारत सुनत न कोउ दुख गाय।
> दीन बन्यो इतसों उत डोलत टकरावत निज माथ।

इस दयनीय अवस्था में वह ठोकर खाता और पुन खोजता द्वार-द्वार पर जाता है किन्तु कोई उसका हाथ नहीं पकडता । इस दीनावस्था के पहुँचाने में उसका भी दोष है । वह इतना भीरु है कि भारत दुर्दैव (दुर्भाग्य) का तेज स्वर सुनकर ही मूर्छित हो जाता है । उसकी यह मूर्छा अन्त तक नहीं टूटती, यद्यपि उसका प्रधान सहायक भारत-भाग्य बार-बार जगाता है । भारतभाग्य हिलाता है, डुलाता है, पुकारता है, सान्त्वना देता है, अपने आत्मघात की धमकी देता है किन्तु भीरु भारत एक बार भी आँख खोलकर नहीं देखता है । वह जान बूझकर मरा सा पड़ा है जिस प्रकार कि कबूतर बिल्ली को देखकर पड़ रहता है । वहाँ सामने बिल्ली नहीं है तब भी भारत आँखें बन्द किए समझता है, शत्रु खड़ा है, आँखें बन्द किये रहो । जब बार-बार जगाने पर भी भारत आँखें नहीं खोलता तो भारत-भाग्य क्षुब्ध होकर कहता है "अब इसके उठने की आशा नहीं ।" सच है, जो जान-बूझकर सोता है उसे कौन जगा सकेगा । भारत की इसी कापुरुषता ने भारत-भाग्य को आत्मघात करने पर विवश किया । यदि भारत आँखें खोलकर देता, दो-चार उत्साहजनक शब्द कह देता, जराक्रान्त होते हुए आँखें खोलकर साहस का थोड़ा-सा संकेत ही कर देता तो भारत-भाग्य बच जाता । किन्तु भारत ने ऐसा न किया । फलत: वह भारतीय नाट्यशास्त्र के चार प्रकार के नायकों---धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोद्धत---में से किसी के अन्तर्गत नहीं आता है । पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्त के अनुसार वह नायक माना जा सकता है । नायक की किसी अपनी निर्बलता से नाटक दुखांत बन जाता है, दुखांत नाटक का एक यह भी सिद्धांत था । यहाँ भी ऐसा ही हुआ है । भारत की अपनी निर्बलता ने भारत-भाग्य की जान ली ।

प्रतीक पात्र---ब्रजभाषा नाटककाल मे संस्कृत के प्रसिद्ध प्रतीक नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के दस अनुवाद ब्रजभाषा मे हुए । ब्यास-पुत्र देव का 'देव माया प्रपच' और महाराजकुमार रघुराजसिंह का 'परम प्रबोध विधु नाटक' 'प्रबोध चन्द्रोदय' के आधार पर प्रतीक नाटक निर्मित हुए । भारतेन्दुजी को भी प्रतीक नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' इतना प्रिय लगा कि उन्होने उसका अनुवाद किया जिसका एक अश 'पाखड विडबन' नाम से प्रसिद्ध है । प्रबोध चन्द्रोदय में दो वर्ग के पात्र हैं । एक वर्ग मे मन की सद् वृत्तियो के परिचायक पात्र है जैसे कि---विवेक, सतोष, वस्तु-विचार, वैराग्य, शाति, करुणा, मैत्री, क्षमा । दूसरे वर्ग के वे पात्र हैं जो हृदय की असद् वृत्तियो का प्रतिनिधित्व करते है जैसे कि काम, क्रोध, लोभ दभ, अहकार, मिथ्या दृष्टि, हिंसा, रति, तृष्णा । भारतेन्दुजी ने इसी प्रतीक प्रणाली को अपनाकर भारत दुर्दशा का प्रणयन किया । अब तक प्रतीक प्रणाली का प्रयोग केवल आध्यात्मिक क्षेत्र मे ही हुआ था किन्तु भारतेन्दुजी ने इसे राजनीतिक क्षेत्र मे प्रतिष्ठित किया । यह पश्चिमी प्रभाव था और था उन का आधुनिक दृष्टिकोण । भारत दुर्दशा मे भी दो वर्ग के पात्र हैं । एक वर्ग मे

साधु पुरुष है—भारत एवं भारत के सहायक और दूसरे वर्ग में हैं दुष्ट पुरुष भारत दुर्दैव, सत्यानाश फौजदार, अंधकार, आलस्य इत्यादि। प्रबोध चन्द्रोदय में जैसे चार्वाक, दिगम्बर भिक्षु, कापालिक, आध्यात्मिक प्रतीक न होकर साम्प्रदायिक पुरुष है जो भिन्न-भिन्न धार्मिक दृष्टिकोणों को लेकर सामने आते हैं। उसी प्रकार भारत दुर्दशा में एडीटर, बंगाली कवि, महाराष्ट्री, पहला देसी, दूसरा देसी—प्रान्तीय और व्याप्त राजनीतिक दृष्टिकोणों को लेकर रंगमंच पर अवतरित होते है। महाराष्ट्री स्वदेशी आन्दोलन का विचार लेकर आता है तो बंगाली प्रचारात्मक राष्ट्र-प्रेम का राग अलापता है। पहला परदेशी सच्चा राष्ट्र प्रेमी है तो दूसरा परदेशी अंग्रेजों का भक्त खुशामदी टट्टू। कवि तत्कालीन साहित्यिक विचारधारा को प्रकट करता है तो एडीटर तत्कालीन पत्रकारिता को।

वर्ग पात्र

हिन्दी नाटक में प्रसाद-काल तक वर्ग-पात्रों का बोलबाला रहा है। आदर्श में विश्वास करने वाले नाटककार वर्ग-पात्रों को ही अपनाया करते हैं। भारतेन्दु-काल में भी हमें वर्ग-पात्रों पर ज़ोर प्राप्त होता है। भारतेन्दुजी के नाटकों में भी वर्ग-पात्रों की प्रधानता है। नीलदेवी राजपूत वीरांगना का प्रतिनिधित्व करती है तो अंधेर नगरी का राजा मूर्ख राजाओं के न्याय की ओर संकेत करता है। चन्द्रावली में अन्य प्रेमिकाओं में कोई भिन्नता नहीं है। उनके किसी पात्र का व्यक्तित्व विकसित होकर यह नहीं कहता है कि मैं सबसे ऊपर हूँ, सबसे अलग हूँ। ले-देकर सत्यवादी हरिश्चन्द्र ही इस आसन पर आकर खड़े होते है। प्रत्येक पात्र अपने कुछ स्थायी गुणों के साथ रंगमंच पर आता है और आदि से अन्त तक उस एक या अनेक गुणों का प्रदर्शन करता है। भारत दुर्दैव जैसा आरम्भ में है वैसा ही अन्त में।

भारत के सातों सहायक वर्ग-पात्र हैं। इन पात्रों द्वारा भारतेन्दुजी ने तत्कालीन राजनीतिक विचारधारा के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सामने रखा है। इनमें पहला परदेशी वास्तविक और सच्चा देशभक्त है। स्वयं नाटककार ही इस रूप में दिखाई पड़ता है। उसके उद्गार घोषित करते है कि वह हृदय से देश की उन्नति चाहता है। वह कहता है "हाय! यह कोई नहीं कहता कि सब लोग मिलकर एक चित्त हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो, जिससे वास्तविक कुछ उन्नति हो। क्रमश: सब कुछ हो जायेगा।" उस काल में गोरी चमड़ी को ही सब सुख-सुविधाएँ प्राप्त थी। इसी पर व्यंग्य करते हुए पहला परदेशी कहता है—पर रंग गोरा कहाँ से लायेंगे।" देशभक्ति, सभाओं के भाषणों तक सीमित थी इस पर व्यंग्य करते हुए वह कहता है "यही, मगर जब तक कमेटी में, तभी तक। बाहर निकले कि फिर कुछ नहीं।"

इस दयनीय अवस्था में वह ठोकर खाता और पुन भटकता द्वार-द्वार पर जाता है किन्तु कोई उसका हाथ नहीं पकड़ता। इस दीनावस्था के पहुँचाने में उसका भी दोष है। वह इतना भीरु है कि भारत दुर्दैव (दुर्भाग्य) का तेज स्वर सुनकर ही मूर्छित हो जाता है। उसकी यह मूर्छा अन्त तक नहीं टूटती, यद्यपि उसका प्रधान सहायक भारत-भाग्य बार-बार जगाता है। भारतभाग्य हिलाता है, डुलाता है, पुकारता है, सान्त्वना देता है, अपने आत्मघात की धमकी देता है किन्तु और भारत एक बार भी आँख खोलकर नहीं देखता है। वह जान बूझकर मार गाढ़े पड़ा है जिस प्रकार कि कबूतर बिल्ली को देखकर पड़ रहता है। यहाँ सामने बिल्ली नहीं है तब भी भारत आँखें बन्द किए समझता है, शत्रु खड़ा है, आँखें बन्द किये रहो। जब बार-बार जगाने पर भी भारत आँखें नहीं खोलता तो भारत-भाग्य क्षुब्ध होकर कहता है "अब इसके उठने की आशा नहीं।" सच है, जो जान-बूझकर सोता है उसे कौन जगा सकेगा। भारत की इसी कापुरुषता ने भारत-भाग्य को आत्मघात करने पर विवश किया। यदि भारत आँखें खोलकर देता, दो-चार उत्साहजनक शब्द कह देता, उदासीन होते हुए आँखें खोलकर साहस का थोड़ा-सा संकेत ही कर देता तो भारत-भाग्य बच जाता। किन्तु भारत ने ऐसा न किया। फलत यह भारतीय नाट्यशास्त्र के चार प्रकार के नायकों—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोद्धत—में से किसी के अन्तर्गत नहीं आता है। पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्त के अनुसार यह नायक माना जा सकता है। नायक की किसी अपनी निर्बलता से नाटक दुखान्त बन जाता है, दुखांत नाटक का एक यह भी सिद्धांत था। यहाँ भी ऐसा ही हुआ है। भारत की अपनी निर्बलता ने भारत-भाग्य की जान ली।

प्रतीक पात्र—ब्रजभाषा नाटककाल में संस्कृत के प्रसिद्ध प्रतीक नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के दस अनुवाद ब्रजभाषा में हुए। ब्यास-पुत्र देव का 'देव माया प्रपच' और महाराजकुमार रघुराजसिंह का 'परम प्रबोध विधु नाटक' 'प्रबोध चन्द्रोदय' के आधार पर प्रतीक नाटक निर्मित हुए। भारतेन्दुजी को भी प्रतीक नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' इतना प्रिय लगा कि उन्होंने उसका अनुवाद किया जिसका एक अश 'पाखड विडबन' नाम से प्रसिद्ध है। प्रबोध चन्द्रोदय में दो वर्ग के पात्र हैं। एक वर्ग में मन की सद् वृत्तियों के परिचायक पात्र है जैसे कि—विवेक, सतोष, वस्तु-विचार, वैराग्य, शांति, करुणा, मैत्री, क्षमा। दूसरे वर्ग के वे पात्र हैं जो हृदय की असद् वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जैसे कि काम, क्रोध, लोभ दभ, अहकार, मिथ्या दृष्टि, हिंसा, रति, तृष्णा। भारतेन्दुजी ने इसी प्रतीक प्रणाली को अपनाकर भारत दुर्दशा का प्रणयन किया। अब तक प्रतीक प्रणाली का प्रयोग केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही हुआ था किन्तु भारतेन्दुजी ने इसे राजनीतिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया। यह पश्चिमी प्रभाव था और था उन का आधुनिक दृष्टिकोण। भारत दुर्दशा में भी दो वर्ग के पात्र है। एक वर्ग में

'दूसरा परदेसी' का चरित्र-चित्रण विशद, स्पष्ट, सुन्दर और कलात्मक है। दूसरे परदेसी पे कि कहीं हमें धोखा तो नहीं दे रहे। इस पर दूसरा परदेसी की हृदय-गति रुक जाती है, वह कांपने लगता है और सुझाव देता है "इस बात पर बहस करना ठीक नहीं। साहब कहीं लेने-के-देने न पड़ें, अपना काम देखिए" (उपवेशन और आप ही आप) हाँ नहीं तो अभी कल ही झाड़बाजी होगी।" जब महाराष्ट्री कहता है कि स्वदेशी वस्त्रों का उपयोग किया जाय तो दूसरा परदेसी व्यंग्य करता हुआ कहता है "बनात छोड़कर गंजी पहिरेंगे, हैं,।" जब पुलिस कप्तान पकड़ने आ जाता है तो वह घबड़ाकर कहता है "बाबा रे, जब हम कमेटी में चले थे तब पहिले ही छींक हुई थी अब क्या करें।" वह तुरन्त मेज के नीचे छिप जाता है। जब पुलिस कप्तान (डिसलायल्टी) कहता है कि तुम सब लोग सरकार के विरुद्ध हो तो वह मेज के नीचे छिपा-छिपा रोकर कहता है "हम नही, हम नही, हम तमाशा देखने आये थे।" जब महाराष्ट्री पुलिस का सामना करता हुआ कहता है "तुम पकड़ नही सकती" तो दूसरा परदेसी उस महाराष्ट्री को गाली देता हुआ कहता है "हाय हाय! भड़ुवा तुम कहता है, अब मरे।" इस रूप मे उन भारतीयों की ओर संकेत है जो अंग्रेजो के साथ थे, खुशामदी थे, जिन पर सरकार ने उपाधियों और पदों की वर्षा की थी, अंग्रेजो एवं अंग्रेजो की राजसभाओं मे जिनका मान था, जो कभी-कभी सकोचवश देशभक्तो की सभाओं मे भी फँस कर दुखी होते थे। ऐसे व्यक्ति अंग्रेजो के पृष्ठपोषक थे और कभी-कभी अपनी धाक जमाने को देशोद्धारक सभाओं में भी चले जाते थे। सभा मे पहुँचकर दूसरा परदेसी पूछता है—क्यो भाई साहब! इस कमेटी मे आने से कमिश्नर साहब हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे।' जब एडीटर प्रस्ताव करता है कि शिक्षा मे सुधार कराया जाय, और विद्यार्थियो मे देश-प्रेम भरा जाय। इसके लिए देश-सुधार के लेख समाचारपत्रो मे छपवाये जायें तो दूसरे परदेसी के मुख का रग बदल जाता है, होठ सूख जाता है, पसीना छूटने लगता है। उसे भय है "मगर हाकिम लोग इससे नाराज हो तो।" महाराष्ट्री एक दूसरा प्रस्ताव करता है कि कि 'हाकिम लोग हमसे कहते हैं—हाँ-हाँ देश सुधार का उद्योग करो। इसकी गुप्त रूप से जाँच कराई जाय। दूसरा परदेसी प्रसन्न होता है—यदि महाराष्ट्री पुलिस अफसर के पैर पड़ता, हजूर, सर, सरकार कहकर प्रार्थना करता है।

बंगाली के रूप मे साहसी एवं हो-हल्ला मचाने वाला देशभक्त सामने आता है। वह अपना साहस प्रकट करता हुआ दूसरे परदेसी से कहता है "हाकिम लोग काहे को नाराज होगा।" पुलिस को देखकर वह घबड़ाता नही और क्रोध प्रकट करता है "काहे को पकड़ेगा, कानून कोई वस्तु नही है।" वह

कथोपकथन

कथोपकथन की दृष्टि से भारतेन्दुजी के दो नाटक महत्त्वपूर्ण हैं। वे हैं—'चन्द्रावली नाटिका' और लास्यरूपक 'भारत दुर्दशा'। चन्द्रावली में कथोपकथन अत्यन्त काव्यमय और सरस है तो भारत दुर्दशा में सरल व्यंगमय और प्रभावपूर्ण हैं। चन्द्रावली में शास्त्रीय गीतों और पदों की अधिकता है तो भारत दुर्दशा में सरल छन्दों की एवं प्रचलित हलके गानों की। गद्यात्मक कथोपकथन दोनों में अपेक्षाकृत कम हैं। चन्द्रावली के गद्यात्मक कथन विरह-भावना सम्पन्न हैं और हाय-हाय जैसे शब्दों से भरपूर हैं तो भारत दुर्दशा के गद्यात्मक कथनों में बड़ी चुभती सूक्तियाँ भरी हैं, जिनमें व्यंग्य गुलगुल गलता है और श्रोता या पाठक को गुदगुदा देता है—

सत्या०—महाराज वेदान्त ने बड़ा उपकार किया। सब हिन्दू ब्रह्म हो गए।

सत्या०—राज न रहा, पेनशन ही सही, रोजगार न रहा, सूद ही सही।

सत्या०—अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किये। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि अंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब ही छकाया। पूरब से पच्छिम और पच्छिम से पूरब तक पीछा करके खूब भगाया। तुहफे, घूस और चंदे के ऐसे बम के गोले चलाये कि बम बोल गई बाबा की चारों दिसा, धूम निकल पडी। मोटा भाई बना-बनाकर मूँड लिया। एक तो खुद ही सब पंडिया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, धाँय-धाँय गिनी गई, वर्णमाला कंठ कराई, बस हाथी के खाए कैथ हो गए। धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।

रोग—बंदगी अब केवल जीविका हेतु बची है।

आलस्य—भई जात में ब्राह्मण, धर्म में वैरागी, रोजगार में सूद और दिल्लगी में गप सबसे अच्छी।

मदिरा—उस पर भी वर्तमान समय की सभ्यता की तो मैं मूल सूत्र हूँ। पंच विषयेन्द्रियों के सुखानुभव मेरे कारण द्विगुणित हो जाते हैं। संगीत साहित्य की तो एकमात्र जननी हूँ।

अंधकार—आपके काम के वास्ते भारत क्या वस्तु है, कहिए मैं विलायत जाऊँ।

भारत दु०—नहीं, विलायत जाने का अभी समय नहीं, अभी वहाँ त्रेता द्वापर है।

बंगाली—कोई थोडी वी बात होता हम लोग मिल के बड़ा गोल करते। गवर्नमेंट तो केवल गोल माल से भय खाता।

एडि०—एडूकेशन की एक सेना बनाई जाय। कमेटी की फौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जाँय।

'मुस्लिम काल'—भारतेन्दुजी ने भारत दुर्दशा मे सबसे विस्तार से अपने राजनीतिक विचार सजोए हैं एवं तत्कालीन राजनीतिक और आर्थिक अवस्था का स्पष्ट चित्र खींचा है। भारत मे मूढता, आपसी कलह और अशिक्षा का घोर प्रसार था।[1] पारस्परिक कलह ने ही तो यवन-आक्रान्ताओं को भारतीय आक्रमण का आमंत्रण दिया जिसमे हिन्दुओं की बुद्धि, बल, विद्या और धन बार-बार नष्ट हुआ—

> करि कलह बुलाई जवन सैन पुनि भारी
> तिन नासी बुधि बल विद्या धन बहु बारी। (अक ३)

क्या हिन्दू पराजित हो सकते थे ? क्या उनका सर्वनाश इस प्रकार कभी हो सकता था यदि जयचन्द-जैसे घृणित निन्दनीय देशद्रोही भारत मे उत्पन्न न हुए होते ? तभी तो भारत कहता है—अरे पामर जयचन्द ! तेरे उत्पन्न हुए बिना मेरा क्या डूबा जाता था ? एक जनोक्ति है—मौत के आने का भय नही यम के परचने का डर है। एक बार उत्तरी भारत के पश्चिम मे लगी अर्गला आपसी कलह ने खोली नही कि आक्रातांओं का तांता लग गया और भारत लोहू-लुहान हुआ, पीसा गया और उसका रक्त चूसा गया। सत्यानाश फौजदार इन आक्राताओं के नाम गिनाता हुआ कहता है—हलाकू चगेजो तैमूर ! हमारे अदना-अदना सूर। दुर्रानी अहमद नादिरशाह। फौज के मेरे तुच्छ सिपाह। (अंक ३)।

इन्होंने कलह-जर्जरित भारत को भरपेट लूटा। इनके अत्याचारो के काले कारनामों का वर्णन करता हुआ नाटककार कहता है—तोर्‌यो दुर्गन महल ढहायो। तिन हीतें निज गेह बनायो। ते कलंक सब भारत केरे। ठाढे अजहूँ लखो घनेरे। काशी प्राग अयोध्या नगरी। दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी।

इन यवन आक्राताओं की बर्बरता की कहानियाँ एक-दो नही, अनेक हैं। धार्मिक मदान्धता ने इन्हे इतना क्रूर, निर्दयी तथा अन्यायी बना दिया था कि इनकी सूरत देखकर चाडाल भी घृणा करेगा और इनके मुख पर सदा कालिमा पुती रहेगी। इन्होंने क्या-क्या नष्ट किया इसकी गणना करता हुआ भारत भाग्य कहता है—तोडे कीरति थभ अनेकन। ढाहे गढ बहुकरि प्रण टेकन। मदिर महलनि तोरि गिराए। सबै चिह्न तुव धूरि मिलाए।

नाटककार इन मुस्लिम आक्राताओं का स्मरण इसी रूप मे करके दुखी होता है।

अंग्रेजी काल—मुसलमानो के बाद अंग्रेजी राज्य-काल आया। अंग्रेजो का

---

१. तहँ रही मूढता कलह अविद्या रातो (३)

राज्य मुस्लिम शासन से अच्छा था और अंग्रेज लोग मुसलमानों से भले थे। भारतेन्दुजी ने अंग्रेजों एवं अंग्रेजी शासन की प्रशंसा की है। 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी' एवं 'विषस्य विषमौषधम्' में अंग्रेजों की प्रशंसा प्राप्त होती है। 'भारत दुर्दशा' में नाटककार योगी के मुख से कहलाता है :—

'अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।'

आगे पुनः 'भारत' कहता है—'हाय! मैंने जाना था कि अंग्रेजों के हाथ में आकर हम अपने दुखी मन को पुस्तकों से बहलावेंगे और सुख मानकर जन्म बितावेंगे पर दैव से वह भी न सहा गया।

'भारत दुर्दैव' का भी कथन है—"अंग्रेजी अमलदारी में भी हिन्दू न सुधरे। लिया भी तो अंगरेजो से औगुन।" इसी प्रकार 'कवि' (नाटककार) 'अपकार' से कहलाता है कि—"अँगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़।" बंगाली, जो निर्भीक एवं देशभक्त है कहता है—"हम लोग सदा चाहता है कि अंगरेजों का राज्य उत्पन्न न हो।"

'भारत-भाग्य भी सचेत करते हुए कहता है—"अँगरेजों का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जगोगे। मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन गए, अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहिचाना। विद्या की चर्चा फैली सबको सब कुछ कहने-सुनने का अधिकार मिला, देश-विदेश से नई-नई विद्या और कारीगरी आई।"

नाटककार भी अंग्रेजो की उन्नत अवस्था से अभिभूत है। उसकी दृष्टि में विलायत में अज्ञान नहीं है। वरन् त्रेता-द्वापर व्याप्त है, विद्या और विज्ञान का प्रकाश है।[1] भारतेन्दुजी ने महारानी विक्टोरिया की बड़ी प्रशंसा की है, 'भारत' महारानी से पुकार करता है—(१) "मात राजराजेश्वरी, विजयिनी, मुझे बचाओ। अपनाए की लाज रखो।' (२) वह भारत दुर्दैव को देख कर भयभीत स्वर में कहता है "अरे यह तो मेरा एक ही कौर कर जायेगा। हाय! परमेश्वर वैकुंठ में और राजराजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी। हाय अब मेरे प्राण कौन बचावेगा!" 'भारत दुर्दशा' का उपनायक 'भारत-भाग्य' भी प्रार्थना करता है 'हे करुणासागर! भगवान इधर भी दृष्टि कर। हे भगवती, राजेश्वरी, इसका हाथ पकड़ो!"

'विषस्य विषमौषधम्' का विश्लेषण करते हुए आरंभ में ही हमने दिखाया है कि भारतेन्दुजी अंग्रेजों, अंग्रेजी राज्य एवं भारतीय सम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा करते हुए भी राष्ट्र-प्रेमी और देशभक्त थे। लोकमान्य-

---

१. अंधकार :—आपके काम के वास्ते भारत क्या वस्तु है, कहिए मैं विलायत जाऊँ।
भारत दुर्दशा :—नहीं, विलायत जाने का अभी समय नहीं, अभी वहाँ त्रेता-द्वापर है।
अंधकार :—नहीं, मैंने एक बात कही। भला जब तक वहाँ दुष्टा विद्या का प्रावल्य है वहाँ जा ही के क्या करूँगा। गैस और मैगनीशिया से मेरी प्रतिष्ठा भंग न हो जायगी।

तिलक के बाद राजनीति ने मोड़ लिया और अंग्रेजों का विरोध करना ही राष्ट्रीयता का प्रतीक बन गया। किन्तु भारतेन्दुजी के युग में राजभक्ति और देशभक्ति साथ-साथ चल रही थी। भारतेन्दुजी के जीवन (सन् १८५० ई० से १८८२ ई०) के समय एवं कालांतर में भी कुछ समय तक, कांग्रेस के मंचों से भी ऐसे ही भाषण किए जाते थे, जिनमें राजभक्ति के साथ-साथ देशोद्धार की भावना का भी सम्मिश्रण रहता था। मुसलमानी शासन से अंग्रेजी राज्य अच्छा था और अंग्रेज भी मुसलमानों से अच्छे थे—इसमें किसे संदेह है? पुनः मुस्लिम शासन के अंत हुए भी अधिक दिन न हुए थे, आसन्नभूत में घटित सारे यवन-अत्याचारों से भारतेन्दुजी सुपरिचित थे। यवनों की बर्बरताएँ उनकी दादी की जबान पर चढ़ी थीं एवं विश्वनाथ के मंदिर को वे स्वयं देख रहे थे। काशी की गलियों में मुस्लिम शासन के अत्याचार की कहानियाँ फैली हुई थीं। अतः उन्होंने अपेक्षया अच्छे (अंग्रेजी) शासन की प्रशंसा की।

किन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने अंग्रेजी शासन की बुराइयों से आँखें मूँद ली थीं। नहीं, उसकी बुराई दिखाने एवं भारतीय हिन्दुओं को जगाने के हेतु 'भारत दुर्दशा' एवं 'अंधेर नगरी' में उन्होंने सैकड़ों युगोन्मेषकारी उद्गार प्रकट किए।

अंग्रेजों की निंदा

अंग्रेजी शासन का सबसे बड़ा अभिशाप है भारत का शोषण। भारत का धन विदेश की ओर बह रहा है। कितनी अवांछनीय बात है यह? भारत दीन-हीन हो गया है। उस पर चीजों के दाम भी बढ़ गए हैं और रोगों के साथ काल का विकराल मुख दिनों-दिन अधिक विस्तृत होता जा रहा है।[1]

अंग्रेज लोग भारतीयों से घृणा करते थे और उन्हें 'काला', 'नीच' तथा 'काफिर' कहकर दुत्कारते थे।[2] भारतीय इस राज्य में आकर निष्क्रिय संतोषी और खुशामदी बन गए थे। बड़े कायर हो गए थे। इसका प्रमाण है कि जब देश-सुधार की सभा होती है तो 'दूसरा परदेशी' पुलिस से भयभीत हो, मेज के नीचे छिप जाता है। छोटी-छोटी बातों पर सन्देह करके अमुक व्यक्ति सुधारवादियों एवं देशभक्तों के साथ है, उस पर जोर-जुल्म किया जाता था। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए 'भारत दुर्दैव' कहता है—

"कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश को सुधारा चाहते हैं। हहा! हहा!!

---

१. पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी॥

२. काफिर काला नीच पुकारूँ, तोड़ूँ पैर और हाथ।
दूँ इनको संतोष खुशामद कायर तो भी साथ॥

एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो!" ऐसा ही होता भी है। जब कुछ देश-प्रेमी एक सभा करते हैं तो पुलिस जाकर उन्हें डिसलायल्टी (देशद्रोह) में पकड़ती है। यद्यपि वहाँ यह कह दिया जाता है कि "हम लोग सदा चाहते हैं कि अंग्रेजी राज्य उत्पन्न न हो, हम लोग केवल अपना बचाव करते हैं।" किन्तु इतने पर भी उन्हें पकड़ा जाता है। जब कहा जाता है "काहे को पकड़ोगे कानून कोई वस्तु नहीं है। सरकार के विरुद्ध कौन बात हम बोले" तो डिसलायल्टी (पुलिस अफसर) कहती है "हम क्या करें, गवर्नमेंट की पालिसी यही है।" 'कवि वचन सुधा' नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी? फिर क्यों उसको पकड़ने को हम भेजे गए थे? हम लाचार हैं। जिसका अर्थ है कि सरकार की नीति है कि कोई भी सरकार का विरोध करने का साहस न करे। कार्य तो अलग रहा, केवल देश-सुधार की जो बातें करता हो और चापलूसों ने सरकार से यदि उसकी शिकायत की है, तो वह पकड़ा ही जाएगा। परिणामतः मानो सदस्य पकड़ कर ले जाये गए। इसके विपरीत जो सरकार का साथ दे रहा था, इन सुधारवादियों का विरोध कर रहा था—उसे मैडल और खिताब दिया जाता था।[1] अंग्रेज सरकार ने इन्हें खुशामदी उपाधियाँ दीं, सी० आई० ई०, रायबहादुर, खानबहादुर, राजा, जनरल आदि बनाया। इन राजाओं एवं जनरलों के सम्मान में तोपें दागी जाती थीं। इन्हें डराया भी जाता था कि यदि देशप्रेमियों के साथ हुए तो बुरा फल मिलेगा।[2] वस्तुतः यदि कोई ऐसे बड़े पुरुष कहीं सुधारवादियों की सभा में फँस गए तो पूछते थे "क्यों भाई साहब, इस कमेटी में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे।"

अंग्रेजी राज्य के चार दूतों—अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश ने भारत की क्या दशा कर दी थी, सत्यानाश फौजदार इसकी सूचना देता हुआ कहता है—

"अपव्यय ने खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किए। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि अंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब छकाया। पूरब से पश्चिम और पश्चिम से पूरब तक पीछा करके खूब भगाया। तुहफे, घूस और चन्दे के ऐसे गोले चलाए कि बम बोल गई बाबा की चारों दिशा—धूम निकल पड़ी। भारतीयों में फूट, बैर,

1. ऐसे लोगों का हर तरह से सम्मान करके जिनसे उनका मेल मिल हो उनको उच्च पद, मेडल और खिताब दिए।
2. इस पर न्यूज़ी बाजी, सुम्मन दुई, हर किसी का दगा, बराबरी का झगड़ा उठा, भाग कर [illegible], अधिकतर बड़ बड़ाई, सब हाथों के बेबस हो गये। (अंक ३)

क्षोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक, अश्रुमार्जन और निर्बलता ने घर कर लिया (अंक ३) फिर 'फूट' ने भी भारतीयों में स्थायी डेरा जमा लिया। सत्यानाश फौजदार बताता है।" "फिर अन्त में मित्रता गई। इसने सबको फाड़ा कि भाषा धर्म, चाल, व्यवहार, खाना-पीना सब एक-एक योजन पर अलग-अलग कर दिया" (अंक ३)। भारत की खेती चौपट हो गई थी। बार-बार की अतिवृष्टि एव अनावृष्टि ने खेती की कमर तोड़ दी थी। नील की खेती तो ब्रिटिश राज्य का ऐतिहासिक कलंक बन गई जिसमें जबरदस्ती मजदूरी कराई जाती थी, मजदूरों को सताया जाता था और किसानों की भूमि अपहृत कर उस पर नील की खेती की जाती थी। किसान इन नीलासमन गोरों ने भारतीय किसानों का सर्वनाश कर डाला।[1]

नगर में सफाई के लिए चुंगियाँ या नगरपालिकाएँ स्थापित की गई थी, किन्तु इनके कारण अस्वस्थता ही बढ़ रही थी।[2] अनेक नए रोग डेंगू, विस्फोटक अपाप्लेक्सी चल पड़े थे। अंग्रेजो ने जमीदारो एवं बड़ों को बैठकर खाना बनाया था और स्वयं बड़ा परिश्रम करते थे। ये भारतीय महान पुरुष काम न करने को ही बड़प्पन मानते थे। वस्त्र पहनाने के लिए भी नौकर रखे जाते थे। आलस्य कहता है :—

> "धोती भी पहिने जब कि कोई गैरपिन्हा दे।
> उमरा को हाथ पैर चलाना नहीं अच्छा।
> मिल जाय हिन्द खाक में हम काहिलों को क्या।
> ए मीरे फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा।"

भारतीयों का वेद-वाक्य बन गया था—कोउ नृप होंहि हमहि का हानी। चेरि छांडि अब होबकि रानी। अमीर वही जो काम न करे। अंग्रेजो को शराब प्रिय थी फलतः भारतीयो ने भी उसे गले से लगा लिया था। 'मदिरा' का कथन इसका पुष्ट प्रमाण है—"सरकार के राज्य के तो हम एकमात्र भूषण हैं" (अंक ४)। परिणामतः लोग अंग्रेजो के अनुकरण पर मदिरा पी-पीकर सभ्य बन रहे थे।[3]

इस प्रकार हिन्दू नीचे गिर गए और इन्हे इस पतन की भी चिन्ता न रही। इनकी दुर्दशा का चित्रण इस प्रकार है :—

---

१. नील ने भी नील बनकर अच्छा लंका दहन किया। (अंक ३)
२. "चुंगी की कमेटी सफाई करके मेरा निवारण करना चाहती है, यह नहीं जानती कि जितनी सड़क चौड़ी होगी उतने ही हम भी"—"जस-जस सुरसा बदन बढ़ावा। तासु दुगुन कपि रूप दिखावा।" (अंक ४)
३. उस पर भी वर्तमान सभ्यता की तो मैं मूल-सूत्र हूँ। (अंक ४)

"जग के देश बढत बदि-बदि के सब बाजी जेहि काल।
ताहू समय रात इनकी है ऐसे ये बेहाल॥"
"छोटे चित अति भीरु बुद्धि मन चचल बिगत उछाह।
उदर भरन रत, ईस बिमुख सब भए प्रजा नरनाह॥"
"हित अनहित पशु पक्षी जाना पै ये जानहिं नाहिं।
भूले रहत आपुने रग मे फँसे मूढ़ता माहिं॥"

हिन्दू राष्ट्रीयता

भारतेन्दुजी ने इस प्रकार एक ओर अंग्रेजी राज्य की बुराई की तो दूसरी ओर प्रशसा भी। यह विरोध क्यो ? यह विरोध नही, विरोधाभास है। काग्रेस का जन्म सन् १८८५ ई० मे हुआ। तदुपरान्त लोकमान्य तिलक के महासभा के रगमच पर आगमन (१८९६ ई०) तक अंग्रेजी राज्य की प्रशसा करके कुछ अधिकार मॉगे जाते थे। प० मोतीलाल नेहरू के 'होम रूल' की घोषणा से पूर्व भी कुछ शासनाधिकारो की ही मांग की जाती थी। अत कल्पना की जा सकती है कि १८७६ ई० मे देशप्रेम का क्या रूप रहा होगा। उस समय प्रत्येक बडा से बडा देश-प्रेमी अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया मे ही शासनाधिकार की माँग करता था। भारतेन्दुजी ने भी वही किया। फलत तत्कालीन देश-भक्तो की श्रेणी मे वे भी आते है।

भारतेन्दुजी के राष्ट्रीय दृष्टिकोण मे एक अन्तर है, जो तत्कालीन प्रभाव के कारण है। काग्रेस की कुमारावस्था से पूर्व राष्ट्रीयता के दो दृष्टिकोण थे। प्रथम दृष्टिकोण हिन्दू हितो का पक्षपाती था तो दूसरा मुसलमानो के हको का हिमायती।

भारतेन्दुजी की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता है। जब वे कोई सुधार चाहते है तो हिन्दुओ के निमित्त। उनके मत मे हिन्दू ही वास्तविक देशवासी है और मुसलमान तो आततायी हैं। फलत जब वे भारत की दुर्दशा का चित्रण करते है तब वह चित्रण, हिन्दुओ की दीन-हीन दशा का चित्रण होता है। यह राष्ट्रीयता महाराणा प्रताप, शिवाजी एव भूषण की परम्परा मे आती है। स्वामी दयानन्द एव भारतेन्दुजी, दोनो ने ही इसी दृष्टिकोण को अपनाया था। 'भारत दुर्दशा' के अनेक कथन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। वे हिन्दुओ की राजनीतिक एव सामाजिक अवनति से दु खी थे और हिन्दुओ का उनकी पतनावस्था से उद्धार करना चाहते थे।

इसी सदर्भ मे योगी का कथन है कि :—

"लरि वैदिक जैन डुबोई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवन सैन पुनि भारी॥" (अक १)

भारत का भी कथन है :—

"कोउ नहिं पकरत मेरो हाथ ।
बीस कोटि सुन होत फिरत मैं हा-हा होय अनाथ ।"

यहाँ नाटककार भारत के बीस करोड़ (हिन्दू) पुत्रों का ही ध्यान करता है, मुस्लिम ईसाई जातियों से मिश्रित तीस कोटि का नहीं। अतः यहाँ हिन्दुओं की ओर ही स्पष्ट संकेत है ।

वे फौजदार से कहलाते हैं—

"महाराज धर्म ने सब के पहिले सेवा की" तो यहाँ हिन्दुओं को दृष्टि में रख कर ही कहा गया है । इसका प्रमाण है इस प्रसग मे पुराण, शैव-शक्ति, वैष्णव, जन्मपत्री, देवी-देवता, भूत-प्रेतादि-पूजन, छूत-छात और वेदात की चर्चा । उदाहरण के लिए कुछ पक्तियाँ दी जा रही हैं—"वेदात ने बड़ा ही उपकार किया । सब हिन्दू ब्रह्म हो गए । ज्ञानी बनकर ईश्वर से विमुख हुए, रुक्ष हुए, अभिमानी हुए और इसीसे स्नेह-शून्य हो गए । जब स्नेह नही तब देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ ?" रोग का कथन है कि "हम ऐसी सेना भेजेंगे जिनका भारतवासियों ने कभी नाम तो सुना ही न होगा ।" भारतवासियों से क्या तात्पर्य है इसको स्पष्ट करते हुए नाटककार कहता है "हम भेजेंगे विस्फोटक, हैजा, डेंग, अपाप्लेक्सी । भला इनको हिन्दू लोग क्या रोकेंगे" (अक ४) 'भारत दुर्दैव' भी मदिरा से कहता है "कि तुम भी हिन्दुस्तान की तरफ जाओ ।"

(अक ४)

हिन्दुस्तान से क्या अभिप्राय है भारत दुर्दैव तुरन्त स्पष्ट करता है और आज्ञा देता है "और हिन्दुओं से समझो लो ।" (अंक ४)

नेपथ्य मे स्वयं से नाटककार कहता है—"अगरेजहु को राज पाइ कै रहे कूढ के कूढ । स्वारथ पर विभिन्न मति भूले हिन्दू सब है मूढ़ ।" (अक ४)

पाँचवें अंक मे भारत उद्धार का उपाय सोचा जाना है, एडिटर कहता है "परन्तु अब समय थोडा है जल्दी उपाय सोचना चाहिए ।" तब कवि कहता है कि भारत-उद्धार का एक उपाय मैं बताता हूँ "अच्छा तो एक उद्धार यह सोचो कि सब हिन्दू मात्र अपना फैशन छोड़कर कोट-पतलून इत्यादि पहिरें ।" पहिले परदेशी के रूप मे स्वयं नाटककार जब कहता है "हाय ! यह कोई नही कहता कि सब लोग मिलकर एक चित्त हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो"—तो यहाँ 'सब लोग' का अर्थ है सब हिन्दू । भारत-भाग्य भारत को जगाता हुआ कहता है—"हाय भैया उठो । अंग्रेज का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे ।" तो यहाँ 'भारत' से अभिप्राय है 'हिन्दू' क्योंकि आगे कहा गया है "मूरों से प्रचंड शासन के दिन गए"—यहाँ 'मूरों' से तात्पर्य है मुसलमान शासक के ।

भारतेन्दुजी को भारत की तत्कालीन दशा से क्षोभ था क्योंकि उस समय हिन्दू अपनी पतनावस्था को प्राप्त हो रहे थे । फलत. वे उन्हें जगाने का प्रयत्न

"जग के देश बढ़त बदि-बदि के सब बाजी जेहि काल।
ताहू समय रात इनकी है ऐसे ये बेहाल॥"
"छोटे चित अति भीरु बुद्धि मन चंचल बिगत उछाह।
उदर भरन रत, ईस बिमुख सब भए प्रजा नरनाह॥"
"हित अनहित पशु पछी जाना पै ये जानहिं नाहिं।
भूले रहत आपुने रंग में फँसे मूढ़ता माहिं॥"

हिन्दू राष्ट्रीयता

भारतेन्दुजी ने इस प्रकार एक ओर अंग्रेजी राज्य की बुराई की तो दूसरी ओर प्रशंसा भी। यह विरोध क्यों ? यह विरोध नहीं, विरोधाभास है। कांग्रेस का जन्म सन् १८८५ ई० में हुआ। तदुपरान्त लोकमान्य तिलक के महासभा के रंगमंच पर आगमन (१८९६ ई०) तक अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा करके कुछ अधिकार माँगे जाते थे। प० मोतीलाल नेहरू के 'होम रूल' की घोषणा से पूर्व भी कुछ शासनाधिकारों की ही माँग की जाती थी। अब कल्पना की जा सकती है कि १८७६ ई० में देशप्रेम का क्या रूप रहा होगा। उस समय प्रत्येक बड़ा से बड़ा देश-प्रेमी अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया में ही शासनाधिकार की माँग करता था। भारतेन्दुजी ने भी वही किया। फलत तत्कालीन देश-भक्तों की श्रेणी में वे भी आते है।

भारतेन्दुजी के राष्ट्रीय दृष्टिकोण में एक अन्तर है, जो तत्कालीन प्रभाव के कारण है। कांग्रेस की कुमारावस्था से पूर्व राष्ट्रीयता के दो दृष्टिकोण थे। प्रथम दृष्टिकोण हिन्दू हितों का पक्षपाती था तो दूसरा मुसलमानों के हकों का हिमायती।

भारतेन्दुजी की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता है। जब वे कोई सुधार चाहते है तो हिन्दुओं के निमित्त। उनके मत में हिन्दू ही वास्तविक देशवासी हैं और मुसलमान तो आततायी है। फलत जब वे भारत की दुर्दशा का चित्रण करते है तब वह चित्रण, हिन्दुओं की दीन-हीन दशा का चित्रण होता है। यह राष्ट्रीयता महाराणा प्रताप, शिवाजी एवं भूषण की परम्परा में आती है। स्वामी दयानन्द एवं भारतेन्दुजी, दोनों ने ही इसी दृष्टिकोण को अपनाया था। 'भारत दुर्दशा' के अनेक कथन इस तथ्य की पुष्टि करते है। वे हिन्दुओं की राजनीतिक एवं सामाजिक अवनति से दुःखी थे और हिन्दुओं का उनकी पतनावस्था से उद्धार करना चाहते थे।

इसी संदर्भ में योगी का कथन है कि —

"करि वैदिक जैन डुबोई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवन सैन पुनि भारी॥" (अंक १)

भारत का भी कथन है :—

"कोउ नहिं पकरत मेरो हाथ।
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा-हा होय अनाथ।"

यहाँ नाटककार भारत के बीस करोड (हिन्दू) पुत्रों का ही ध्यान करता है, मुस्लिम ईसाई जातियों से मिश्रित तीस कोटि का नही। अतः यहाँ हिन्दुओं की ओर ही स्पष्ट संकेत है।

वे फौजदार से कहलाते है—

"महाराज धर्म ने सब के पहिले सेवा की" तो यहाँ हिन्दुओ को दृष्टि में रख कर ही कहा गया है। इसका प्रमाण है इस प्रसग मे पुराण, शैव-शक्ति, वैष्णव, जन्मपत्री, देवी-देवता, भूत-प्रेतादि-पूजन, छूत-छात और वेदात की चर्चा। उदाहरण के लिए कुछ पक्तियाँ दी जा रही हैं—"वेदात ने बडा ही उपकार किया। सब हिन्दू ब्रह्म हो गए। ज्ञानी बनकर ईश्वर से विमुख हुए, रुक्ष हुए, अभिमानी हुए और इमीसे स्नेह-शून्य हो गए। जब स्नेह नही तब देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ?" रोग का कथन है कि "हम ऐसी सेना भेजेंगे जिनका भारतवासियो ने कभी नाम तो सुना ही न होगा।" भारतवासियो से क्या तात्पर्य है इसको स्पष्ट करते हुए नाटककार कहता है "हम भेजेंगे विस्फोटक, हैजा, डेंग, अपाप्लेक्सी। भला इनको हिन्दू लोग क्या रोकेंगे" (अक ४) 'भारत दुर्दैव' भी मदिरा से कहता है "कि तुम भी हिन्दुस्तान की तरफ जाओ।"

(अक ४)

हिन्दुस्तान मे क्या अभिप्राय है भारत दुर्दैव तुरन्त स्पष्ट करता है और आज्ञा देता है "और हिन्दुओं से समझो तो।" (अंक ४)

नेपथ्य से स्वयं से नाटककार कहता है—"अगरेजहु को राज पाइ कै रहे कूढ के कूढ। स्वारथ पर विभिन्न मति भूले हिन्दू सब है मूढ।" (अक ४)

पाँचवें अंक मे भारत उद्धार का उपाय सोचा जाता है, एडिटर कहता है "परन्तु अब समय थोडा है जल्दी उपाय सोचना चाहिए।" तब कवि कहता है कि भारत-उद्धार का एक उपाय मैं बताता हूँ "अच्छा तो एक उद्धार यह सोचो कि सब हिन्दू मात्र अपना फैशन छोडकर कोट-पतलून इत्यादि पहिरें।" पहिले परदेशी के रूप मे स्वयं नाटककार जब कहता है "हाय! यह कोई नही कहता कि सब लोग मिलकर एक चित्त हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो"—तो यहाँ 'सब लोग' का अर्थ है सब हिन्दू। भारत-भाग्य भारत को जगाता हुआ कहता है—"हाय भैया उठो। अग्रेज का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे।" तो यहाँ 'भारत' से अभिप्राय है 'हिन्दू' क्योंकि आगे कहा गया है "मूर्खों से प्रचंड शासन के दिन गए"—यहाँ 'मूर्खों' मे तात्पर्य है मुसलमान शासक के।

भारतेन्दुजी को भारत की तत्कालीन दशा से क्षोभ था क्योंकि उस समय हिन्दू अपनी पतनावस्था को प्राप्त हो रहे थे। फलत. वे उन्हें जगाने का प्रयत्न

करते हुए कहते हैं—"हिन्दुओं! तुम कहाँ थे और कहाँ आ पड़े हो।" पुन. 'भारत भाग्य' कहता है—"हा दैव! तेरे विचित्र चरित्र है, जो कल राज करता था वह आज जूते मे टाँका उधार लगवाता है...पवित्र चरित्र के लोग हो गए है उसकी यह दशा।" नाटककार उद्बोधनार्थ प्राचीन भारत के गौरव एव उसकी समृद्धि का स्मरण बार-बार करता है। योगी कहता है—

"सब के पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सब के पहिले विद्या फल जिन गहि लीनो।।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।
जहँ भए शाक्य हरिचन्द्र नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।।"

नाटक के अन्त मे भी भारत-गौरव-गान है।

भारत भाग्य कहता है—

"भारत के भुजबल जग रक्षित।
भारत विद्या लहि जग सिच्छित।।"
"साहस बल इन सम कोउ नाही।
तब रह्यौ महि मडल माही।।"

पुन. भारतीय मनीषियो एव वीरो का स्मरण करते हुए वह कहता है—

जाबाली जैमिनि गरग पतजलि सुकदेव।
रहे भारतहि अक मे कबहि सबै भुवदेव।।"

० ० ०

"सोई व्यास अरु राम के बस सबै सतान।
ये मेरे भारत भरे सोइ गुन रूप समान।।"

सामाजिक अवस्था

हिन्दुओ की सबसे बडी निर्बलता थी—आपस की फूट, भिन्नता और अनैक्य। इसके कई रूप प्रचलित थे। हिन्दुओ मे अनेक मत एवं सम्प्रदाय व्याप्त थे, जो आपस मे लडते-झगडते रहते थे।[1] यही नही अपितु हिन्दू अनेक जातियों मे बँट कर भिन्न हो गए थे। उनमे नीच और ऊँच की भावना व्याप्त थी। 'छुआछूत' की भावना इतनी प्रबल थी कि आपस मे खान-पान तक न था,

---

१. "शैव शाक्य वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए।" (अंक ३)
"लरि वैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।" (अंक ३)

विवाह-शादी की बात तो दूर रही।[1]

"अब हिन्दुओं को खाने माल से काम देश से कुछ काम नहीं (अंक ३) वे कहते हैं 'कोउ नृप होंहि हमें का हानी। चेरि छाड़ि अब होवकि रानी। (अंक ४) इनमें ऐका हो तो कैसे ? अनेक देवी-देवता हैं।"

देवी-देवताओं से संतोष न हुआ तो भूत-प्रेतों को संभाला और इस प्रकार ईश्वर से दूर जा पड़े—

"बहु देवी-देवता। भूत-प्रेतादि पूजाई।
ईश्वर सो सब विमुख किये हिन्दू घबराई।"

अन्य अनेक सामाजिक बुराइयाँ इनमें घर कर गई थीं।

बालक-बालिकाओं का अल्प वयस में ही विवाह हो जाता था जिससे उनके बल और प्रीति का नाश हो रहा था। कुलीन पुरुष अनेक विवाह कर लेते थे और इस प्रकार अपने को बलहीन बनाने में प्रबल रूप से योग दे रहे थे। विधवा विवाह एवं विलायत-गमन निषिद्ध था। फलतः व्यभिचार बढ़ा एवं कूप-मंडूकता की विवृद्धि हुई।[2]

हिन्दू ऐसे अज्ञानी और मूर्ख हो गए हैं कि रोग को भूत-प्रेत, टोना, देवी-देवता समझ पूजते हैं जिसके कारण ओझा, सयाने पंडित एवं गेरुआ साधु उन्हें ठगते हैं। वे रोग की औषधि करते नहीं अतएव चूहों की नाईं मरते हैं। उनसे कहा जाता है कि चेचक का टीका लगवा लो तो इस भय से कि देवी-देवता नाराज न हो जाएँ बच्चों को टीका नहीं लगवाते थे और फलतः बच्चों को मौत के मुँह में फेंक रहे थे।[3]

हिन्दुओं में मद्यपान का प्रचार हो गया है—

"पियत भट्ट के ठट्ट अरु गुजरातिन के वृन्द।
गौतम पियत अनंद सो, पियत अग्र के नंद।"

अपनी प्राचीन वेशभूषा छोड़कर ये कोट-पतलून पहन रहे थे, और

---

१. "जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान संबंध सबन सो बरजि छुड़ायो॥
अपरस सोल्हा छूत रचि भोजन प्रीति छुड़ाय।
किए तीन तेरह सबै चौका चौका लाय॥"

२. "बालकपन में ब्याहि प्रीति बल नास कियो सब।
करि कुलीन बहु ब्याह बल बीरज मार्‌यो॥
विधवा ब्याह निषेध कियो बिभिचार बढ़ायो।
रोकि बिलायत-गमन कूपमंडूक बनायो॥
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।"

३. रोग का कथन। (अंक ४)

अंग्रेजियत अपना रहे थे।[1] भारत-भाग्य के शब्दों में हिन्दुओं की कुछ सामाजिक कुरीतियाँ ये हैं—"तुम लोगों तो उसपर भी वही सीधी-बातें, भाँग के गोले, ग्राम गीत, वही बाल विवाह, भूत-प्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि, वही थोड़े में संतोष, गप हाँकने में प्रीति और सत्यानासी चालें।"

अभिनय

अभिनय की दृष्टि से 'भारत-दुर्दशा' एक सफल नाटक है, इसका ही प्रमाण है कि कानपुर, काशी, प्रयागादि में इस नाटक का कई बार सफल अभिनय हुआ था।[2] एक बार तो प० प्रतापनारायण मिश्र इसके अभिनय से रीझ गए थे, और उन्होंने इस अभिनय की अपने पत्र 'ब्राह्मण' में बड़ी आलोचना की थी।[3] भारतेन्दुजी ने इस नाटक का निर्माण ही अभिनय के उद्देश्य से किया था। इसके प्रमाण है—उनके रंग-संकेत। प्रत्येक पात्र के प्रवेश-समय वे उसकी वेश-भूषा दे देते हैं। जब भारत प्रवेश करता है तो वे पादटिप्पणी में निर्देश करते हैं—"फटे कपड़े पहिने, सिर पर अर्द्ध किरीट, हाथ में टेकने की छड़ी, शिथिल अंग।" इसी प्रकार पात्रों के प्रवेश समय वे यह भी बता देते हैं कि पात्र कैसे प्रवेश करेगा "भारत दुर्दैव नाचता और गाता हुआ रंगमंच पर आएगा" (अंक ३) "सत्यानाश फौजदार नाचता प्रवेश करता है," (अंक ३) तो "रोग गाता हुआ" (अंक ८) "आलस्य जभाई लेता प्रवेश करता है।" (अंक ४) तो "अंधकार गाता और स्खलित, नृत्य करता आता है।" (अंक ४) शब्द पटाक्षेप एवं प्रकाश का भी यथास्थान संकेत कर देते हैं। चौथे अंक में जब अंधकार प्रवेश करता है तो उनका रंगसंकेत है—"अंधकार का प्रवेश। आँधी आने की भाँति शब्द सुनाई पड़ता है" और जब वह जाता है तो रंगसंकेत है "नेपथ्य में वैतालिक गान और गीत की समाप्ति में क्रम से पूर्ण अन्धकार और पटाक्षेप।" ऐसे स्पष्ट रंगसंकेत सम्यक् रीत्या कहलाते हैं कि नाटक में अभिनय का पूरा ध्यान रखा गया है।

रंग-सज्जा और दृश्य-परिवर्तन में भी 'अभिनय' का ध्यान रक्खा गया है। पहले अंक में सबसे आगे वाले "वीथी चित्रित" पर्दे के बाहर योगी गीत गाते हुए आता है। योगी जब गीत गा रहा है तब पीछे श्मशान का दृश्य तैयार किया जायगा। दूसरे अंक में श्मशान के पर्दे पर अभिनय होगा। इस पर्दे का रंगसंकेत है "स्थान श्मशान, टूटे-फूटे मंदिर, कौआ, कुत्ता, स्यार, घूमते हुए, अस्थि इधर-उधर पड़ी हैं।" दूसरे अंक के अन्त में श्मशान का पर्दा गिरेगा। तीसरे अंक का पर्दा फौजी डेरों का होगा। चौथे अंक की दृश्यसज्जा है—कमरा

---

१ कवि—"अब हिन्दू गाव अपना फैशन छोड़कर कोट-पतलून इत्यादि पहिरैं।

२ हरिश्चन्द्र—डा० शिवनन्दन सहाय, प्र० सं०, पृ० १८५

३. ब्राह्मण, १५ अक्तूबर, १८८५

अंग्रेजी, सजा हुआ, मेज-कुर्सी लगी हुई, कुर्सी पर भारत दुर्दैव बैठा है। पांचवां अंक पुनः एक पर्दे पर होगा जो कुतुबखाने का पर्दा होगा और सात आदमी आकर बैठ जायेंगे। नाटककार कुर्सी या तखत का कोई संकेत पांचवें अंक में नहीं करता है। सभापति बीच में बैठ जाता है और ६ सदस्य इधर-उधर। फलतः सब खड़े होकर बोलते हैं। इस अंक के अभिनय के समय पीछे 'वन' बनाया जायगा। एक वृक्ष के नीचे भारत सोया पड़ा दिखाया जाएगा। नाटक की भाषा सरल और बोधगम्य है। जिसे सब दर्शक समझ सकते हैं। इसमें नृत्य-गीत की प्रधानता है, जो नाटक का बहुत बड़ा आकर्षण है। 'लास्य' रूपक में नृत्य-गीत की प्रधानता होगी ही, विशेषतया नृत्य की, क्योंकि लगभग प्रत्येक पात्र नाचता है। हास्य और व्यंग्य के कारण नाटक का अभिनय सजीव और प्रभावपूर्ण बन जाता है। निश्चय ही, नाटककार के सामने तत्कालीन पारसी रंगमंच की पर्दा-प्रणाली थी, जिसको ध्यान में रखकर उसने रंगसंकेत एवं रंगसज्जा का वर्णन किया है।

इससे स्पष्ट है कि नाटक पूर्णतया अभिनेय है। पता नहीं तब भी क्यों डा० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल के मत से यह अनअभिनेय रहा।[1] जो तर्क उन्होंने दिये हैं वे सर्वथा अशुद्ध, भ्रामक एवं विचित्र हैं—(१) "प्रबोध-चन्द्रोदय की भांति पात्रों में अभिनेयता नहीं।" 'पात्रों में अभिनेयता नहीं' उनका क्या अभिप्राय है? उनके कथन के विपरीत—पात्रों में पर्याप्त अभिनेयता है। वे गाते-नाचते हैं, कार्यशील है, व्यंग्य-हास्य से भरे हैं। फिर पात्र-प्रवेश की शैली भी 'प्रबोध चन्द्रोदय' वाली नहीं है, 'इन्द्र सभा' एवं पारसी नाटक की शैली है। पात्र अपना परिचय स्वयं देते हैं। (२) दूसरा कारण वे देते हैं कि पात्र भाव-प्रधान हैं अतः वे दर्शकों के काम के नहीं हैं। हां, पाठकों के मनोरंजन भले ही कर दें। बड़ा विचित्र तर्क है? भाव-प्रधान होने से तो पात्र अधिक सरस एवं प्रभावपूर्ण हो गये हैं यदि इस तर्क को मान लिया जाय तो संस्कृत, बंगला एवं अंग्रेजी के सभी प्राचीन नाटक अनभिनेय हो जायेंगे जिनका अभिनय बार-बार हुआ है। फिर 'भारत दुर्दशा' नाटक तो गतिवान है, भाव-बोझिल नहीं। केवल भारत-भाग्य, जो अन्त में पर्याप्त विलम्ब तक कथन करता है, भाव-धारा में बह जाता है, किन्तु उस समय, ऐसे दीर्घ कथनों को बड़ी रुचि से नाट्य-शाला में सुना जाता था, इसके प्रमाण हैं—'रणधीर-प्रेममोहिनी', 'लावण्यवती-सुदर्शन' एवं 'नीलदेवी' इसी प्रकार के नाटक हैं जो बड़ी सफलतापूर्वक अभिनीत हुए थे। सरकूल एवं शेक्सपियर के नाटकों में भी भावपूर्ण दीर्घ कथन मिलते हैं और वे नाटक भी अभिनेय हैं। (३) उनका तीसरा तर्क तो बड़ा ही भ्रामक है, वे कहते हैं—"दर्शकों की मौलिक रुचि के अनुकूल विकास नहीं

---

१. भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य, प्र० सं०, पृ० २८६

है।" दर्शकों की मौलिक रुचि क्या है ? यदि मौलिक रुचि है तो कोई अनुदित एवं अनुकरणीय रुचि भी होगी। कैसे रुचि के अनुकूल नहीं है, इसका भी प्रमाण देना अत्यन्त आवश्यक था।

यह नाटक तो इतना लोकप्रिय हुआ कि इस परम्परा मे कई नाटक उसी युग मे रचे गए। खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (सन् १८८५ ई०), अविकादत्त व्यास-कृत 'भारत सौभाग्य' (सन् १८८७ ई०), बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन का 'भारत सौभाग्य' (सन् १८८६ ई०), दुर्गादत्त का 'वर्तमान दशा' (सन् १८६० ई०), गोपालराम गहमरी का 'देश-दशा' (सन् १८६२ ई०) और जगतनारायण द्वारा रचित 'भारत दुर्दिन' नाटक, इस तथ्य के ज्वलंत प्रमाण है।

भारत जननी (१८७७)

भारत जननी को भारतेन्दुजी ने 'ऑपेरा' माना है। अपने 'नाटक' नामक निबन्ध मे उन्होने नवीन नाटको के दो भेद माने है—नाटक और गीति नाटक।[1] नाटक और गीति नाटक की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि नाटक वह है जिसमे कथा भाग की प्रधानता हो और गीति नाटक मे गीतों की प्रधानता होगी। यह बात ध्यान मे रखने की है भारतेन्दुजी गीत को नाटक का अनिवार्य अग मानते है। गीत तो नाटक मे भी होंगे और गीतिरूपक मे भी। अन्तर यही है कि नाटक में गीत कम होगे और गीतिरूपक में अधिक। कथा भी दोनो मे रहेगी। नाटक मे कथा को प्रधानता मिलेगी तो गीतिरूपक मे गीतों को। कविताओ को भारतेन्दुजी ने कसौटी नही बनाया है क्योकि कविताएँ चाहे जितनी हो सकती है। सत्य हरिश्चन्द्र मे ८४ छन्द हैं, ८ श्लोक और २ गीत। चन्द्रावली नाटिका मे ६६ छन्द है २६ गीत। इन दोनो मे कथा भाग अधिक है। ये पुरानी शैली के नाटक है। नवीन शैली के नाटको मे से 'विद्या-सुन्दर' मे ३ कविताएँ और १० गीत है। प्रेमयोगिनी के चार गर्भांकों मे दो कविताएं और दो बडे गीत हैं। ये नाटक हैं। इनमे कथा भाग की प्रधानता प्राप्त हुई है। नीलदेवी गीतिरूपक है जिसके छठे दृश्य को छोडकर अन्य सभी अवशिष्ट नवो दृश्यो मे एक या अधिक गीतो का समावेश है। इन नवो दृश्यो में सोलह गीत है। गीतिरूपक का प्रारम्भ दो गीतो से होता है।

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—भाग १, पृ० ७७०

भारत जननी नाटक या गीतिरूपक न होकर ऑपेरा है किन्तु भारतेन्दुजी ने इस भेद की चर्चा नवीन नाटकों के भेदों में नहीं की है जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं। यदि वे 'ऑपेरा' को एक भेद मानते हैं तब क्यों नहीं नवीन नाटकों की चर्चा में उन्होंने इसे स्थान दिया ? इसका यही कारण हो सकता है कि वे 'ऑपेरा' को महत्त्वपूर्ण भेद नहीं मानते और फलतः वे नवीन नाटकों में इसे सम्मिलित नहीं करते। गीतिरूपक और ऑपेरा में क्या भेद है ? गीतिरूपक में कथा होती है और गीतों की प्रधानता। ऑपेरा प्रारम्भ से अन्त तक गीतों से ही भरा होता है। 'भारत जननी' भी एक ऐसा नाटक है जिसमें बहुत थोड़ी-सी कथा भी है, वह गीतों और कविताओं से आप्लावित है। थोड़ा-सा गद्यात्मक कथोपकथन है। यह लघु नाटक है। इसमें प्राचीन शैली पर सूत्रधार नाटक का परिचय देता है।

यह भारतेन्दु की मौलिक कृति है या नहीं इस पर मतभेद है। बा० राधाकृष्णदास एवं बा० ब्रजरत्नदासजी ने इसे भारतेन्दुजी की कृति माना है। बा० ब्रजरत्नदास का मत है "कहा जाता है कि यह इनके एक मित्र की लिखी है पर वह इतनी भ्रष्ट थी कि भारतेन्दुजी ने उसका पूरा संशोधन कर तथा अपनी कविता मिला कर इसे प्रकाशित कराया था। मित्रजी को इसी कारण अपना नाम इसके मुखपृष्ठ पर देने या दिलाने का साहस नहीं पड़ा।"[1] डा० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल ने भी इसे भारतेन्दुजी की मौलिक कृति माना है। उनका कथन है "'भारत जननी' बंगला के नाटक 'भारत माता' के आधार पर लिखी गई एक मौलिक रचना है, अन्य किसी का इसमें कोई हाथ नहीं है।"[2] बाबू राधाकृष्णदासजी का कथन था कि भारतेन्दुजी ने इतना संशोधित किया कि इसका मूल रूप ही परिवर्तित हो गया। अतः यह भारतेन्दुजी की कृति मानी जानी चाहिये। स्वयं भारतेन्दुजी की स्वीकारोक्ति है कि यह मेरी रचना नहीं है, मैंने संशोधन मात्र किया है। भारतेन्दुजी ने जब भारत जननी को कविवचन-सुधा (२६-११-१८७८) में पुनः मुद्रित किया तो इसके विषय में लिखा था 'भारत जननी' रूपक जो गत नवम्बर से छपता है उसके ऊपर मेरा नाम लिखा है। यह रूपक मेरा बनाया नहीं है। बंगभाषा में 'भारत माता' नामक जो एक रूपक है—यह उसी का अनुवाद है जो मेरे एक मित्र ने किया है जिन्होंने अपना नाम प्रकाश करने को मना किया है। मैंने उसको शोधा है और जो अंश कुछ भी अयोग्य था उसको बदल दिया है। कवि की कीर्ति का लोप नहीं करना, अतएव यह प्रकाश करना मुझ पर आवश्यक हुआ। यह सन् १८७७ ई० के दिसम्बर की चन्द्रिका में छपा था उससे 'कवि-वचन-सुधा' में पुनः मुद्रित होता है।

---

१. हिन्दी नाट्य-साहित्य—प्र० सं०, पृ० ८१
२. भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य, प्र० सं०, पृ० ७४

इससे स्पष्ट है कि कुछ लोगों ने इस नाटक को भारतेन्दुजी कृत कहना प्रारम्भ कर दिया था। पर भारतेन्दुजी ने यह घोषणा करनी चाही कि यह मेरे मित्र की अनूदित कृति है जिसे मैंने संशोधन किया है। साथ ही वे कहते हैं कि मेरे मित्र की कृति को मेरे नाम से मत लिखिए क्योंकि इससे मेरे मित्र की कीर्ति का लोप होता है। भारतेन्दुजी की इसी स्वीकारोक्ति के आधार पर डा० शिवनन्दनसहाय ने इसे भारतेन्दुजी की नाटक-सूची में सम्मिलित नहीं किया है।[1] यह बनारसी मित्र कौन थे, इसकी कोई सूचना प्राप्त नहीं है। सम्भव है यह वह बंगालिन साथिन हो जो विद्यासागरजी की थी और जिससे भारतेन्दुजी ने हिन्दी सीखी थी। इस स्पष्ट प्रमाण के प्रकाश में 'भारत जननी' को भारतेन्दु-कृत मौलिक नाटक न मानना ही उचित है। हाँ, इसमें उनका संशोधन बहुत है। अतः इसे उनकी सूची में सम्मिलित किया जाता है। सूत्रधार नाटक का परिचय तथा भरतवाक्य भारतेन्दुजी के ही संशोधन प्रतीत होते हैं। इसमें अंग्रेजों की प्रशंसा है तथा तत्कालीन भारत की दुर्दशा का चित्रण है। विक्टोरिया का उत्तम राज्यशासन था, इसको नाटक में स्वीकारा गया है।[2] अंग्रेजी राज्य न होता तो भारतीय जीवित न बचते।[3] इस अंग्रेजी राज्य की उत्तमता का कारण महारानी विक्टोरिया ही है। भारतमाता महारानी की प्रशंसा करती हुई कहती है "तुम लोग एक बेर जगत्पूज्यपादा, सन्तानकुमकमल-कलिता-प्रकाशिका, राज निचय पूजित पाद पीठा, करुण हृदया, मार्द-चित्ता, प्रजारंजनकारिणी एवं दयाशीला, धार्म्म शासिनी, राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया के चरण कमलों में अपने दुःख का निवेदन करो, वह अतीव कारुणमयी दयाशालिनी और प्रजा-पोषनाशिनी है।" महारानी के कारण ही अंग्रेजी राज्य अच्छा था। नहीं तो अंग्रेजी शासन में दोष भरे थे। महारानी के शासन में प्रजा राम-राज्य का अनुरंजन पा रही थी, नाटककार का कथन है।[4] यह प्रशंसातिरेक अत्युक्ति की सीमा तक पहुँच गया है जो कथन-प्रदर्शन अधिक है क्योंकि अंग्रेजी राज्य की निन्दा भी हुई है। यह प्रशंसा तत्कालीन जातीय सुधारकों में विद्यमान थी। भारतेन्दुजी प्राचीन भारत के गौरव को

---

१. हरिश्चन्द्र—शिवनन्दन सहाय—प्र० सं०, पृ० २०८
२. अब तो रानी विक्टोरिया, जागहु सुत भय छाँड़ि मन।
३. हाय जो अँगरेजों का राज्य न होता तो अब तक मेरे प्राण न बचते।
४. "उनकी दयालुता, न्यायशीलता, निष्पक्ष पातिता, और प्रजा पालत्व तो संसार में प्रसिद्ध है। हम लोगों को महारानी परम कारुणिक और अति दयाशील हैं। वह अपनी प्रजा के अनुरंजन के हेतु प्राणप्रिय आत्म पुत्रों का भी त्याग कर सकती है और इतर वस्तुओं की कौन गणना! वह रामचन्द्र से भी अधिक प्रजा-पालन में सदैव तत्पर रहती हैं।"

कभी विस्मृत नहीं होने देते। प्रसादजी ने आगे इस दृष्टिकोण को अधिक विस्तार दिया। अन्य नाटकों की भाँति इसमें भी प्राचीन भारत का गौरव वर्णित है—

> जिन तव वेद पुरान शास्त्र उपवेद अंग सह भागे।
> दरसन दुरे किते जिनके बल सुत्र प्रताप जग जागे।

भारत माता रोकर पूर्व गौरव बखानती है—

"मेरे इसी अंक में आगे कैसे-कैसे महात्मा गण हुए हैं, जिनके यश सौरभ से सारी पृथ्वी आमोदित थी। इसी हमारे अंक आलवाल में कैसे पुण्य कल्पतरु हुए हैं जिनकी कीर्ति-शाखा दशों दिशा में भी नहीं समा सकी। इसी हमारे अंक में कैसे लोग लालित-पालित हुए हैं जिनका आज दिन समस्त संसार आदरपूर्वक नाम ग्रहण करता है, जिन्होंने अपने बुद्धिबल से मुझको सब देश की ललनाओं का शिरोमणि कर रक्खा था।" इसके बाद भारतमाता पूर्वकाल के प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम गिनाती है, जाबाली, जैमिनी, गर्ग, पातंजलि, शुकदेव, कृष्ण, व्यास, कपिल, दुर्वासा, बुद्ध, मनु, भृगु आदि। केवल पुरुष ही नहीं प्राचीन स्त्रियों ने भी भारत माँ का सिर ऊँचा किया था—"कोई काल ऐसा था कि इस भूमि की स्त्रियाँ विद्या, संभ्रम, शौर्य, औदार्य्य में जगत विख्यात थी, अत. भारत माता यहाँ भी पूर्व पुरुषों को भारत दुर्दशा नाटक के शब्दों में याद करती है—

> कहँ गये विक्रम, भोज, राम, बलि, कर्ण युधिष्ठिर
> चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासेकरि कै थिर।

ऐसे गौरवमय अतीत को रखने वाले भारत की दुर्दशा हो रही थी, जिसका उद्‌घाटन स्थान-स्थान पर हुआ है। प्रस्तावना में सूत्रधार का कथन है "भारत भूमि और भारत संतान की दुर्दशा दिखाना ही इस भारत जननी की इतिकर्तव्यता है।" भारत में चारों ओर धूल उड़ती है,[1] लोग कष्ट और दीनता से रोते हैं,[2] उनका जीवन धनबल, उत्साह और बुद्धि से हीन हो गया है[3]। स्त्रियों के समान डरते हैं[4], मदिरा से बुद्धि का विनाश कर लिया है[5], निर्लज्ज होकर अपना आत्म-सम्मान खो दिया[6], एवं सर्वत्र विवशता ने डेरा डाल दिया।[7] स्वयं भारतीय अपनी दशा बताता कहता है—

---

१. धूर उड़त सोइ अबिर उड़ावत सबको नयन मरोरी।
२. दीनतसा असु अल पिचकारिन सब खिलार भिंजयोरी।
३. तव उत्साह औषध बुधिबल सब फगुआ माहि लयोरी।
४. चूड़ी पहिरि स्वाँग बनि आए धिकधिक सबन कह्‌योरी।
   तेज बुद्धि बल धन अरु साहस उद्यम सूरपनो री॥
५. मदिरा मए भो से सौंअत हू अचेत तजि सब मन।
६. निरजल परे खोइ आपुन पौ जागत हूँ न जगायो।
७. बरसत सब ही विधि बेबसी अब तो चेतो बीरवर।

"माँ, तुम किससे कहती हो, हम लोग तो अब मनुष्य नही। हम लोग तो अब आलसी हो गए है। हमारी गणना तो अब अज्ञान तिमिरावृत, कूप निवासी पिशाचगणो मे है, और अब उद्यम शून्य हो केवल सूद या नौकरी पर सतोष करके बैठे है, उद्योग किस चिडिया का नाम है, इसको मानो स्वप्न मे भी नही जानते।" भारत माँ के पास अपने तथा पुत्रो के लिए उदर भरण की कोई सामग्री अवशिष्ट नही रही। वह कहती है "बेटा, मेरे पास क्या है जो तुम लोगों को खाने को दूँ......मेरे शरीर का तो अब रक्त भी शेष नही।"

इस दुरवस्था का कारण क्या है? प्रधान कारण है, यवनो का अत्याचार। भारतमाता ने अपने शरीर मे रक्तहीनता का कारण बताया—'यवन सब चूस ले गये। औरगजेब और अलाउद्दीन ने धर्म नष्ट किया और मुहम्मदशाह ने हिन्दुओ को विलासी बनाया।'[1] धर्मनाश का प्रत्यक्ष प्रमाण है—विश्वनाथ, सोमनाथ और माधव के मन्दिर। भारतमाता इन दुष्टो का और भी कुकर्म बताती है—"बेटा! हमारा धन, आभूषण, वसन इत्यादि सब लुटेरे बलात्कार ले गये। यह अच्छा हुआ कि इन यवन आततायियो से पीछा छूटा और अंग्रेजी शासन आ गया।" भविष्य की शुभ आशा भी नाटककार प्रगट करता है "भारत-माता! कुछ दु.ख मत करो, तुम्हारी यह शोक-रात्रि अब शीघ्र ही प्रभात होगी और सुख रूपी मार्तण्ड तुम्हारे इस मुकुलित मुख-कमल को शीघ्र ही प्रफुल्लित करेगा।" यही नाटक का शुभ सदेश है। 'भारतीयों' का अर्थ हिन्दू ही है, इस नाटक मे भी।

पश्चिमी नाट्य शैली का आँचेरा होते हुए भी इसमे सूत्रधार और भरत-वाक्य संस्कृत नाट्य शैली के उपस्थित है।

नील देवी

पश्चिमी नाटय शैली पर निर्मित 'नील देवी' एक दु खान्त नाटक है। भारतेन्दुजी ने इसे 'गीतिरूपक' कहा है। गीतिरूपक के विषय मे नाटककार कहता है कि नाटक से गीतिरूपक मे गीतों की सख्या बहुत अधिक होगी। दोनो मे भेद करते हुए नाटककार कहता है जिसमे कथा भाग विशेष और गीति न्यून हो नाटक और जिसमें गीति विशेष हो वह गीतिरूपक।[2] नील देवी मे १७ गीत हैं जिसमे मे कई गीत बहुत बड़े हैं। सातवे दृश्य के कैदखाने मे गाई

१. अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो,
   विषय वासना दुसह मुहम्मदसाह फैलायो।
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, पृ० ७२०

लावनी में ३२ यतियाँ हैं और नवें दृश्य में सोमनाथ के गाये 'वीर गान' में २८ यतियाँ। नायक सूर्यदेव, नायिका रानी, राजकुमार सोमदेव और प्रतिनायक अमीर तक गीत गाते हैं। स्वांग नाटकों, पारसी शैली और इन्द्रसभा शैली के नाटकों में भी सभी पात्रों से गवाया जाता था चाहे वे दुष्यंत बने हों या बुद्ध। 'नील देवी' गीतिरूपक में भी सभी प्रधान पात्र गाते हैं, अन्य तो गाते ही हैं। गीति रूपक में यह गाने की प्रवृत्ति भारतेन्दुजी ने रखी है।

यह ऐतिहासिक नाटक है और सोद्देश्य लिखा गया है। नाटक लिखने का उद्देश्य दुर्गापाठ से उद्धृत कुछ संस्कृत श्लोकों से तथा नाटककार द्वारा भारतीय आर्य ललनाओं को सम्बोधन से स्पष्ट हो जाता है। लेखक अंग्रेज स्त्रियों को देखकर भारतीय रमणियों का स्मरण करता है और कहता है अब मुझे अंग्रेजी रमणी लोग भेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुन्तल जूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ प्रसन्नवदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सीधी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। दुःख क्यों होता है ? एक ओर लेखक इन साहसी रमणियों को देखता है और दूसरी ओर पर्दे में घुटी अशक्त अपनी भारतीय स्त्रियों को। वह चाहता है कि अंग्रेज रमणियों की भाँति भारतीय गृहिणियाँ भी वर्तमान हीनावस्था को लाँघ कर उन्नति पाएँ किन्तु भारतीय स्त्रियों को तो यह विश्वास हो गया है कि हम तो सदा से दलित रही हैं, अशक्त हैं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने के हेतु यह ग्रंथ विरचित होकर आप लोगों के कोमल कर-कमलों में समर्पित होता है, लेखक कहता है।

कथा वस्तु

मुख्य कथा है कि अमीर धोखे से नायक सूर्यदेव को कैद करके मार देता है। नील देवी नर्तकी का वेश बनाकर अमीर को मार कर सती हो जाती है।

सहायक कथाएँ—पागल की कथा एवं चपरगट्टू की कथा। चपरगट्टू की कथा मुख्य कथा से शृंखलित नहीं हो पाई है। उसे निकाल भी दिया जाय तो कथा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

पहला दृश्य—तीन अप्सराएँ प्राचीन भारत की क्षत्राणियों की गौरव-गाथा बखानती हैं एवं प्रेम-बधाई गाती हैं।

दूसरा दृश्य—अब्दुस्सरीफ खाँ ने पंजाब नरेश सूर्यदेव पर आक्रमण किया है। वह सूर्यदेव को पराजित नहीं कर पा रहा है अतः विशेष चिन्तित है। सामने लड़कर युद्ध में जय पाना कठिन समझकर सेनापति शरीफ कहता है कि रात को धोखे से हमला कर सूर्यदेव को कैद करूँगा।

तीसरा दृश्य—महाराज सूर्यदेव अपने साथियों से विचार-विमर्श कर रहे हैं। महाराज सूर्यदेव कहते हैं कि यदि मुसलमान छल-कपट को अपनाकर अधर्म करें तब भी हम ऐसा न करेंगे। नील देवी का मत है कि अधर्म का सामना धर्म-युद्ध से नहीं हो सकता है। अन्य राजपूत भी धर्म-युद्ध के ही पक्ष में हैं।

चौथा दृश्य—अमीर के दो सैनिक चपरगट्टू खाँ और पीकदान अली लड़ने के लिए सैनिक बने हैं पाराल पटामर ही इनके लिए सब कुछ है, दीन या धर्म कुछ नहीं है। ये दर्शकों को प्रचुर कुछ हास्य सामग्री भी देते हैं। यह प्रासंगिक कथा केवल हास्य एवं खानों की भीरुता दिखाने के लिए ही लिखी गई है, मुख्य कथा से इसका कोई सुदृढ़ सम्बन्ध नहीं है।

पाँचवाँ दृश्य—देवीसिंह को 'पागल' देखे समर मसान का मोह सताता है। इस अवसर का लाभ उठाकर मुसलमान देवीसिंह को मारकर राजा सूर्यदेव को पकड़कर ले जाते हैं।

छठा दृश्य—राजा सूर्यदेव के पकड़े जाने पर अमीर की सेना में खुशी का 'जश्न' मनाया जाता है और सब खुदा का शुक्रिया अदा करते हैं।

सातवाँ दृश्य—राजा सूर्यदेव लोहे के पिंजरे में मूर्छित पड़े हैं। एक देवता आकर गाता है कि अब भारत के उद्धार की कोई आशा नहीं है क्योंकि हिन्दुओं में परस्पर कलह है, स्वदेश से प्यार नहीं है अपितु ये कर्तव्य विमुख एवं प्रमादी हो गए हैं। गीत की समाप्ति पर उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप सूर्यदेव कहता है कि हाय, क्या मेरे भारत की दुर्दशा होगी, और यह विपन्नावस्था को प्राप्त होगा। वह पुन मूर्च्छित होता है।

यह दृश्य सूचनात्मक है और नाटकीय गति में विशेष योगदान नहीं करता किन्तु नाटकीय प्रभाव को बढ़ाता है। जेल का दृश्य, देवता का आकर गाना तथा राष्ट्रीयता के भावों का प्रकाशन इस दृश्य में दर्शकों को प्रभावित करता है। नाटककार ने भारतीय वीरों की पृष्ठभूमि में सम्पन्न राष्ट्रीय गीत तथा कविताएँ कई नाटकों में रखी हैं। भारत दुर्दशा में मूर्च्छित भारत के पास खड़ा हो भारत-भाग्य अंतिम दृश्य में इसी प्रकार गाता है तथा कवितामय कथन करता है।

इस सातवें दृश्य में ऐतिहासिक नाटक में पौराणिकता का समावेश अवश्य हो गया है। नाटककार की दृष्टि से यह दृश्य अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि देवता के रूप में नाटककार स्वयं प्रकट होकर अपने हृदय के उद्गार व्यक्त करता है। एक प्रश्न उठता है। राजा मूर्च्छावस्था में देवता के गीत को कैसे सुन लेता है? उत्तर स्पष्ट है—गायक देवता है अतः सब कुछ सम्भव है। देवता की वाणी सुनी जा सकती है। इसीलिए मूर्च्छित राजा भी उसके गीत को सुन लेता है।

वास्तविकता तो यह है कि देवता के रूप में राजा सूर्यदेव का तर्क ही मूर्तिमान हो गया है। इस दृश्य मे देवता की अवतारणा हृदय के संघर्ष के प्रदर्शन हेतु ही हुई है। बुद्धि की ही यह अभिव्यक्ति है कि अब भारत के उद्धार की आशा नही है। फलतः हृदय में संघर्ष उठ खड़ा हुआ है। यदि कही नाटककार ने आगे इसे राजा या रानी को सहायक पात्र सिद्ध कर दिया होता तो नाटकीय सौन्दर्य बढ गया होता किन्तु तब नाटककार की दैवी भावना संतुष्ट न होती।

आठवाँ दृश्य—दो राजपूत, वेश बदलकर यवन-शिविर मे घूमते हैं, एक पागल के वेश में है और दूसरा मियाँ के वेश मे। यह दृश्य अत्यन्त विनोद-पूर्ण एव 'नाटकीय' है। पागल सूचना देता है कि राजा से मुसलमानों ने कहा कि तुम मुसलमान बन जाओ। इस बात को सुनते ही महाराज ने अमीर के मुँह पर थूक दिया और पिंजरे का एक दण्ड उखाड़ कर शिविर के बाहर स्थित २७ यवनो को मार डाला तथा स्वयं भी मारे गये। वह यह भी सूचित करता है कि कल विजय के उपलक्ष्य में अमीर 'जशन' मनायेगा। कल ही समय है कि महाराज का शव यवनों से छीना जाय।

नवाँ दृश्य—नील देवी, महाराज का मरण सुनकर अत्यन्त दुःखी है। कुमार सोमदेव युद्ध के लिए राजपूतो को लेकर युद्ध-भूमि जाने को उद्यत होते हैं, तब नील देवी रोकती है और कहती है इस अधर्म युद्ध में हम सच्चाई से लड़कर पार न पा सकेंगे। देखो, मैं कूटनीति से अमीर का प्राण लूँगी। वह कुमार के कान मे अपनी तदबीर बताती है कि मैं नर्तकी बनकर अमीर के पास जाऊँगी और उसे मारूँगी।

दसवाँ दृश्य—राजा सूर्यदेव के मरने की खुशी मे 'जशन' हो रहा है। रानी नील देवी नर्तकी वेश मे आकर गाती है। अमीर प्रसन्न होकर शराब अधिक पीने लगता है और मस्त होकर नील देवी को भी शराब पिलाना चाहता है। वह रानी के निकट आ जाता है तभी अपनी कटार निकालकर रानी उसका सिर उड़ा देती है। रानी के सैनिक जो साजिंदे के रूप मे रानी के साथ आये है, शराब पिये मुसलमानो पर टूट पडते है। उसी समय कुमार सोमदेव सेना के साथ आकर, मुसलमानो को बन्दी बना लेते हैं। शव लेकर रानी सती हो जाती है। यह स्पष्ट रूप से नही लिखा गया है किन्तु व्यंजित है, क्योंकि इसके पूर्व ही रानी कह चुकी है कि मैं शव पाकर सती हो जाऊँगी।

वस्तु विधान

इस नाटक मे, अंग्रेज़ी नाट्यशास्त्रानुमोदित कथानक के छः अंग प्राप्त होते हैं—(१) व्याख्या—पहले दृश्य में अप्सराएँ सूचना देती हैं कि वीर क्षत्राणियाँ कैसी होती हैं, और वे यह भी बताती हैं कि जगत में इन सतियों का

प्रेम ही सब कुछ है। (२) प्रारम्भ—(दृश्य २) संघर्ष का आरम्भ। अमीर, सूर्यदेव को धोखे से पकड़ने के विषय में सलाह कर रहा है। (३) प्रगति—(दृश्य ३-४) सूर्य देव यवनों की कूटनीति नही अपनाता है। (४) चरमसीमा (दृश्य ५) सूर्यदेव पकडा जाता है। (५) निर्गति—(दृश्य ६-७, ६) सूर्यदेव के शव की प्राप्ति का प्रयास होता है। (६) अन्त—(दृश्य १०) रानी नर्तकी-वेश मे अमीर को मारती है एव सती होती है।

कथानक सघर्ष-प्रधान है और आरम्भ से अन्त तक संघर्ष चलता है। सातवें दृश्य में देवता के जाने के बाद सूर्यदेव का चरित्र भी आन्तरिक संघर्ष से पूर्ण दिखाया गया है। वह कहता है—'इस मरते हुए शरीर पर इसने अमृत और विष एक साथ क्यों बरसाया ?' उसे ध्यान आता है कि क्या अब भारत पराधीन हो जायेगा ? क्या क्षत्रिय भी कुछ न कर सकेंगे ? यहाँ अन्त.संघर्ष की झलक मात्र मिलती है। भारत दुर्दशा एवं भारत जननी मे, यवन-हिन्दुओ के सम्बन्ध मे जो परोक्ष सकेत थे, वे यहाँ प्रत्यक्ष रूप मे वर्तमान है।

नाटक दु:खान्त है। नायक की मृत्यु हो जाती है और नील देवी सती हो जाती है। नाटक के दु खान्त होने का कारण है नायक की यह दुर्बलता कि वह पत्थर का जवाब पत्थर से न देकर कमल से देता है। काव्य न्याय से प्रतिनायक के चरित्रो पर ध्यान सदा केन्द्रित है। काल, स्थान तथा कार्य की अन्वितियाँ नाटक मे गु फित है। सम्पूर्ण कार्य युद्ध-भूमि में आमने-सामने के युद्ध-शिविरों मे सम्पन्न होता है। कार्य भी एक ही है जो शृंखलित रूप से अन्त तक गतिमान है। आठवें दृश्य तक का सम्पूर्ण कार्य रात्रि मे आयोजित है। दूसरे-तीसरे तथा चौथे दृश्य मे रात्रि का प्रथम प्रहर आसीन है तो पाँचवें तथा छठे दृश्यो मे रात्रि का द्वितीय प्रहर प्रतिष्ठित है। सातवें तथा आठवें दृश्य में रात्रि का अन्त दिखलाई पड़ता है। नवाँ तथा दसवाँ दृश्य, दूसरे दिन मध्याह्न तक समाप्त हो जाते है।

पात्र

नायिका नील देवी—नाटक मे नायिका नील देवी का चरित्र प्रधान है। नील देवी के परमोज्ज्वल चरित्र को हिन्दुओ के समक्ष रखने के हेतु ही 'नील देवी' नाटक का प्रणयन किया गया है। इसकी भूमिका ही इस तथ्य की घोषणा करती है।

नील देवी कर्तव्यपरायण एवं कूटनीति सम्पन्न व्यक्तित्व की राजमहिषी है। वह कोरी वीरता को श्रेयस्कर नही समझती। उसका दृष्टिकोण है—'वीरता के साथ-साथ क्षत्रियो मे नीति-निपुणता भी होनी चाहिए।' जब राजपूत कहता है—'धर्म-युद्ध मे तो हमको जीतने वाला पृथ्वी पर कोई नहीं है' तो नील देवी कहती है 'पर सुना है कि ये दुष्ट अधर्म से बहुत लडते है।'

नील देवी का स्पष्ट कथन है कि आप लोगों का धर्म इनके अधर्म के सामने क्या करेगा ? इस पर उसके पति महाराज सूर्यदेव का कथन है—"हे प्यारी ! ये अधर्म से लड़े हम तो अधर्म नहीं कर सकते । हम आर्य वंशी लोग धर्म छोड़ कर लड़ना क्या जानें । यहाँ तो सामने लड़ना जानते हैं एवं जब अन्य सभी राजपूत राजा का समर्थन करते हैं तो नीलदेवी पुनः चेतावनी-स्वरूप उन्हें सावधान ही करती है 'तो भी इन दुष्टों से सदा सावधान ही रहना चाहिये ।'

रानी की बात अनसुनी कर दी गई । रात को धोखे से अमीर आक्रमण कर सूर्यदेव को पकड़कर ले जाता है और वहाँ वे मारे जाते है । अब पुन राजपूतों ने अपना पुराना राग अपनाया । राजकुमार सोमदेव एवं अन्य राजपूत धर्म-युद्ध के लिए तत्पर हो जाते है, वे मैदान में अपना जौहर दिखाने को उत्सुक एवं कटिबद्ध है । निश्चय ही यदि कुमार सोमदेव, पिता के सदृश हठवादिता में पड़कर धर्म-युद्ध करने जाते तो मारे जाते । नीलदेवी ने समझाया—कुमार, तुम अच्छी तरह जानते हो कि यवन-सेना कितनी असंख्य है और यह भी भली भाँति जानते हो कि जिस दिन महाराज पकड़े गए, उसी दिन बहुत से राजपूत निराश होकर अपने-अपने घर चले गए । इसी से मेरी बुद्धि में यह बात आती है कि इनसे एक ही बेर सम्मुख युद्ध न करके कौशल से लड़ाई करना अच्छी बात है ।" कुमार सोमदेव अब भी धर्म-युद्ध पर टिका था । तब उसने माता के पद का उपयोग किया एवं कान में समझाया कि मैं अमीर को अकेली मार लूंगी ।

रानी ने एक नर्तकी का वेश बनाया । वह दरबार में गई । अमीर उसे देखकर कहता है यह तवायफ तो बहुत खूबसूरत है । वह विरह-विदग्ध गाना गाती है । अमीर प्रसन्न होकर मद्यपान करता है और एक शृंगारिक गीत गाने को कहता है । रानी शृंगारिक गीत गाती है । मद्यपी अमीर रीझकर कहता है—"कसम खुदा की ऐसा गाना मैंने आज तक नहीं सुना था ।" वह एक और गीत गाने की आज्ञा देता है । रानी गाती है । मद्यप का मद तीव्रतर होता है और वह शराब का गिलास उठाकर कहता है—"लो पीओ ।" रानी इन्कार करती है । मद्यप अमीर कहता है—"अच्छा हमारे पास आओ । हम तुमको अपने हाथ से शराब पिलावेंगे ।" गायिका अमीर के बिल्कुल पास बैठ जाती है । अमीर कहता है, "लो जान साहब !" और प्याला बढ़ाता है तब तक नीलदेवी अपनी चोली से कटार निकालकर अमीर को मार देती है और कहती है—"ले चाण्डाल पापी ! मुझको जान साहब कहने का फल ले । तदनन्तर वह सती हो जाती है ।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि रानी नीलदेवी बड़ी सुन्दरी थी एवं अच्छी गायिका भी थी । वह साहसी और वीरांगना थी । सर्वोपरि तथ्य यह है कि वह नीति-कुशल थी और काँटे को काँटे से निकालना जानती थी ।

नील देवी /

नायक राजा सूर्यदेव—नाटककार ने राजा सूर्यदेव को क्षत्रिय परम्परा के वाहक राजा के रूप में चित्रित किया है। क्षत्रिय परम्परानुकूल उसे अत्यन्त शूर, साहसी, दृढ़प्रतिज्ञ, कूटनीति विहीन सत्यमार्गी चित्रित किया है। राजा सूर्यदेव बड़ा ही विकट योद्धा है। वह युद्ध में 'यम' के समान कूदता है। उसने मुसलमानों के छक्के छुड़ा दिये और उन्हें छठी के दूध की याद दिला दी। अमीर अब्दुश्शरीफ खाँ कहता है, "काजी साहब ! मैं आप से क्या बयान करूँ। वल्ला ही सूरजदेव एक ही बदबला है। इखतसरन पंजाब में ऐसा बहादुर दूसरा नहीं है।" शत्रु भी सूर्यदेव की वीरता एवं उसके साहस का लोहा मानते हैं। एक सैनिक कहता है "उसके खौफ से अपने खेमे में रहकर भी खाना-सोना हराम हो रहा है।" शरीफ भी इतना चिंतित और त्रस्त है कि उसकी खुराक आधी रह गयी है। वह कहता है—"कसम है कलामे शरीफ की, मेरी खुराक आगे से इस तफक्कुर में आधी हो गई है।"

शरीफ उसकी तलवार को कयामत या बिजली से अधिक खतरनाक समझता हुआ कहता है—

> इस राजपूत से रहो हुशियार खबरदार
> गफलत न जरा भी हो खबरदार-खबरदार।
> अजदर है, भभूका है, जहन्नुम है बला है।
> बिजली है गजब है इसकी है तलवार खबरदार ॥

सूर्यदेव के शौर्य का दूसरा पुष्ट प्रमाण यह है कि वह पिंजरे को तोड़कर पिंजरे-डंडे से सत्ताइस मुसलमानों को मार डालता है, काजी वीरता एवं साहस के साथ उसके त्याग एवं उसकी सहन शक्ति की प्रशंसा करता हुआ कहता है—सुना गया है कि वह हमेशा खेमों ही में रहता है। आसमान शामियाना और जमीन ही उसे फर्श है। सूर्यदेव स्वयं अपने राजपूतों से कहता है—

> "कसे रहैं कटि रात दिवस सब बीर हमारे।
> अस्व पीठ सो होहि चारजा में जिनि न्यारे ॥"

वह धर्म पर न्योछावर होने वाला धर्मपालक राजा है, जब मुसलमान सरदार पिंजरे में बन्द देखकर उससे कहते हैं—मुसलमान बन जाओ तो वह पिंजरे में बन्दी होने पर भी सरदार के मुँह पर थूक देता है। हिन्दू धर्म के ही रक्षार्थ वह मार भी डाला गया परन्तु उसने धर्म को त्यागा नहीं। भारतीय राजपूत एवं राजकुमार इस प्रकार की धर्मप्रियता के लिए भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

वीर, साहसी, त्यागी, सहनशील एवं धार्मिक होते हुए भी उसका दुःखद अंत हुआ। वह पिंजरे में बन्द हुआ और मुसलमानों के हाथों मारा गया। इसका कारण क्या था? इसका कारण स्पष्ट ही है कि राजपूत कूटनीति एवं युद्ध-व्यूह के मामलों में मुसलमानों की समता न कर पाए। राजपूत यह नहीं

समझते थे कि आततायियों का येन-केन-प्रकारेण विनाश करना ही धर्म है। युद्ध-स्थल में उनका एकमात्र अस्त्र तलवार रहती थी। वे बुद्धि-कौशल से रण-विजय की नीति को अधर्म युद्ध मानते थे। इसी नीति के फलस्वरूप राजा सूर्यदेव बन्दी हुए, उनकी हत्या हुई एवं नाटक भी दुःखान्त बना।

प्रतिनायक अब्दुश्शरीफ खाँ सूर—अमीर भी वीर था परन्तु सूर्यदेव के मुकाबिले का नहीं परन्तु कूटनीति में उसकी अपेक्षा अधिक कुशल एवं चतुर था। वह प्रत्येक रात्रि को व्यक्तिगत रूप से रक्षा-प्रबन्ध का कार्य स्वयं देखता था। वह अब्दुस्समद से कहता है, "होशियारी से रहना"। मलिक मज्जाद से कहता है, "सब के पहरों का इन्तिज़ाम अपने जिम्मे रक्खो, ऐसा न हो कि सूरजदेव शबखून मारे।" यद्यपि वह जानता है कि राजपूत रात में धावा नहीं मारते तब भी अपने तथा अपनी सेना के संरक्षण के हेतु रात्रि में पूरा प्रबन्ध रखता है।

दूसरी ओर राजा सूर्यदेव इसी में फूला समाया है कि हम धर्म-युद्ध कर रहे हैं, मर गए तो स्वर्ग मिलेगा। उसका एकमात्र अकेला पहरेदार देवीसिंह भी पुत्र-कलत्र के ही चिन्तन में डूबा है। जब तक यवन-सैनिक राजा के तम्बू में नहीं पहुँच जाते हैं तब तक उसकी चिन्तन-समाधि नहीं टूटती। साथ ही न तो अन्य किसी सैनिक ही को पता चला कि क्या घटना घटित हो गई है? इसके ठीक विपरीत अमीर अपनी नीतिकुशलता का गुण प्रकट करता है जब कहता है—"कभी उस बेईमानी के सामने लड़कर फतह नहीं मिलती है। मैंने अब जी में ठान ली है कि मौका पाकर एक शब उसको गिरफ्तार कर लाना।" उसने ऐसा ही किया भी और सूर्यदेव को बन्दी बना लिया।

वह क्रूर था, तभी तो राजा सूर्यदेव को पिंजरे में बन्द करता है और बँधे शेर से कहता है कि मुसलमान बन जा। यह यवन अमीर बड़ा ही विलासी था। मद्य और विलासी का चोली-दामन का सम्बन्ध होता है। फलतः रानी को अपने कौशल-प्रदर्शन का अवसर मिला। रानी की सुन्दरता पर वह लट्टू हो जाता है और उसे देखते ही कहता है—"(आप ही आप) यह तायफा तो बहुत ही खूबसूरत है।" सुन्दरी का गाना सुनकर वह शराब पीता है और उसे भी पिलाना चाहता है। रानी से कहता है "थोड़ा और आगे बढ़ आओ।" जब रानी आगे बढ़ आती है तो उसे खूब घूरता है और कहता है —(स्वगत) "हाय हाय! इसको देखकर मेरा दिल बिलकुल हाथ से जाता रहा, जिस तरह हो, आज ही इसको काबू में लाना जरूर है।" पुनः गाना सुनकर शराब पीता है और बेइख्तियार होकर शराब पीने के लिए गायिका को अपने सिर की कसम देता है, तथा कहता है "अच्छा, हमारे पास आओ हम तुमको अपने हाथ से शराब पिलावेंगे।" शराब का प्याला आगे बढ़ाता हुआ कहता है, "लो जान साहबा।" बस रानी ने चोली में से कटार निकालकर अमीर को मार डाला। अमीर की विलासिता ही ने उसकी जान ली।

संवाद-भाषा

पात्रों में संवाद तथा भाषा पात्र एवं परिस्थिति के अनुसार हैं। मुसलमान पात्र उर्दू भाषा का प्रयोग करते हैं। हिन्दू पात्र हिन्दी भाषा बोलते हैं। अमीर और पीकदान की एवं चपरगट्टू की उर्दू में भी अन्तर है। अमीर की उर्दू परिष्कृत है जबकि पीकदान तथा चपरगट्टू अपने स्तर के अनुकूल साधारण कोटि की उर्दू का प्रयोग करते है। उदाहरणार्थ निम्न प्रसंग द्रष्टव्य है—

अमीर—"अलहम दुलिल्लाह। इस कमबख्त काफिर को तो किसी तरह गिरफ्तार किया। अब बाकी फौज भी गिरफ्तार हो जायगी।"

पीकदान अली—"जरूर-जरूर जान छल्ला। यह कौन बात है। तुम्हारे ही वास्ते तो जी पर खेल कर यहाँ उतरे हैं। (चपरगट्टू से कान मे) यह सुनिये जान झोके हम, माल चाभे बी भठियारी। यह नही जानती कि यहाँ इनकी ऐसी हजारो चराकर छोड दी है।"

पागल एव मुसलमान बने राजपूत के कथोपकथन एव उनकी भाषा भी पात्र एव परिस्थितिजन्य है। भारतेन्दुजी कथोपकथन मे पात्र की वास्तविकता एव भाषा की यथार्थता खूब भरते हैं।

रस

इस नाटक मे वीर रस प्रधान है। इस रस के सहायक है हास्य, शृंगार एव करुण। चपरगट्टू एव पीकदान अली वाले सराय के दृश्य मे हास्य का अच्छा पुट है। उदाहरण—

चपरगट्टू—"मैंने कहा, जान थोडे भारी पड़ी है। यहाँ तो सदा भागतो के आगे, मरतो के पीछे। जबान की तेग कहिए दस हजार हाथ झारूँ।"

चपरगट्टू—हो जो किसकी मुसलमानी और किसका कुफ्र। यहाँ तो अपने मॉडे-हलुए से काम है।

पीकदान—"जरूर-जरूर जान छल्ला।"

चपरगट्टू—"(धीरे मे) अजी कहने दो, कहने से कुछ दिए ही थोडे देते हैं। भठियारी हो चाहे रडी आज तक किसी को कुछ दिया नही है, उलटा इन्ही लोगों का खा गए हैं।"

(दोनों गाते है)

"कपडा किसी का खाना कही सोना किसी जॉं।
गैरो ही मे है सारा सरजाम हमारा।।"

पागल के प्रलाप मे हास्य है, किन्तु वहाँ व्यग्य भी मिश्रित है। स्वय एक बार भारतेन्दुजी ने पागल का अभिनय किया था। लोग उस अभिनय मे प्रभावित हुए थे। हँसते-हँसते सभी दर्शक लोट-पोट हो गए थे।

करुण रस का पुट हमें मियाँ के गीत में प्राप्त हो जाता है। "कहाँ करुना निधि केसव सोये" बड़ा ही करुणोत्पादक गीत है। रानी के गीतों में भी करुणा की झाँकी प्राप्य है। वीर रस तो आदि से अन्त तक अनुस्यूत है। तीसरे एवं नवें दृश्य में यह विशदता से अंकित है। दोनों में राजा, राजकुमार तथा राजपूतों के अदम्य उत्साह का चित्रण है। "चलहु वीर उठि तुरत सबै जयध्वजहि उड़ाओ" गीत वीर-भावों से स्पन्दित प्रयाण गीत है जो मृत में भी जीवन और जीवटता भरनेवाला है। नर्तकी बनकर जब रानी गाती है तब नाटककार ने बड़ी-बड़ी कुशलता से शृंगार का थोड़ा-सा सुन्दर चित्रण किया है जो शृंगाराभास है क्योंकि उससे दर्शकों में शृंगार भाव उत्पन्न नहीं होते हैं और यही नाटककार का उद्देश्य है। वह शृंगार का चित्रण नहीं कर रहा है, उसका प्रदर्शन मात्र करा रहा है। अमीर अवश्य शृंगार कथन करता है तथा चेष्टाएँ करता है किन्तु वे एकांगी हैं।

देशकाल

भारतेन्दुजी ने अपनी हिन्दू राष्ट्रीयता का परिचय इस गीति-रूपक में प्रचुर रूप में दिया है। भारतेन्दुजी यवन आक्रांताओं के प्रति अपने भाव स्थान-स्थान पर पात्रों के मुख से रखते हैं—

सिपाही—देखें कब इन दुष्टों का मुँह काला होता है। (पाँचवाँ दृश्य)

पागल—काट काट काट—ले ले ले—ईबी, सीबी—तुरक तुरक तुरक... मार मार मार और मार दे मार—जाय न जाय—दुष्ट चांडाल गोभक्षी जवन ......लेना जाने न पावें।

मियाँ—'दुष्ट जवन बरबर तुव संतति घास साग सम काटें।'

दूसरा राजपूत—इन दुष्ट चाण्डाल यवनों के रुधिर से हम जब तक अपने पितरों का तर्पण न कर लेंगे, हम कुमार की शपथ करके प्रतिज्ञा करते हैं कि हम पितृऋण से कभी उऋण न होंगे।

तीसरा राजपूत—हमारी यह प्रतिज्ञा दुष्ट यवनों के हृदय पर लिखी रहेगी। धिक्कार है उस क्षत्रियाधम को जो इन चांडालों के मूल नाश में न प्रवृत्त हो।

चौथा राजपूत—लक्ष बार कोटि बार धिक्कार है उसको जो इन चांडालों के दमन करने में तृणमात्र भी त्रुटि करें। (बायाँ पैर आगे बढ़ाकर) म्लेच्छ कुल के और उसके पक्षपातियों के सिर पर मेरा बायाँ पैर है, जो शरीर के हजार टुकड़े होने तब ध्रुव की भाँति निश्चल है, जिस पामर को कुछ भी सामर्थ्य हो हटावे।

सोमदेव—"तो ये कितने नीच कहा इनको बल भारी।
इन दुष्टन सों पाप किये हैं पुण्य सदा ही।"

इसका कारण है कि ये यवन, हिन्दू धर्म के विरोधी थे, हिन्दू ललनाओं पर कुदृष्टि डालते थे एवं हिन्दू मंदिरों को विध्वंस करते थे। इसका पुष्ट प्रमाण अमीर के कार्य से मिलता है। उसने धोखे से रात्रि में राजा सूर्यदेव को बंदी बना लिया। उन्हें पिंजरे में बंद कर दिया। फिर उन दुष्ट यवनों ने महाराज से कहा कि तुम जो मुसलमान हो जाओ तो हम तुमको अब भी छोड दें। भला महाराज सूर्यदेव इन दुष्टों का यह प्रस्ताव कब मानने वाले थे? महाराज ने लोहे के पिंजरे में से उसके मुँह पर थूक दिया, और क्रोध करके कहा कि 'दुष्ट! हमको पिंजरे मे बद और परवश जान ऐसी बात कहता है। क्षत्री कही प्राण के भय से दीनता स्वीकार करते हैं। तुझ पर थू और तेरे मत पर थू।' इस पर यवन बहुत बिगडे। चारो ओर से पिंजरे के भीतर शस्त्र फेंकने लगे। महाराज ने कहा इस बंधन मे मरना अच्छा नहीं। बडे बल से लोहे के पिंजरे का डडा खीचकर उखाड लिया और पिंजरे के बाहर निकलकर उसी डंडे से सत्ताईस यवनो को मार डाला तथा स्वय भी लडते-लडते वीरगति को प्राप्त हुए। महाराज धर्म की वेदी पर बलि हो गए। इस प्रकार राजा सूर्यदेव के चरित्र के माध्यम से मुसलमानों का हिन्दू-धर्म विरोधी रूप प्रकट किया गया है।

महारानी की सुन्दरता देखकर अमीर कहता है 'हाय हाय! इसको देखकर मेरा दिल बिलकुल हाथ से जाता रहा। जिस तरह हो इसको काबू मे लाना जरूर है।' हिन्दुओ के प्रति यवन-दुराचार की तो यह बडी साधारण सी घटना है।

यवन घास-पात के समान सहस्रों हिन्दुओ को काट रहे थे। हिन्दुओ की कुल-वधुएँ विधवा बनकर विलाप कर रही थी। दुष्ट यवन उन्हे पकड़कर दासियाँ बना रहे थे।[1] ये यवन ब्राह्मण एवं वेदो के नाश मे लीन थे, और गौओं का वध एव भक्षण कर रहे थे।[2] भारत की स्थिति दिनो-दिन हीन होती गयी और वह सब तरह से पतित हो गया। नाटककार सोमदेव के द्वारा आर्यों या हिन्दुओ को जाग्रत करने के निमित्त एक उन्मेषकारी गीत गवाता है:—

> 'जौ आरजगन एक होइ निज रूप सम्हारैं।
> तजि गृह कलह आपनी कुल मरजाद विचारैं॥
> तौ ये कितने नीच कहा इनको बल भारी।
> सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी॥

१. 'दुष्ट जवन बरबर तुव संतति घास साग सम काटैं।
एक-एक दिन सहस सहस नर सीस काटि भुव पाटैं॥
ह्वै अनाथ आरज कुल विधवा विलपहिं दीन दुखारी।
बल करि दासी तिनहिं बनावहिं तुम नहिं लजत खरारी॥'

२. गोभच्छन द्विज श्रुति हिंसन नित जासु कर्म मैं।

पद रज इन कहँ दलहु कीट त्रिन सरिस जवन चय।
तनि कहु संक न करहु धर्म जित जयतित निश्चय ॥

इससे प्रतिभासित होता है कि भारतेन्दु-युग में भी मुसलमान हिन्दुओं को सता रहे थे। स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक उपद्रव करके हिन्दुओं को मार रहे थे।[1] नाटककार तुलनात्मक रूप से प्राचीन भारत का गुण-गान करता है— जब हिन्दुओं की दशा उत्कर्ष पर थी।[2]

यवनों के कारण भारत की अत्यन्त दुःखद दशा हुई। हिन्दुओं पर मूर्खता ने आधिपत्य जमा लिया था। उनके हृदय से संगठन-भावना तथा आपसी प्रेम दूर हो गया था और इनका स्थान अंधविश्वास एवं आलस्य ने ले लिया था। फलतः वे भूत-पिशाचों को पूजने लगे और घोर भाग्यवादी बन गये। बस दास बनकर ही संतुष्ट होने लगे। परिणामस्वरूप अपनी वस्तु पराई हो गयी और अपने आचार-व्यवहार, रहन-सहन को त्याग विदेशी रंग में रँग गये। विदेशियों की स्वार्थ-साधना हेतु परस्पर संघर्ष रत रहने लगे।[3]

दुर्लभ बंधु (१८८०)

मर्चेंट ऑफ वेनिस, महाकवि शेक्सपियर का परम प्रसिद्ध नाटक है। भारतेन्दुजी ने इसी नाटक का अनुवाद 'दुर्लभ बंधु' नाम से किया। भारतेन्दुजी ने इसमें व्यक्तियों एवं नगरों के नामों का हिन्दीकरण किया है। कुछ सूची इस प्रकार है—मर्चेण्ट ऑफ वेनिस : दुर्लभ बन्धु।

पुरुष-पात्र—एन्टोनियो : अनन्त; सैलेरियो : सरल; सोलेनियो : सलोने; बैसेनियो : बसंत; लौरेंजो : लवंग; ग्रेशियनो : गिरीश; शाइलाक : शैलाक्ष; गोबो : गोप; लियोनार्डो : लोरी।

स्त्री पात्र—पोर्शिया : पुरश्री; नेरिसा : नरश्री; जेसिका : जसोदा।

स्थान—वेनिस : वंशपुर, बेलमोंट : बिल्वमठ; मोरक्को : मोरकुटी।

अंग्रेजी नामों का उच्चारण के अनुसार हिन्दीकरण नहीं किया वरन् कहीं-कहीं पूर्णतया नामों को बदल दिया है। पैलेटाइन ने नैपाल का रूप ले लिया है तो स्काटलैंड ने अंग देश का। भारतेन्दुजी की इस शैली को उस युग के कुछ अन्य नाटककारों ने भी अपनाया। प० मथुराप्रसाद शर्मा ने मैकबेथ के अनुवाद 'साहसेन्द्र साहस' में भारतेन्दुजी की इसी शैली को अपनाया। शर्माजी ने

१. भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य—डा० गोपीनाथ तिवारी, प्र० सं०, पृ० ३६६
२. मियाँ का गाना, दृश्य ८
३. देवता का गीत, दृश्य ७

डॉन का नाम गोविन्द सेन रखा है तो जैसेय का सारंगेन्द्र । महाकवि शेक्सपियर ने अपने नाटक में ब्लैंक वर्स (अतुकान्त पद्य) का प्रयोग बहुत किया है । भारतेन्दु जी ने गद्य को अपेक्षित प्रधानता दी है, पद्य तो कहीं-कहीं दर्शन देता है । ऐसा करना भारतेन्दु जी की रुचि-प्रवृत्ति के विरुद्ध था । ऐसा लगता है कि भारतेन्दुजी ने इस अनूदित नाटक में पद्यानुरूप अंश को सम्भवतः आरम्भिक एक-दो दृश्यों को ही, रखा था । उनके संस्कृत और प्राकृत से अनूदित रत्नावली, पाखण्ड विडम्बन, मुद्राराक्षस, कर्पूर मंजरी आदि में कविता का अंश, मूल से कम नहीं है वरन् अधिक ही है । यदि भारतेन्दुजी ने इस नाटक का अनुवाद पूर्ण किया होता तो यह सम्भव ही न था कि उसमें काव्यांश मुखर न होता । हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन चन्द्रिका में दुर्लभ बन्धु का प्रथम दृश्य ही प्रकाशित हुआ था जिसके विषय में इतना ही लिखा गया था, "निज बन्धु, बा० बालेश्वर प्रसाद जी बी० ए० की सहायता से और बंगला पुस्तक सुरलता की छाया से हरिश्चन्द्र ने लिखा है ।" भारतेन्दुजी के इस अपूर्ण नाटक को प० रामशंकर जी ने पूरा किया था । यदि भारतेन्दु जी ने इस नाटक को रुचिपूर्वक पूर्ण किया होता तो नाटक में काव्यांश बहुत अधिक आया होता । सम्प्रति सम्पूर्ण नाटक में केवल सात कविताएँ तथा एक गीत प्राप्त है । इनमें से ५ कविताएँ तथा एक गीत मंजूषा-स्वयंवर के तीन दृश्यों (२-७, २-९ तथा ३-२) में अंकित हैं । स्वर्ण, रजत तथा शीशे की मंजूषाओं में से तीन कविताएँ प्राप्त होती हैं तथा दो कविताएँ तथा एक गीत पुरश्री एवं वसंत द्वारा प्रयुक्त हैं (३-२) । जसोदा, पिता के जाने पर उर्दू का एक शेर पढ़ती है—

> गर बर आई आर्जू मेरी तो रमसत आपको,
> आपने बेटी को खोया और मैंने बाप को ।

नाटकांत में गिरीश एक कविता पढ़ता है—

> है जब तक मेरे दम में दम, डरूँगा हर घड़ी हर दम,
> रहेगा रात दिन खटका, नरश्री की अँगूठी का ।

कविताओं में शेक्सपियर की थोड़ी सी भी सरसता और सजीवता नहीं आ पाई है । वरन् कहीं-कहीं तो अनूदित कविता ने मूल को मटियामेट कर दिया है । मूल में प्रेम सम्बधी एक गीत है जो अत्यन्त सरस, काव्यात्मक और मार्मिक है । वह है—

> Tell me where is fancy bred,
> Or in the heart or in the head ?
> How begot, how nourished ?

ALL : Reply Reply,

It is engender'd in the eyes,
With gazing fed, and fancy dies
In the cradle where it lies
Let us all ring fancy's knell,
I'll begin it—Ding, dong, bell

(III—ii)

इसका अनुवाद है—

अहो यह भ्रम उपजत कित आय ।
जिय मैं कै सिर मैं जनमत है बढत कहाँ सुख पाय ।
ताको यह उत्तर जिय उपजत बढत दृष्टि मैं धाय,
पै यह अति अचरज कै जित यह जनमत तितहि नमाय,
देखि ऊपरी चमक चतुरहू जद्यपि जात भुलाय,
पै जब जानत अथिर ताहि तब निज भ्रम पर पछिताय
तासों टनन्टन बजै कहो अब घटा हू घहराय

फैन्सी को भ्रम मानकर सारे भाव को चौपट कर दिया है । अनुवाद से मूल का आभास तक नही हो पाता है ।

मूल नाटक मर्चेन्ट ग्राफ वेनिस के दो दृश्य अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । इनमे से एक है, कचहरी का दृश्य । इस दृश्य मे पोर्शिया की 'दया' (Mercy) सम्बन्धी लम्बी कविता अत्यन्त मार्मिक है और श्रोताओं को प्रभावित करती है । इसका गद्यात्मक अनुवाद निष्प्राण है । दुर्लभ बंधु की पुरश्री कहती है—दया ऐसी वस्तु नही जिसे आग्रह की आवश्यकता हो इत्यादि (४-१) । विश्वास नही होता है कि भारतेन्दुजी की लेखनी से यह प्रसूत है । इसी प्रकार अन्तिम दृश्य (५-१) का आरम्भिक अंश मुस्कराती चाँदनी मे रंगीले रोमांस की प्रेम क्रीडा प्रस्तुत करता है जिसे शेक्सपियर ने अपनी काव्य कल्पना से अमर बना दिया है । इसका गद्यात्मक नीरस अनुवाद भारतेन्दुजी की प्रेम भरी रगीन कल्पना का जरा सा भी परिचय नही देता है । इसीलिये अनुमान होता है कि अनूदित नाटक का अत्यन्त अल्प अश भारतेन्दुजी ने लिखा था, वह भी सशोधित न किया था ।

अनेक उद्धरणों तथा नामो के अनुवाद हास्यास्पद रूप मे दिखाई पड़ते हैं । मूल नाटक मे शाइलाक, यहूदी है । यहूदियों के प्रति मध्यकालीन ईसाई जगत की भावना शाइलाक के रूप में घनीभूत हो गई है । ये यहूदी वसकर सूद लेते थे, बड़े कृपण थे और हृदयहीन थे । दुर्लभबंधु मे शैलाक्ष, जैनी है । भारतवर्ष

मे जैनियों के प्रति हिन्दुओं मे वह भावना कभी भी व्याप्त न थी जो ईसाइयों मे यहूदियों के प्रति थी। जैसी भी अवमानना, व्यापारी मे और आज भी है। बस यही समानता है। मूल नाटक मे एन्टोनियो के व्यापारिक जहाज वेनिस से त्रिपोलिस (Tripolis), इंडीज़ (Indies), मेक्सिको (Mexico) तथा इगलैंड (England) को जाते है। अनुवाद मे अनन्त के जहाज़ भारत के नगर वसपुर से त्रिपुर, हिन्दुस्तान, मोक्षिक और अंग देश को जाते है। वसपुर तो हिन्दुस्तान का ही नगर है। फिर जहाज हिन्दुस्तान के लिये कहाँ को प्रस्थान करेगे ? इसी प्रकार इगलैंड का अनुवाद, "अग देश" के रूप मे हास्यास्पद ही है।

मूलनाटक मे शेक्सपियर ने यत्र-तत्र कुछ ख्यात व्यक्तियों, मनीषियों, ऐतिहासिक पुरुषों, कलाकारो और यूनानी महापुरुषो को तथा उनके वचनों को उद्धृत किया है। अनुवाद मे इनका भारतीयकरण हास्यास्पद ही बन गया है। कुछ उदाहरण—

(१) कचहरी दृश्य मे गिरीश, शैलाक्ष की भर्त्सना करता हुआ दुर्लभबन्धु (४-१) मे कहता है—

तेरे लक्षणों को देखकर मुझे गोरख के इस विचार को कि पशुओं की आत्मा मनुष्य के शरीर मे प्रवेश करती है, मानना पडा। गोरखनाथ जी का सम्पूर्ण साहित्य खोज डाला जाय पर यह उक्ति वहाँ उपलब्ध न होगी क्योंकि यह गोरखनाथ की है ही नही। मूल का पैथागोरस (Pythagoras) गोरक्ष बन जाता है। पैथागोरस मे से गोरस को उठाकर गोरक्ष रूप दे दिया गया है।

(२) वसत पुरश्री से कहता है "देखिए कितने ऐसे डरपोक मनुष्य जिनके चित्त बालू की भीत की भाँति निर्बल हैं, दाढ़ी और रूप रग मे मार्नासिह और विजयसेन को तुच्छ करते हैं (३-२)। ये मार्नासिह और विजय सेन कौन से ऐतिहासिक वीर हैं ? कही भी इनका उल्लेख वीरत्व के प्रसग मे प्राप्त नही होता है। मूल नाटक मे हरक्यूलीज़ और मार्स का वर्णन है। यूनानी वीर हरक्यूलीज और यूनानी युद्ध का देवता 'मार्स' अनुवाद मे मार्नासिह और विजयसेन का रूप धर लेते हैं। कारण कोई नही है ? न उच्चारण साम्य है और न भारत के वीरो मे इनकी प्रसिद्धि है। बस मन में आया और इन दो नामो को रख दिया गया। अच्छा होता यदि भीम और अर्जुन को स्थान दे दिया होता।

(३) मूल के रोमाटिक दृश्य (५-१) मे लौरेंजो (Lonergo) कहता है—

In such a night
Troilus methinks mounted the Troyan walls
And sigh'd his soul toward the Grecian tents,
Where cressid lay that night (V-I)

इस अंश का अनुवाद है—

लवग—मेरे जान ऐसी ही रात मे जब कि वायु इतना मंद चल रहा था कि वृक्षो के पत्तों का शब्द तक सुनाई न देता था, त्रिविक्रम दुर्ग की भीत पर चढ़कर कामिनी की राह तकता हुआ जो यवनपुर के खेमे में थी, हृदय मे ठडी साँसे निकाल रहा था (५-१)

'ट्रायलस' जो यूनानी वीर था, अनुवाद मे त्रिविक्रम बन गया है। त्रिविक्रम भगवान वामन का नाम है। निराश प्रेमी के रूप मे भगवान त्रिविक्रम की मिट्टी पलीद की गई है। थोड़ा सा उच्चारण साम्य है जिसके आधार पर ट्रायलस, त्रिविक्रम का रूप ले लेता है। साथ ही त्रिविक्रम, यवन (यूनानी अथवा मुसलमान) खेमे में सोई प्रिया के लिये ठंडी साँसें भरता है। भगवान् वामन को कितना गिरा दिया गया है।

(४) मूल नाटक की भाषा अत्यंत सशक्त, अलंकृत, सरस और काव्यात्मक है जो अनुवाद में नीरस और सामान्य बन गई है। मूल की भाषा आरंभ से अन्त तक समान है, अनुवाद मे भाषा बदली गई है। अनुवाद का नौकर कहता है—बबुइ साहब ! चारों आदमी आप से विदा होए कै ठाड होए औ पाँचवा का हरकारा आयल हो सो कहत हौ की मोरकुटी कै राजकुमार ओकर मालिक आज रानी के इहाँ पहुँची है (१-२)। न यह शुद्ध भोजपुरी है और न शुद्ध बैसवाड़ी वरन् खड़ीबोली, भोजपुरी और बैसवाड़ी का मिश्रित रूप है।

कथानक—

नाटक की कथा अत्यन्त शृंखलित, सुसम्बद्ध और सुगठित है। कथा शकट के चार पहिये हैं—(१) ऋण कथा (२) मंजूषा स्वयंवर कथा (३) कचहरी प्रसग और (४) अंगूठी प्रसंग। नाटककार ने अद्वितीय दक्षता से दो मित्रों की कथा को प्रेम कथा से ग्रथित किया है। अनंत अपने प्रिय मित्र वसंत को उसकी प्रेमिका तक पहुँचाने के लिये अपने घोर शत्रु से ऋण लेता है। वसंत भी मंजूषा चयन की परीक्षा मे सफल होकर पुरश्री से विवाह करता है, तभी सूचना आती है कि वसंत का मित्र, अनंत घोर संकट मे पड़ गया है। शैलाक्ष रुपयों के बदले उसका मास काटेगा। पुरश्री तुरन्त निर्णय लेती है और कचहरी दृश्य मे एक वकील के रूप में उपस्थित होकर अनंत के प्राणों की रक्षा अपनी बुद्धि से करती है। इस उपकार के बदले वह वसंत से उसकी विवाह अंगूठी माँग लेती है जो आगे के दृश्य का कारण बनती है। मुख्य कथा के साथ लवंग और जसोदा की प्रेम कथा सहायिका के रूप मे चलती है। नाटक का प्राण, संघर्ष है जो शैलाक्ष तथा अनत के बीच चलता है।

पश्चिमी नाट्य शास्त्रानुसार कथानक के पाँच अंग होते है। दुर्लभबन्धु मे वे इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

व्याख्या (ऐक्सपोजीशन)	प्रथम अंक का पहिला और दूसरा दृश्य
कार्यारंभ (इनसीडेंट)	प्रथम अंक का तीसरा दृश्य
कार्य प्रगति (राइजिंग ऐक्शन)	द्वितीय अंक तथा तृतीय अंक में
चरम सीमा (क्लाइमैक्स)	चतुर्थ अंक में पहिले दृश्य में कचहरी का दृश्य
निर्गति (डिनाउमेंट)	चतुर्थ अंक के पहिले दृश्य का अंत जहाँ वकील द्वारा बसंत से अंगूठी माँग ली जाती है तथा इसी अंक का दूसरा दृश्य
अंत (कैटेस्ट्राफी)	पंचम अंक का पहिला दृश्य

शेक्सपियर के सभी नाटकों में इस नाटक का कथानक अपनी अलग विशेषता रखता है जिसमें त्रास विस्तार पाता है किन्तु झटका देकर सुख सामने आ खड़ा होता है और नाटक की समाप्ति सुख और हर्ष में होती है। इसीलिये इस नाटक को त्रासमय सुखान्तकी (ट्रैजिक कॉमेडी) नाम दिया गया है।

नाटक समाप्त होने पर तीन पात्र अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं। ये हैं—अनंत, पुरश्री और शैलाक्ष। अनंत नायक हैं और शैलाक्ष, प्रतिनायक। पाठक या दर्शक की सहानुभूति बराबर नायक के साथ है जो महान, दृढ़ और आदर्श है। अनंत की आदर्श-मित्रता अतुल है। किन्तु महानता के साथ उसमें एक निर्बलता भी है, कि वह यहूदियों, विशेषत शैलाक्ष का शत्रु है। वह यहूदियों से घृणा करता है और शैलाक्ष को गालियाँ देता है। यही कारण है कि शैलाक्ष की प्रति हिंसा भीषण दावा के रूप में फूट पड़ती है। पुरश्री की बुद्धिमत्ता की सराहना नाटक के पात्रो द्वारा ही नही हुई है वरन् पाठक और दर्शक भी उस पर आदर *की कुसुमांजलि* चढ़ाता है। *तीनों ही पात्र हाड माँस के हमारे* जैसे मानव हैं और प्रत्येक मे अपना व्यक्तित्व भरा है।

प्रश्न होता है भारतेन्दु जी ने अनुवाद के लिये इसी नाटक को क्यों चुना था, यद्यपि वे अनुवाद पूर्ण न कर पाये थे। यदि हम उनके द्वारा अनूदित नाटको पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुवादो द्वारा वे हिन्दी जगत के सामने नाटको के विभिन्न प्रकार एव उनकी विभिन्न शैलियाँ रख रहे थे। रत्नावली, सस्कृत से अनूदित एक अपूर्ण नाटिका है जिसमे प्रेम चित्रित है। चन्द्रावली के रूप में उन्होंने रत्नावली को सामने रखकर एक प्रेम नाटिका ही प्रदान की। धनञ्जय विजय और कर्पूरमंजरी का अनुवाद इसीलिये किया कि व्यायोग तथा सट्टक के उदाहरण हिन्दी जगत के सन्मुख रख सकें। केवल नाटककार के रूप में सामने आना ही नाटक निर्माण का उद्देश्य न था वरन् वे एक सुधारवादी कलाकार थे। देश और हिन्दू समाज की ओर उनका ध्यान था। मौलिक राजनीतिक और सामाजिक नाटकों के निर्माण से

पूर्व उन्होने अनुवाद रूप मे ऐसे संस्कृत नाटको को अनुवाद रूप मे प्रस्तुत किया जिनमें राजनीतिक संकेत थे अथवा सामाजिक चित्र। संस्कृत साहित्य मे अकेला ऐसा नाटक मुद्राराक्षस ही है जो राजनीतिक रंग लिये है। अतः भारतेन्दु जी ने मुद्राराक्षस नाटक का अनुवाद किया। राजनीतिक छाया पर भारतेन्दुजी ने आगे भारत दुर्दशा तथा अंधेर नगरी की अनेक उक्तियो तथा घटनाओं को संजोया। प्रबोध चन्द्रोदय के तीसरे अंक का अनुवाद "पाखंड विडम्बन" रूप मे प्राप्त है। इसमे सामाजिक कपटाचरण की भर्त्सना अंकित है।

पश्चिमी नाट्य शैली का उदाहरण सामने रखने के लिये उन्होने मर्चेंट आफ़ वेनिस का अनुवाद "दुर्लभ बंधु" नाम से प्रारम्भ किया किन्तु इस कार्य को उन्होंने आगे नही बढ़ाया। फलतः यह अपूर्ण ही रह गया। यद्यपि दुर्लभ-बंधु शुद्ध पश्चिमी नाट्यशैली का नाटक है और भारतीय नाट्य शैली का किंचिन्मात्र सन्निवेश इसमें नही हुआ है, तब भी डा० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल ने न जाने क्यो यह लिख दिया कि इसमें पूर्वी एवं पश्चिमी नाट्य शैलियो का समन्वय है। शेक्सपियर के अनेक नाटको में से अनुवाद के लिये यह नाटक ही क्यो चुना गया ? इसके दो कारण हैं—(१) इसमे मित्रता का ऊँचा आदर्श चित्रित है। दुर्लभ बन्धु के आमुख में लिखित निम्न दो छन्द इसी की पुष्टि करते हैं—

(१) दुर्लभा गुणिनो सूराः दातारश्चातिदुर्ल्लभाः
मित्रार्थे त्यक्तसर्व्वस्वो बन्धुस्सर्वस्सुदुर्ल्लभा.

(२) खुदा मिले तो मिले आश्ना नही मिलता
किसी का कोई नही दोस्त सब कहानी है॥

(२) दूसरे इसमें त्रास को समेटे सुखान्त अवस्था प्राप्त होती है। शेक्सपियर का अन्य कोई नाटक इस प्रभाव को देने वाला नही है। अतः भारतेन्दु जी ने मर्चेंट आफ वेनिस का अनुवाद प्रारम्भ किया था।

अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा (१८८१)

वैदिकी हिंसा के पश्चात् भारतेन्दुजी का यह दूसरा प्रहसन है जो अत्यन्त

१—भारतेन्दु का नाट्य साहित्य—पृ० १६०

लोकप्रिय हुआ। १९०५ तक इसकी कई आवृत्तियाँ प्रकाशित हो गई थीं और स्थान-स्थान पर इसका अभिनय हुआ। कहा जाता है कि बिहार के एक राजा को सुधारने के लिये भारतेन्दुजी ने एक दिन में ही इसे रचा था। इसका अभिनय हुआ और कहा जाता है कि उस राजा पर इस नाटक का अभीष्ट प्रभाव पड़ा और वह सुधर गया। बाद में उसने भारतेन्दुजी के ग्रन्थों के प्रकाशन में सहायता भी की। भले ही इसके निर्माण में यह बिहार का राजा परोक्ष रूप में प्रस्तुत हो किन्तु इस प्रहसन के आमुख और समर्पण में अंकित संस्कृत तथा हिन्दी के छन्द यह स्पष्ट करते हैं कि भारतेन्दुजी की दृष्टि के सामने तत्कालीन भारत था और वे समस्त भारतवासियों के कुमार्ग गमन पर फब्तियाँ कसते हैं। संस्कृत हिन्दी छन्दों में वे कहते हैं—

छेदश्चन्दनचूतचम्पकवने रक्षा करीरद्रुमे
हिंसा हंसमयूरकोकिलकुले काकेषु लीलारतिः
मातङ्गेन खरक्रयः समतुला कर्पूरकार्पासयोः
एषा यत्र विचारणा गुणिगणे देशायतस्मैनमः

अर्थात् चन्दन, आम तथा चंपा के वन को काटकर करील वृक्ष की जो रक्षा करता है; हंस, मोर तथा कोयल को मारकर कौए की लीला में प्रेम रखता है; *हाथी देकर गदहा खरीदता है और कपूर तथा कपास को समान समझता है*। जहाँ के गुणी लोगों के ऐसे विचार हों उस देश को नमस्कार है।

समर्पण

मान्य योग्य नहिं होत कोऊ कोरो पद पाए।
मान्य योग्य नर ते, जे केवल परहित लाए॥
जे स्वारथ रत धूर्त हंस से काक-चरित-रत।
ते औरन हति बंचि प्रभुहि नित होहिं समुन्नत॥
जदपि लोक की रीति यही पै अन्त धर्म्म जय।
जौ नाहीं यह लोक तदपि छलियन अति जम भय॥
नर सरीर में रत्न वही जो परदुख साथी।
खात पियत अरु स्वसत स्वान मंडुक अरु भाथी॥
तासों अब लौं करी सो पै अब जागिय।
गो श्रुति भारत देस समुन्नति मैं नित लागिय॥
साच नाम निज करिय कपट तजि अन्त बनाइय।
नृप तारक हरि-पद भजि सांच बड़ाई पाइय॥
—ग्रन्थकार

आमुख और समर्पण की पंक्तियाँ उन भारतवासियों की ओर संकेत करती हैं जिनको वे प्रहसन में लक्ष्य बनाना चाहते हैं। यहाँ भी भारत दुर्दशा के समान

भारत की दुरवस्था के पीछे अंग्रेजी अमलदारी व्यंजित है। अंग्रेजी शासन व्यवस्था के स्तम्भ हाकिम थे जो भारतीय जनता पर टैक्स बढ़ाते जाते थे।[१] ये लोग रिश्वत देने वाले को ही ऊँचा उठाते थे। शासन की घोड़ी रिश्वत का चारा खाकर ही सवारी देती थी।[२] इस अमलदारी की गाड़ी पुलिस-लाइन पर से ही दौड़ती थी और पुलिस वाले न्याय करने में कानून को न देखकर सबलता, महत्ता और थैली की ओर देखते थे।[३] ये अफ़सर कपटी और स्वार्थी थे। बाहर से श्वेत वस्त्र पहिने थे किन्तु इनका हृदय श्याम था। इनके ही द्वारा शासन किया जाता था।[४] राजा तो विदेश में रहता था और ये हाकिम मनमानी कर रहे थे। इन्हें न भय था, और न थी लज्जा। सारा भारत इनके अन्याय शकट से पिस रहा था।[५] गो, ब्राह्मण और वेद का अपमान होता था क्योंकि राजा विधर्मी था। यदि हिन्दू होता तो कम-से-कम वेद, गाय, ब्राह्मण को आदर देता ही।[६] राज्यसभा में भी उसी को आदर प्राप्त था जो बाहर से बड़ा सभ्य दिखाई देता था परन्तु था बड़ा दंभी और कपटी।[७] अंग्रेजों ने भारतीयों की फूट का आधार पाकर इन अंग्रेजी और भारतीय हाकिमों की सहायता से सारे भारत को डकार लिया था।[८]

भारतेन्दुजी दुखी थे, हिन्दुओं की दुर्दशा से। ये हिन्दू अपने हानि-लाभ को न सोचकर अंग्रेजों की स्वार्थ पूर्ति में सहायक बने थे।[९] फलतः हिन्दुओं की भारी समृद्धि विलायत पहुँच रही थी। हिन्दुओं की अपनी सामाजिक व्यवस्था में घुन लग गया था। इनकी सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण को सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त था। वह गिर गया था और वह धन के बल पर किसी को किसी भी जाति के दल में खड़ा कर देता था। धन के लिये किसी भी प्रकार का झूठ बोल देता था और अपने धर्म एवं अपनी जाति को भी तिलांजलि दे देता था। इस तथ्य को अन्धेर नगरी का ब्राह्मण बाजार में जात बेचते हुए व्यंग्यात्मक रूप में प्रकाशित करता है—जात ले जात टके सेर जात। एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था कर दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके

१—चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते
२—चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रिशवत तुरत पचावैं।
३—चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते॥
४—भीतर स्वाहा बाहर सादे। राज करहिं अमले औ प्यादे॥
५—अंधाधुंध मच्यो सबदेसा। मानहु राजा रहत विदेशा।
६—गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई। मानहु नृपति विधर्मी कोई।
७—प्रगट सभ्य अन्तर छल धारी। सोई राजसभा बल भारी।
८—चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता।
९—हिन्दू चूरन इसका नाम। विलायत पूरन इसका काम।

के वास्ते हिन्दू से किस्तान। टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें। टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीच को भी पितामह बनावें। वेद-धर्म-कुल-मरजादा सचाई-बड़ाई सब टके सेर। लुटा दिया अनमोल माल। ले टके सेर। वैश्य जाति भी पीछे न थी। जो कोई इनके पास रुपया जमा कर जाता वह वापस न पाता था। ये महाजन उसका रुपया चुपके से डकार जाते थे।[1] ये व्यापारी या बनिये प्रबल के पीछे डंडा लिये फिरते थे अर्थात् उल्लू की सवारी पर रहे थे।[2] ये मिलावटी नकली सामान बेचने लगे थे।[3] ये आपस में ईर्ष्या और द्वेष रखते थे और एक-दूसरे को बुरा-भला कहते थे, आपस में छत्तीस के अंक के समान रहते थे।[4] इनकी ही क्या बात सभी भारतीयों में फूट और अलगाव दिखाई देता था। ऐक्य तो भारत को छोड़कर भाग गया था।[5] संन्यासी लोग भी खाने-पीने पर जान देते थे। बस, अच्छा खाने-पहनने को मिल जाय, फिर मुक्ति कहीं पड़ी रहे। लोभ ने संन्यासियों को बुरी तरह से घेर लिया था। गोवर्धनदास इसी के उदाहरण हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या अंग्रेजों के राज्य में ऐसा न्याय होता था जैसा कि पुस्तक में चित्रित है? हाँ, ऐसा होता था। अपराध किसी का होता था, दंड किसी को मिलता था। न्याय करने वाले बड़े पाजी थे। भारतेन्दुजी ने क्या अपराध किया था कि कुछ चापलूसों के कहने से शासन ने उनकी पत्रिका बंद कर दी, उनकी मजिस्ट्रेटी छीन ली और उनके पत्र का खरीदना बंद कर दिया था। इससे भी भयंकर उदाहरण मिलते हैं। तब भी प्रजा ऐसी भोली थी कि बड़ी प्रसन्न थी।[6] अंग्रेजी राज्य की बुराई भारत दुर्दशा में प्रतीकों के आधार पर चित्रित की गई है किन्तु एक कथा के माध्यम से भारत दुर्दशा में अंग्रेजों की बड़ाई भी चित्रित हुई है किन्तु अंधेर नगरी में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में निंदा ही निंदा है। जो लालची हिन्दू थे वे गोवरधनदास की तरह भौतिक विलास के जाल में फँस जाते थे। आरंभ में बड़े आराम से दिन

---

१. चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर जाते। (२)
   चूरन खाते लाला लोग। जिनको अकिल अजीरन रोग। (२)
२. हलवाई ले भूर का लड्डू। जो खाय सो भी पछताय /
   जो न खाय सो भी पछताय।
३. ऐसी जात हलवाई जिसके छत्तीस कौम हैं भाई।
४. ले हिन्दुस्थान का मेवा फूट और बैर।
५ जैसे काजी वैसे पाजी (क) रैयत राजी टके सेर भाजी (ख)
६. बच्चा गोवरधनदास, तू पश्चिम की ओर से जा (अंक १) पश्चिम क्या है, भौतिकवाद।

करते थे किन्तु अन्त में दुःख पाते थे। भारतीय नरेश भी इसी शैली पर चल रहे थे। आतशी शीशा सूर्य की धूप से भी अधिक दाहक होता है। गुलाम का गुलाम अधिक भयानक होता है। अंग्रेजों के हाथ में अपनी नकेल देकर उनके संकेतों पर घूमने वाले नरेश अंग्रेजों से अधिक आगे थे। अतः नाटककार ने एक पत्थर से दो पक्षी मारे हैं। कहानी में भारतीय राजा नायक बना है। किन्तु आरम्भ से अन्त तक संकेत है अंग्रेजों का। अतः अंधेर नगरी है अंग्रेजों का राज्य और चौपट्ट राजा है 'अंग्रेजी सरकार'—जो भारत को विलासी बनाकर चौपट कर रही है।

कथा

कथा इसकी सरल है। महंतजी के दो शिष्य हैं। एक लोभी गोवरधनदास और दूसरा नारायणदास। पहला वह हिन्दू है जो पश्चिमी द्वार से अंधेर नगरी में जाकर खाने-पीने में मस्त हो जाता है। नारायणदास वह हिन्दू है जो भारतीय परम्परा में रहकर संयम रखता है। गोवरधनदास अंधेर नगरी (अंग्रेजी राज्य) की भौतिकता के मोह में फँस जाता है। खाने-पीने की बड़ी सुविधा उसे मिली। टके सेर मिठाई और टके सेर भाजी बिक रही थी। खा-पीकर मोटा हो गया। वह भूल गया गुरु के वचन कि 'बेटा लोभ न करना और अंग्रेजी फंदे से बचना'। अंधेर नगरी में अपराध किसी ने किया किन्तु दंड किसी को मिला। कोतवाल को फाँसी मिलनी थी। सिपाही क्यों अपने कोतवाल को फाँसी देते? मोटा-ताजा गोवरधनदास पकड़ा गया। उसे फाँसी के तख्ते पर चढ़ना पड़ेगा। अब उसकी आँखें खुलीं। गुरु ने सहायता की। उसे बचा लिया। वकील ऐसे हथकंडे दिखाते थे कि फाँसी से भी अपराधी को बचा लेते थे। वकीलों का मस्तिष्क था गुरु के पास। उन्होंने ऐसा आकस्मिक दृष्टि-बिन्दु फेंका कि गोवरधनदास बच गया। इसकी कथा वैदिकी हिंसा से अधिक सुगठित है।

कथा में दो अस्वाभाविकताएँ प्रतीत होती हैं किन्तु हैं वास्तविकताएँ। ये हैं—(१) बकरी दीवार से मरी और फाँसी मिलती है कोतवाल को, और (२) राजा का स्वतः फाँसी के तख्ते पर चढ़ना। अंग्रेजी राज्य में पहली बात तो हो ही रही थी। दूसरी अस्वाभाविकता केवल कार्य की भावी आकांक्षा है कि अन्यायी राजा फाँसी पर चढ़ेगा अर्थात् अपदस्थ होगा यदि गुरु और नारायणदास जैसे संयमी पुरुषों से भौतिकवादी हिन्दू सहायता लेंगे। यह प्रहसन है और इन रूपों में प्रहसनात्मक परिस्थितियाँ उत्पन्न की गई हैं।

पात्र

इसमें गोवरधनदास जैसे विलासी का चरित्र खींचा गया है जो खा-पीकर मस्त रहना चाहता है। यही नायक है जो उद्धत कहा जा सकता है। वह

चाहता है काम न करूँ परन्तु खाने-पीने को खूब मिल जाय। महन्त और नारायणदास दो सहायक पात्र हैं। अधिनायक राजा के चरित्र पर भी खूब प्रकाश डाला गया है। वह विलासी है जो मद में डूबा रहता है। दंड देने को ही वह न्याय और प्रताप मानता है। पानवाहक सेवक को वह सौ कोड़े लगाने की आज्ञा देता है क्योंकि उसने उन्हें अर्द्ध-निद्रावस्था से उठा दिया। वह रानी से डरता भी है। तभी तो मोर खाने की मर्जी की बात वह रानी को बता देना चाहता है। ये गुण अंग्रेजी राज्य के प्रतीक हैं। वह मूर्ख भी है। मनपढ़ भारतीयों को ऑनरेरी मजिस्ट्रेट बनाया जाता था।

हास्य रस

प्रहसन के निर्माण में मनोरंजन उद्देश्य है। मनोरंजन में साथ-साथ नाटककार शिक्षा भी देता है। हास्य तीन प्रकार का होता है—शब्द हास्य, क्रिया हास्य और परिस्थिति हास्य। 'सुपनखा' शब्द को लेकर हास्य उपजाया गया है। पाँचवें अंक में मोटे गोवरधन का मच पर बैठकर मिठाई खाना क्रिया हास्य है। परिस्थिति हास्य का उदाहरण है—राजा का फाँसी पर चढ़ने को प्रस्तुत होना। व्यंग्य तो पूरे नाटक में भरा पड़ा है। भारतेन्दुजी में हास्य और व्यंग्य अधिक मात्रा में था जो उनके नाटकों में प्रतिबिंबित है। फिर प्रहसन में तो उसका होना अनिवार्य ही है।

भारतेन्दुजी अकेले नाटककार हैं जो हास्य-विनोद प्रसंग में पूर्ण शक्ति के साथ लगे थे। हिन्दी में हास्य रस की ओर कम ही ध्यान दिया गया है। नाटकीय क्षेत्र में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। भारतेन्दुजी प्रकृति से विनोदी वक्ता थे। अतः उन्होंने अपने नाटकों में हास्य-व्यंग्य को भरपूर स्थान प्रदान किया है। अलग से विदूषक की अवतारणा करके अथवा छद्मवेशी विदूषक को मच पर लाकर हास्य उत्पन्न करना उत्कृष्ट शैली नहीं है। भारतेन्दुजी नाटकीय पात्रों द्वारा ही व्यंग्य-विनोद का निर्झर प्रवाहित करते हैं और यही उनकी सफलता है। अन्धेर नगरी में पात्रों द्वारा हास्योत्पादन हुआ है।

शास्त्रीय विवेचन

साहित्य दर्पणानुसार प्रहसन भाण के समान एक अंक वाला सध्यंग सहित मुख तथा निर्वहण सधियों वाला एव दश लास्यांगों वाला होता है। इसकी कथा कवि-कल्पित होती है। इसका अंगी रस 'हास्य' प्रधान होता है। और भारती वृत्ति का प्रयोग किया जाता है। नाटककार चाहे तो वीथ्यंगों का प्रयोग करे, चाहे न करे। प्रहसन में आरभटी, प्रवेशक तथा विष्कभक को स्थान नहीं मिलता है। भारतेन्दुजी ने भी प्रहसन के लक्षण लिखे हैं। वे कहते है—'हास्य

रस का मुख्य खेल। नायक राजा या धनी या ब्राह्मण या धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति में इसमें एक ही अंक होना चाहिए किन्तु अब अनेक दृश्य दिये बिना नहीं लिखे जाते। उदाहरण—हास्यार्णव, वैदिकी हिंसा, अंधेर नगरी।[1]

प्रहसन दो प्रकार के होते हैं—शुद्ध तथा संकीर्ण। शुद्ध प्रहसन में भरत मुनि के नाट्यशास्त्रानुकूल किसी धनी व्यक्ति, तपस्वी, ब्राह्मणों एवं अन्यों की हँसी, धर्म-भ्रष्टता के लिये उड़ाई जाती है, कापुरुषों को अपनी भाषा, आचार तथा भावों के लिए उपहास का लक्ष्य बनाया जाता है। प्रहसन में एक निश्चित गति, कथा तथा विषय को अपनाया जाता है।[2] संकीर्ण में वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, वंधुरी की धूर्तता का चित्रण होता है। पात्रों की वेशभूषा और क्रियाओं द्वारा हास्योत्पादन कराया जाता है।[3]

भारतेन्दुजी के दोनों प्रहसन वैदिकी हिंसा तथा अंधेर नगरी 'शुद्ध' हैं। इनमें राजा, मंत्री, साधु और ब्राह्मणों का उपहास चित्रित है। अंधेर नगरी में छ अंक हैं जो छः दृश्य माने जायेंगे। नांदी रूप में महंतजी का दोनों शिष्यों के साथ भगवान का गुणगान वर्णित है। प्रहसन के अन्त में गुरुजी का कथन—

'जहाँ न धर्म, न बुद्धि नहिं नीति न सुजन समाज,
ते ऐसहि आपुहि नसें, जैसे चौपट राज'

उपसंहार जैसा है, भरत वाक्य नहीं।

भारतेन्दुजी ने 'वैदिकी हिंसा' को भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रहसनानुरूप लक्षणों से समन्वित बनाया है किन्तु 'अन्धेर नगरी' को भिन्नता प्रदान की। 'अन्धेर नगरी' में न प्रस्तावना है और न भरतवाक्य जो 'वैदिकी हिंसा' में हैं। 'अन्धेर नगरी' के छः अंकों में मुख एवं निर्वहण सन्धियों की स्थापना मानी जा सकती है। प्रथम तीन अंकों में मुख संधि है। बीज है महंत का दोनों शिष्यों के साथ नगर प्रवेश और आरंभ है गोवरधन का बाजार को देखकर उत्सुकता-पूर्वक आनन्द में नाचना एवं मिठाई क्रय करना।

संध्यंग

उपक्षेप[4]—बच्चा नारायणदास, यह नगर तो दूर से बड़ा सुन्दर दिखलाई पड़ता है। देख कुछ भिच्छा-उच्छा मिले तो ठाकुरजी को भोग लगे। और क्या ?

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ७१८
२. अभिनव भारती, १८-१०३-१०४
३. अभिनव भारती, १८-१०५।
४. उपक्षेप—बीज की स्थापना।

व्यंग्य-मुस्कान उपजती है। भाषा बड़ी सरल है। संवादों में चुस्ती, प्रवाह, व्यंग्य तथा सहजता है। प्रत्येक अंक के अन्त में निर्देश है कि यवनिका गिराई जाय जिसका अर्थ है नाटक का अभिनय पर्दों के सहारे सम्पन्न होगा। पर्दों के साथ ही रंगसज्जा के निर्देश कहीं दिये हैं, कहीं संवादों द्वारा सांकेतित हैं। दूसरे अंक में नारंगी वाला नारंगी लिए है तो हलवाई मिठाइयाँ सजाये है। नाटककार स्पष्टत लिखता भी है—हलवाई मिठाई तौलता है—बाबाजी मिठाई लेकर खाते हुए और अन्धेर नगरी गाते हुए जाते हैं—(यवनिका पतन) अभिनय संकेत भी यत्र-तत्र उल्लिखित हैं—चिल्लाकर, राजा का हाथ पकड़कर, एक सुराही में से शराब उड़ेलकर आदि। इसी से, नाटक का अभिनय बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ था।

सती प्रताप (१८८३)

यह भारतेन्दुजी का अन्तिम नाटक है जिसे वे पूर्ण न कर पाये। इस नाटक के पहले चार दृश्य ही वे लिख पाये थे। बाद में बाबू राधाकृष्णदासजी ने इसे पूर्ण किया। नाटक को पूर्ण करते हुए बाबू राधाकृष्णदासजी ने उपक्रम में लिखा है—"यह दृश्यरूपक स्वर्गीय भाई साहब बाबू हरिश्चन्द्रजी ने पूरा न किया था कि अपना जीवन पूरा कर हम लोगों को छोड़ परधाम चल बसे। यद्यपि इसके पूरा करने का साहस करना न केवल मूर्खता वरच बड़े दोष का भागी होना है। परन्तु दो विचारों ने इस दु साहस पर आरूढ़ कराया, एक तो यह कि इस सर्वहितकारी ग्रन्थ के अधूरा रह जाने से पूज्यपाद भाई साहब की अभिलाषा सिद्ध न होगी, दूसरे यह है कि यदि कुछ त्रुटि होगी तो मुझे उनका वात्सल्यभाजन जानकर पाठकगण अवश्य ही क्षमा करेंगे।

इस बात के प्रकाश करने की आवश्यकता नहीं है कि मेरा लिखा कहाँ से है क्योंकि लेख का भद्दापन आप ही प्रकाश कर देगा। मेरी इच्छा कदापि यह नहीं थी कि उसमें अपना नाम प्रकाश करूँ परन्तु मेरी अशुद्धि कदाचित भाई साहब की अकीर्ति का कारण हो इस विचार से यह प्रकाश किया गया।"[1]

"यदि इसकी लेख प्रणाली सज्जनों को रुचेगी तो और भी ग्रन्थों को पूरा करने का उद्योग करूँगा।" यह पुस्तक पूर्ति १८९२ में हुई।[2]

'सती प्रताप' पौराणिक नाटक है। भारतेन्दुजी ने इसे 'गीतिरूपक'

---

१. राधाकृष्ण ग्रन्थावली—स० डा० श्यामसुन्दरदास, प्र० स०, पृ० ७८६
२. वही।

कहा है क्योंकि इसमें गीतों की अधिकता है। कथा-प्रसंग कम है। चार दृश्यों में १६ गीत और ७ छन्द हैं। बाबू राधाकृष्णदासजी ने भी आगे इसी शैली को गतिवान रखा है। यह नवीन शैली का नाटक है अतः आरम्भ में तीन अप्सराओं के गीत हैं, प्राचीन परिपाटी का नांदी या मंगलाचरण नहीं। अप्सराएँ पतिव्रत धर्म का यशगान करती हैं जिसकी प्रतिष्ठा आगे की गई है। भारतेन्दुजी ने दो गीतिरूपक लिखे—नीलदेवी और सती प्रताप। दोनों में नायिका की प्रधानता है। पहला ऐतिहासिक गीतिरूपक है तो दूसरा पौराणिक। पहले में १० दृश्य हैं। सम्भवतः दूसरे में भी लगभग इतने ही दृश्य होते हैं किन्तु भारतेन्दुजी चार दृश्य ही लिख पाये। दोनों गीतिरूपकों में अप्सराएँ आकर प्रथम दृश्य में नायिकाओं के विशेष गुण की प्रशंसा करती हैं। नीलदेवी की अप्सराएँ वीरता और प्रेम की प्रशंसा करती हैं तो सती प्रताप में पतिव्रत धर्म की। नीलदेवी में वीररस प्रधान है। सती प्रताप में सम्भवतः भारतेन्दुजी सावित्री की वीरता, यम से लड़ने की दिखाते हैं। नीलदेवी में शृंगार रस नहीं के बराबर है किन्तु सती प्रताप में शृंगार रस है, आगे भी वह प्रस्फुटित होता। नीलदेवी नाटक दुखान्त है, सती प्रताप सुखान्त होता यद्यपि सत्य हरिश्चन्द्र की नाईं भारतेन्दुजी इसके करुण प्रसंग को बड़ा मार्मिक और अश्रुपूर्ण बनाते। चार दृश्यों के अपूर्ण नाटक के विषय में भाव और कला पक्ष की दृष्टियों से कुछ नहीं कहा जा सकता है। अवश्य ही यह एक प्रौढ़ गीतिरूपक बनता, ऐसी आशा होती है। इस गीतिरूपक में प्रकृति को प्रधानता मिलती जो अन्य किसी भी नाटक में नहीं है, यह प्रस्तुत चारों दृश्यों से प्रकट है। पहले दृश्य में तीसरी अप्सरा वन की मधुर छवि का मनहर वर्णन करती है—

नवल वन फूली द्रुमबेली
लहलह लहकहिं महमह महकहिं मधुर सुगन्धहि रेली।
प्रकृति नवोढ़ा सजे खरी मनु भूषन बसन बनाई।
आँचर उड़त वात वस फहरत प्रेम धुजा लहराई।
गूँजहि भँवर विहगम डोलहिं बोलहिं प्रकृति बधाई।
पुतली सी जिततित तितलीगन फिरहिं सुगन्ध लुभाई।
लहरहिं जल लहकहिं सरोजगन हिलहिं पात तरुडारी।
लखि रितुपति आगम सगरे जग मनहुँ कुलाहल भारी।

कोमलकान्त पदावलि ने माधुर्य गुण भरने में भरपूर सहायता दी है। ल, ह, म, र, अनुस्वार, न, म ने गति को मधुर बना दिया है। लहलह, महमह, जिततित इत्यादि शब्द एवं अनुप्रास वाले अक्षर गीत की मधुरता को द्विगुणित कर रहे हैं। सत्य हरिश्चन्द्र के गंगा-वर्णन और इस वन-वर्णन में बड़ा अन्तर है। यहाँ प्रकृति को नवोढ़ा नायिका बनाया गया है और उसका यथार्थ चित्र अंकित किया गया है। प्रकृति का आलम्बन रूप यहाँ प्रकट है। "लहरहिं जल

व्यंग्य-मुस्कान उपजती है। भाषा बड़ी सरल है। संवादों में चुस्ती, प्रवाह, व्यंग्य तथा सहजता है। प्रत्येक श्रंक के अन्त में निर्देश है कि यवनिका गिराई जाय जिसका अर्थ है नाटक का अभिनय पर्दों के सहारे सम्पन्न होगा। पर्दों के साथ ही रंगसज्जा के निर्देश कहीं दिये हैं, कहीं संवादों द्वारा सांकेतित हैं। दूसरे अंक में नारंगी वाला नारंगी लिए है तो हलवाई मिठाइयाँ सजाये है। नाटककार स्पष्टतः लिखता भी है—हलवाई मिठाई तौलता है—बाबाजी मिठाई लेकर खाते हुए और अन्धेर नगरी गाते हुए जाते हैं—(यवनिका पतन) अभिनय संकेत भी यत्र-तत्र उल्लिखित हैं—चिल्लाकर, राजा का हाथ पकड़कर, एक सुराही में से शराब उड़ेलकर आदि। इसी से, नाटक का अभिनय बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ था।

सती प्रताप (१८८३)

यह भारतेन्दुजी का अन्तिम नाटक है जिसे वे पूर्ण न कर पाये। इस नाटक के पहले चार दृश्य ही वे लिख पाये थे। बाद में बाबू राधाकृष्णदासजी ने इसे पूर्ण किया। नाटक को पूर्ण करते हुए बाबू राधाकृष्णदासजी ने उपक्रम में लिखा है—"यह दृश्यरूपक स्वर्गीय भाई साहब बाबू हरिश्चन्द्रजी ने पूरा न किया था कि अपना जीवन पूरा कर हम लोगों को छोड़ परधाम चल बसे। यद्यपि इसके पूरा करने का साहस करना न केवल मूर्खता वरंच बड़े दोष का भागी होना है। परन्तु दो विचारों ने इस दु:साहस पर आरूढ़ कराया, एक तो यह कि इस सर्वहितकारी ग्रन्थ के अधूरा रह जाने से पूज्यपाद भाई साहब की अभिलाषा सिद्ध न होगी, दूसरे यह है कि यदि कुछ त्रुटि होगी तो मुझे उनका वात्सल्यभाजन जानकर पाठकगण अवश्य ही क्षमा करेंगे।

इस बात के प्रकाश करने की आवश्यकता नहीं है कि मेरा लिखा कहाँ से है क्योंकि लेख का भद्दापन आप ही प्रकाश कर देगा। मेरी इच्छा कदापि यह नहीं थी कि उसमें अपना नाम प्रकाश करूँ परन्तु मेरी अशुद्धि कदाचित् भाई साहब की अकीर्ति का कारण हो इस विचार से यह प्रकाश किया गया।"[1]

"यदि इसकी लेख प्रणाली सज्जनों को रुचेगी तो और भी ग्रन्थों को पूरा करने का उद्योग करूँगा।" यह पुस्तक पूर्ति १८९२ में हुई।[2]

'सती प्रताप' पौराणिक नाटक है। भारतेन्दुजी ने इसे 'गीतिरूपक'

---

१. राधाकृष्ण ग्रन्थावली—सं० डा० श्यामसुन्दरदास, प्र० सं०, पृ० ७८६
२. वही।

कहा है क्योंकि इसमें गीतों की अधिकता है। कथा-अंश कम है। चार दृश्यों मे १६ गीत और ७ छन्द हैं। बाबू राधाकृष्णदासजी ने भी आगे इसी शैली को गतिवान रखा है। यह नवीन शैली का नाटक है अतः आरम्भ मे तीन अप्सराओं के गीत है, प्राचीन परिपाटी का नादी या मंगलाचरण नही। अप्सराएँ पतिव्रत धर्म का यशगान करती हैं जिसकी प्रतिष्ठा आगे की गई है। भारतेन्दुजी ने दो गीतिरूपक लिखे—नीलदेवी और सती प्रताप। दोनों में नायिका की प्रधानता है। पहला ऐतिहासिक गीतिरूपक है तो दूसरा पौराणिक। पहले में १० दृश्य हैं। सभवत. दूसरे में भी लगभग इतने ही दृश्य होते हैं किन्तु भारतेन्दुजी चार दृश्य ही लिख पाये। दोनों गीतिरूपकों मे अप्सराएँ आकर प्रथम दृश्य मे नायिकाओं के विशेष गुण की प्रशसा करती हैं। नीलदेवी की अप्सराएँ वीरता और प्रेम की प्रशसा करती हैं तो सती प्रताप मे पतिव्रत धर्म की। नीलदेवी मे वीररस प्रधान है। सती प्रताप में सम्भवत. भारतेन्दुजी सावित्री की वीरता, यम से लडने की दिखाते है। नीलदेवी मे शृंगार रस नही के बराबर है किन्तु सती प्रताप में शृंगार रस है, आगे भी वह प्रस्फुटित होता। नीलदेवी नाटक दुखान्त है, सती प्रताप सुखान्त होता यद्यपि सत्य हरिश्चन्द्र की नाईं भारतेन्दुजी इसके करुण प्रसग को बडा मार्मिक और अश्रुपूर्ण बनाते। चार दृश्यों के अपूर्ण नाटक के विषय में भाव और कला पक्ष की दृष्टियों से कुछ नही कहा जा सकता है। अवश्य ही यह एक प्रौढ गीतिरूपक बनता, ऐसी आशा होती है। इस गीतिरूपक में प्रकृति को प्रधानता मिलती जो अन्य किसी भी नाटक मे नहीं है, यह प्रस्तुत चारों दृश्यों से प्रकट है। पहले दृश्य मे तीसरी अप्सरा वन की मधुर छवि का मनहर वर्णन करती है—

> नवल वन फूली द्रुमबेली
> लहलह लहकहिं महमह महकहिं मधुर सुगन्धहि रेली।
> प्रकृति नवोढ़ा सजे खरी मनु भूषन बसन बनाई।
> आंचर उडत बात बस फहरत प्रेम धुजा लहराई।
> गूंजहि भँवर विहगम डोलहि बोलहि प्रकृति बधाई।
> पुतली सी जिततित तितलीगन फिरहिं सुगन्ध लुभाई।
> लहरहिं जल लहकहिं सरोजगन हिलहिं पात तरुडारी।
> लखि रितुपति आगम सगरे जग मनहुँ कुलाहल भारी।

कोमलकांत पदावलि ने माधुर्य गुण भरने मे भरपूर सहायता दी है। ल, ह, म, र, अनुस्वार, न, म ने गति को मधुर बना दिया है। लहलह, महमह, जिततित इत्यादि शब्द एव अनुप्रास वाले अक्षर गीत की मधुरता को द्विगुणित कर रहे है। सत्य हरिश्चन्द्र के गगा-वर्णन और इस वन-वर्णन मे वड़ा अन्तर है। यहाँ प्रकृति को नवोढा नायिका बनाया गया है और उसका यथार्थ चित्र अंकित किया गया है। प्रकृति का आलम्बन रूप यहाँ प्रकट है। "लहरहिं जल

लहकहिं सरोजगन" मे सश्लिष्ट चित्र है। उधर जल हिलता है तो कमल भी भूमते हैं। यह वसत का यथार्थ और स्वाभाविक चित्र है। वसन्त मे प्रकृति नवोढ़ा है तो तितलियाँ पुतली रूप मे उसके साथ घूमती हैं। ऐसा प्रकृति वर्णन अन्यत्र नही मिलता है।

प्रकृति वर्णन का यह शुभारम्भ आगे पल्लवित हुआ है। प्रकृति के आलंबन रूप का वर्णन तीन प्रकार से होता है : (१) गणनात्मक या सूची रूप मे (२) यथार्थ और (३) सश्लिष्ट। और ऊपर सश्लिष्ट और यथार्थ चित्र हमने देखा। गणनात्मक रूप का उदाहरण यह है—

> फूलन लागे राम-बन नवल गुलदवा।
> फूलन लागे राम—महुआ फले आम बौराने डारहिं डार।
> भँवरवा झूलन लागे राम।

माधुर्य गुण यहाँ भी उपस्थित है। 'महुआ आम' की गणना है किन्तु साथ ही डालो पर भौरो का झूलना एक सुन्दर यथार्थ चित्रण है। गगा-वर्णन मे अलकारो के घटाटोप के सामने निम्नलिखित अलकृत वर्णन कितना रम्य है जिसमे अन्योक्ति को अपनाया गया है—

> भौरा रे बौरान्यो लखि बौर।
> लुब्ध्यो उतहि फिरत मडरान्यौ जात कहूँ नहि और।
> भौरा रे बौरान्यो...।

यह सूर का भ्रमर नही है जो कली-कली पर बैठता है। यह तो वह भौरा है जो एक के चारो ओर मडराता है और कही नही जाता। पागल प्रेमी है।

एक ओर प्रकृति रूपी नवोढा है और दूसरी ओर से अन्य नवोढाएँ वहाँ आ जाती है। तब स्वर्ण-आभा मे मणि-कान्ति मिलकर आँखो को आकृष्ट करती हैं—

> पवन लगि डोलत बन की पतियाँ।
> मानहुँ पथिकन निकट बुलावहिं कहन प्रेम की बतियाँ।
> अलक हिलत पहरत तन सारी होत है सीतल छतियाँ।
> यह छबि लखि ऐसी जिय आवत इतहि बितैये रतियाँ।

वन की पत्ती सुन्दर नारी है। पथिको को वह अगुली-सकेत से बुलाती है। वह दूतिका है। उसके पास प्रेम 'पाती' है। उधर आती हैं अन्य नवोढ़ाएँ जिनके केश हिलते है और तन की साडी फहरती है।

प्रकृति का यह आलबन रूप गद्य मे भलीभाँति नही गुँथ पाया है।

मधु०—*अहा! यह कुज कैसा सुन्दर है! सखी देखो, माधवी लता इस कुंज पर कैसी घनघोर छाई हुई है।*

सावित्री—सहज वस्तुएँ सभी मनोहर होती हैं। देखो, इस पर फूल कैसे सुन्दर फूले है जैसे किसी ने देवना की मडली बनाई हो।

सुर०—और उधर से हवा कैसी ठंडी आती है।

लवंगी—और हवा मे सुगन्ध कैसी है ?

'कैसी, कैसा' ऐसे शब्द असमर्थता के द्योतक हैं। चन्द्रावली मे गद्यात्मक प्रकृति-वर्णन अधिक विशद और सुन्दर है। किन्तु जब हम इस गद्यात्मक वर्णन को सती सावित्री के पद्यात्मक प्रकृति-वर्णन के साथ बिठाकर निहारते है तो वह मिलकर भला लगता है।

ऊपर हमने देखा कि प्रकृति ने स्त्री-रूप लिया है किन्तु स्त्री भी प्रकृति का रूप धार सकती है। जब स्त्री प्रकृति का रूप धारण कर लेती है तो उसके रंग-रूप और आकार मे प्रकृति के दर्शन उपमान रूप मे साकार होते हैं। एक योगिन वियोगिन बनी बैठी है। उसमे कवि वसंत की कल्पना करके दो सुन्दर सांगरूपक तीसरे दृश्य मे देता है जिसमें वियोग की झलक मिलती है—

> नैन लाल कुसुम पलास से रहे है फूलि
> फूल माल गरे बन झालरि सी लाई है।
> भँवर गुंजार हरि नाम को उचार तिमि
> कोकिला सी कुहुकि वियोग राग गाई है।
> 'हरिचन्द' तजि पतझार घर-बार सबै
> बौरी बनि दौरी चारु पौन ऐसी धाई है।
> तेरे बिछुरे तें प्रान कंत के हिमन्त अन्त
> तेरी प्रेम जोगिनी वसन्त बनि आई है।
> पीरो तन पर्यो फूली सरसों सरस सोई
> मन मुरझान्यो पतझर मनो लाई है।
> सौरी स्वास त्रिविध समीर सी बहति सदा
> अँखियाँ बरसि मधुझरि सी लगाई है।
> 'हरिचन्द' फूले मन मैन के ससूसन सों
> ताही सो रसाल बाल बलि के बौराई है।
> तेरे बिछुरे तें प्रान कंत के हिमंत अन्त
> तेरी प्रेम जोगिनी वसत बनि आई है।

यदि नाटक सम्पूर्ण हो गया होता तो आगे के अन्य दृश्यों में भी भारतेन्दुजी अवश्य प्रकृति-वर्णन को स्थान देते, विशेषतया जब नायक सत्यवान वन में सावित्री के साथ वास करता है, मृत्यु से पूर्व लकड़ी काटने जाता है और जब वन-मार्गों से यमराज के साथ सावित्री जाती है। बाबू राधाकृष्णदास ने इस ओर ध्यान नही दिया। भारतेन्दुजी ने नाटकारम्भ में जो प्रकृति चित्रण की प्रवृत्ति दिखाई थी उस ओर बाबू राधाकृष्णदासजी ने दृष्टिपात नहीं किया और फलतः प्रकृति को आगे के दृश्यो मे बँटने नहीं दिया।

०००